॥ श्रीः ॥

हरिदास–संस्कृत–ग्रन्थमाला

१६५

प्रारम्भिक-उद्भिद्शास्त्र

लेखक

वनस्पति-विशेषज्ञ

श्री डा० बलवन्तसिंह एम० एस-सी०

प्रोफेसर—

आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

प्रकाशकः

जयकृष्णदास–हरिदास गुप्त,

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस

विद्याविलास प्रेस, बनारस ।

वि० सं० २००६] [सन् १९४९

प्रकाशक—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्त—
चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस
बनारस।

मूल्य ४॥)

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस
बनारस।

प्राक्कथन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत जब सन् १९२७ में आयुर्वेद कालेज की स्थापना हुई तभी से इस कालेज में हिन्दी को माध्यम बनाकर आधुनिक विज्ञान की शिक्षा दी जा रही है। उस समय उद्भिद् शास्त्र की कोई भी ऐसी पुस्तक हिन्दी में नहीं थी जो पाठ्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकृत की जा सक्ती थी। इसलिये विद्यार्थियों की सुविधा के विचार से क्लास में दिये जाने वाले नोट को ही हमें 'प्रारम्भिक वनस्पति शास्त्र' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करना पड़ा था। आयुर्वेद के विद्यार्थियों के अतिरिक्त इस पुस्तक की चाह अन्यत्र बहुत कम थी। इसलिये प्रथम आवृत्ति की ५०० प्रतियों के निकलने में कई वर्ष लग गये। परन्तु इनके समाप्त होते २ पुस्तक की माँग बढ़ी और पुस्तक की दूसरी आवृत्ति को पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्धन के साथ सचित्र रूप में प्रकाशित करने का विचार हुआ। पहली बार उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों की रचना हिन्दी में न हो पाई थी इस लिये उनमें अधिकांश अपने अन्ताराष्ट्रिय रूप में ही ज्यों के त्यों रख दिये गये थे और कुछ शब्दों का इधर उधर से संग्रह करके उपयोग किया गया था। इस बार श्री डा० रघुवीर के भगीरथ प्रयत्न से पारिभाषिक शब्दों की समस्या बहुत कुछ सुलझ चुकी थी और निज प्रयत्न से भी हम अनेक पारिभाषिक शब्दों की रचना में सफल हुये थे। इस लिये विषय एवं भाषा सम्बन्धी सामयिक और आमूल परिवर्तनों एवं परिवर्धनों के अतिरिक्त मूल पारिभाषिक शब्दों के स्थान में यथासम्भव उनके हिन्दी पर्यायों को भी देने का प्रयत्न किया गया। नाम में भी 'वनस्पति' के स्थान में 'उद्भिद्' [illegible] मझ कर इस बार पुस्तक का नाम 'प्रारम्भिक [illegible]

प्रारम्भिक उद्भिद्-शास्त्र [illegible] हुआ है उसे प्रारम्भिक वनस्पति शास्त्र का [illegible] एक सर्वथा नवीन रचना के रूप में स्वीकार करना अधिक उपयुक्त होगा।

हमें खेद है कि प्रारम्भिक उद्भिद्-शास्त्र को सचित्र रूप देने की हमारी इच्छा पूरी न हो सकी। चूंकि यह पुस्तक मुख्यतः आयुर्वेद विद्यालयों के पाठ्य क्रमों को ध्यान में रख कर लिखी गई है अतः इसमें चिकित्सोपयोगी पौधों एवं उनके अवयवों के ही चित्रों की अधिक आवश्यकता थी और ऐसे चित्र आज तक की प्रकाशित पुस्तकों में भी अधिक नहीं मिलते। महार्घता के वर्तमान समय में नवीन चित्रों की तैयारी में पर्याप्त समय एवं धन आदि की आवश्यकता थी और इधर दो तीन वर्षों से विद्यार्थियों के पास कोई पाठ्य ग्रन्थ न होने के कारण इतनी कठिनाई हो गई थी कि उसे दूर करने के लिये हमें चित्रों के बिना ही एक अन्तरीम संस्करण के रूप में इसे शीघ्र प्रकाशित करही देना पड़ा। उद्भिज्ज-शास्त्र जैसे विज्ञान की एक पाठ्य पुस्तक बिना चित्रों के हो यह निस्संदेह अक्षम्य स्थिति है परन्तु आशा है कि द्वितीय संस्करण में शीघ्र इस अपूर्णता को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

यद्यपि हिन्दी के उपयुक्त पारिभाषिक शब्दों में अधिक डा० रघुवीर कृत Elementary English-Indian Dictionary of Scientific Terms से लिये गये हैं तथापि पुस्तक में अनेक ऐसे पर्याय भी प्रयुक्त हैं जिनकी रचना निजी प्रयत्न से हुई है। उपर्युक्त-शब्द-कोष के प्रकाशित होने के पूर्व से ही हम स्वतंत्र रूप से इस शब्द रचना में सचेष्ट रहे और कई सौ शब्दों की रचना में सफल भी हुये थे। प्रस्तुत पुस्तक में इस शब्दावली के कुछ शब्दों का प्रयोग वैकल्पिक रूप में और कुछ का स्वतंत्र रूप में हुआ है।

कुछ शब्द आचार्य यादव जी त्रिकम जी कृत 'द्रव्य-गुण-शास्त्र' से लिये गये हैं जो प्राचीन संस्कृत साहित्य के शब्द हैं और अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

यद्यपि श्री डा० रघुवीर के महान प्रयत्न से अब पारिभाषिक शब्दों की समस्या बहुत अंशों में सुलझ गई है परन्तु खेद है कि सुयोग्य विद्वान अब भी पाठ्य पुस्तकों के लेखन-कार्य में अग्रसर नहीं होते दिखाई दे रहे हैं। इसका एक कारण यह भी है कि प्रायः हमें अपनी मातृभाषा

का भी पर्याप्त ज्ञान एवं अभ्यास नहीं है जिससे इस दिशा में हमारी उदासीनता शैथिल्य एवं अरुचि दिखाई दे रही है। इस पुस्तक को लिखते समय हमारे सामने अनेक ऐसे स्थल आते थे जहाँ किसी वैज्ञानिक तथ्य को हिन्दी में व्यक्त करना बहुत कठिन प्रतीत होता था और ऐसे स्थलों पर भी पारिभाषिक शब्दों की ही तरह नवीन अप्रचलित शब्दों की रचना करनी पड़ती थी। इसी प्रकार के शब्दों के आ जाने से पुस्तक की भाषा कहीं २ कठिन सी प्रतीत होती है। परन्तु हमारा विश्वास है कि हिन्दी और संस्कृत भाषाओं का हमारा ज्ञान ज्यों २ बढ़ेगा ऐसी कठिनाइयाँ भविष्य में कम होती जाँयगी। इस पुस्तक के लिखने में हमें जो अनुभव हुआ है उसके आधार पर हम मुक्तकंठ से यह कह सक्ते हैं कि संस्कृत भाषा की शब्द-निर्माण की शैली को अपनाकर हम अपनी हिन्दी भाषा को अंग्रेजी की ही भाँति समुन्नत और विज्ञान की भाषा बना सक्ते हैं। भाषा का पर्याप्त ज्ञान एवं अभ्यास न होने के कारण प्रस्तुत पुस्तक में अनेक भाषा सम्बन्धी दोष आगये हैं। ये अक्षम्य और क्षोभकारक भी हों तब भी यदि इनसे सुयोग्य विद्वानों को निर्दोष भाषा में पुस्तकें उपस्थित करने की कुछ भी प्रेरणा मिली तो हमारा असफल प्रयत्न भी सफल ही समझा जायगा।

विषय-क्षेत्र का मुख्य परिवर्धन क्रमिक औद्भिदी खण्ड में किया गया है। प्रारम्भिक वनस्पति-शास्त्र में केवल सोलह कुलों का वर्णन दिया गया था परन्तु इस बार कुल एकतीस कुलों का वर्णन किया गया है। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र में जिन औद्भिद् द्रव्यों का प्रयोग आया है वे अधिकतर आधुनिक वर्गीकरण के चालीस कुलों में मिलते हैं। इन सभी कुलों का वर्णन आवश्यक था परन्तु शीघ्रता के कारण कुछ उपयोगी कुल इस बार भी छूट गये हैं। आशा है कि अगले संस्करण में इनका समावेश भी हो जायगा।

हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों की अनुक्रमणिका, उनके परिभाषा-स्थल और अन्ताराष्ट्रिय पर्यायों के साथ पुस्तक के अन्त में दी गई है

और इनके अतिरिक्त पुस्तक में पौधों के जो संस्कृत के एवं लोकप्रचलित नाम आये हैं उनके वैज्ञानिक और यथा सम्भव उनके प्रचलित अंग्रेजी नाम भी अकारादि क्रमसे दे दिये गये हैं। इसकी विशेष आवश्यकता इस लिये हुई कि कितने संस्कृत एवं भाषा के नाम अज्ञान एवं भ्रम के कारण एकार्थ वाचक नहीं होते इसलिये पुस्तक में अभीष्ट उद्भिज्ज-जातियों की एकार्थ वाचक वैज्ञानिक संज्ञाओं का देना आवश्यक प्रतीत हुआ।

अन्त में हमें उन महानुभावों को धन्यवाद देना है जिनकी प्रेरणा एवं सहायतासे इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका है। सर्वप्रथम हम श्रद्धेय वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य के आभारी हैं जो हमें इस प्रकाशन के लिये निरन्तर प्रेरित करते रहे और उद्भिज्ज-शास्त्र के कई उपमान ग्रन्थो की हमें सहायता की। निज प्रयत्न से सम्पन्न कुछ पारिभाषिक शब्दों की रचना का उल्लेख ऊपर किया गया है। इस शब्द-रचना का मुख्य श्रेय हमारे मित्र आचार्य बद्रीनाथजी शुक्ल (प्रोफेसर ओरियण्टल कालेज-काशीविश्वविद्यालय) को है जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर एक छोटे से शब्द-कोष की ही रचना कर डाली जिसके कुछ शब्दों का प्रयोग वैकल्पिक अथवा स्वतंत्र रूप में इस पुस्तक में दिया गया है। जिस प्रेम और उत्साह के साथ आचार्य शुक्लजी ने हमें अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया उसके लिये हम उनके सर्वदा कृतज्ञ रहेंगे।

विजया दशमी
वि० सं० २००६

—बलवन्त सिंह

॥ श्रीः ॥

प्रारम्भिक उद्भिद्-शास्त्र

प्रस्तावना—

यह भौतिक संसार सजीव और निर्जीव दो प्रकार के पदार्थों से बना है। जीव-सृष्टि का क्रमवद्ध और श्रेणीवद्ध अध्ययन जिस विज्ञान का विषय है उसे **जीव-विज्ञान** (Biology) कहते हैं। जीव-सृष्टि में उद्भिदों और प्राणिओं की दो पृथक् शाखायें हैं जिनके पृथक् २ अध्ययन के लिये **उद्भिद्-शास्त्र** (Botany) और **प्राणि-शास्त्र** (Zoology) दो पृथक शास्त्रों का निर्माण हुआ है।

सजीव और निर्जीव पदार्थों में भेद—

सजीव पदार्थों को **साशन, सेन्द्रिय** अथवा **चेतन** और निर्जीव पदार्थों को **अनशन, निरिन्द्रिय** अथवा **अचेतन** भी कहा गया है। दोनों वर्गों के पदार्थों का पार्थक्य उनकी इन संज्ञाओं से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है फिर भी उनके विभेदक लक्षणों को निरपेक्ष रूप से व्यक्त करना कठिन है जब तक स्वयं जीवन के प्रकेवल लक्षण न मालूम कर लिये जाँय। वैज्ञानिकों को जीवन के रहस्य का जहाँ तक ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके अनुसार जीवन के कुछ सामान्य लक्षण वतलाये गये हैं जो नीचे दिये हुये हैं। इन्हीं लक्षणों की सहायता से सजीव पदार्थ निर्जीवों से अलग भी किये जा सकते हैं।

(१) **प्ररस** (Protoplasm) :—जीवन का एक मात्र भौतिक आधार वह वस्तु है जिसे प्ररस कहते हैं। जहाँ जीवन है वहाँ प्ररस का होना अनिवार्य है। प्ररस के विभिन्न व्यापारों से ही सामान्यतः जीवन की अभिव्यक्ति होती है। अतः सजीवों के जिन अन्य विभेदक लक्षणों की चर्चा नीचे की गई है उनमें अधिकांश प्ररस के ही विभिन्न व्यापार हैं।

(२) **श्वसन** (Respiration):—सजीवों की यह एक क्रिया है

जिससे सामान्यतः सजीवता की पहचान की जाती है। जन्तु हों अथवा उद्भिज्ज, सभी हर समय सांस लिया करते हैं जिसमें वे साधारणतः बाहर से जारक (Oxygen) लेते हैं और भीतर से प्रांगार-द्विजारेय (Carbon-di-oxide) निकाला करते हैं। इस क्रिया में प्ररस जारक की सहायता से कुछ शरीरगत पदार्थों का जारण एवं विश्लेषण करके अपने कार्यों के लिये ऊर्जा (Energy) उसी तरह प्राप्त करता है जिस तरह इञ्जिन को कोयला-पानी से शक्ति मिलती है। निर्जीव इञ्जिन और प्ररस में अन्तर यह है कि एक को संचालक की आवश्यकता पड़ती है और दूसरा आत्म-संचालक होता है।

(३) रसायनिक परिवर्तनशीलता:— प्ररस में निरंतर रसायनिक परिवर्तन हुआ करता है। यह बाहर से आये हुये निम्न श्रेणी के पदार्थों को लेकर उच्च श्रेणी के पदार्थों का निर्माण एवं अपनी भी मात्रा में वृद्धि करता रहता है और दूसरी ओर अपना तथा इन उच्च श्रेणी के पदार्थों का विश्लेषण किया करता है। इन चयात्मक (Anabolic) और अपचयात्मक (Katabolic) परिवर्तनों से शरीर का पोषण और शोषण साथ २ होता रहता है। इसके विपरीत निर्जीव पदार्थों का रसायनिक संघटन अनिश्चित काल तक अपरिवर्तित बना रह सकता है।

(३) पोषण और वृद्धि (Nutrition & Growth) :—ऊर्जा प्राप्त करने के लिये शरीतगत कुछ द्रव्यों का विश्लेषण होकर जब शरीर का ह्रास होता है तो उसकी पूर्त्ति के लिये प्रत्येक जीवधारी को भोजन की आवश्यकता होती है। भोजन के सात्म्यीकरण से शरीर की धातुओं की वृद्धि होती है और शरीर बढ़ता है। स्फट (Crystal) जैसे कुछ निर्जीव पदार्थ भी वर्धनशील होते हैं परन्तु दोनों के वर्धनक्रम में अन्तर होता है। स्फट की वृद्धि यदि होती है तो जिस द्रव्य का स्फट होता है उसके ही कण बाहर से आकर उस पर क्रमशः एकत्र हो जाते हैं। इसके विपरीत सजीवों की वृद्धि भीतर से होती है। बाहर से आये हुये पदार्थों का सात्म्यीकरण होता है और शरीर बढ़ता हुआ मालूम होता है।

(४) संज्ञान (Irritability):—बाहर की उद्दीपक अवस्थाओं का प्रतिकार करने का स्वभाव केवल सजीवों में होता है। उनके इस प्रतिकारी गुण को संज्ञान कहते हैं। इसी के कारण कोई प्राणी अग्नि से बचने के लिये

उससे दूर भागता है और अंधेरे में रखे हुये उद्भिज्ज को यदि किसी एक छिद्र से प्रकाश पहुंचाया जाय तो उसकी वृद्धि प्रकाश की दिशा में होने लगती है। निर्जीव पदार्थ ऐसी अवस्थाओं में निष्क्रिय बने रहते हैं। इसी शक्ति के कारण सजीवों की शारीरिक रचना अपनी २ परिस्थिति के अनुकूल होती है।

(५) **प्रजनन** (Reproduction) :—सजीव पदार्थ अपनी प्रजनन-शक्ति से अपने समान अन्य शरीरधारी उत्पन्न कर सकता है परन्तु निर्जीव ऐसा नहीं कर सकते।

(६) **जीवनचक्र** (Life cycle) :—प्रत्येक जीवधारी का एक निश्चित जीवन-चक्र होता है जिसमें जन्म, निरंतर शारीरिक वृद्धि से बाल्य और युवावस्था का आगमन और सन्तानोत्पत्ति, फिर शरीर के ह्रास से वृद्धावस्था का आगमन और अन्त में मरण की घटनायें मुख्य होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवधारी परिवर्तनशील साम्यावस्था का एक ऐसा विचित्र नमूना है जो सामयिक परिवर्तनों से होता हुआ अवस्थाविशेष के स्वकीय आकार तथा परिमाण की मर्यादा को बनाये रखता है। ये बातें निर्जीवों में कहाँ होती हैं?

प्राणी और उद्भिज्ज—

जीवन के जितने लक्षण ऊपर बतलाये गये हैं वे प्राणिओं और उद्भिज्जों में समान रूप से मिलते हैं। इन समानताओं के अतिरिक्त इनकी शरीर-रचना में एक मौलिक सादृश्य यह होता है कि वह कोशमय (Cellular) होती है। औद्भिद और जान्तव (१) प्ररस की एकरूपता (२) समान शारीरिक व्यापार और समान व्यापक नियमों के अनुकूल उनका होना तथा (३) कोशीय शरीर-रचना ये सभी बातें उद्भिज्जों और प्राणिओं के वंशोद्भव की एकता सिद्ध करती हैं। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार भी दोनों के आदिपूर्वज एकही प्रकार के एककोश जीव माने जाते हैं। विकासवादिओं का कहना है कि इन आदिपूर्वजों की संतानों को जैसी२भिन्न परिस्थितिओं में रहना पड़ा वैसे ही शारीरिक परिवर्तन उनमें आने लगे। ऐ परिवर्तन दो भिन्न२दिशाओं में होते गये। एक दिशा में होने वाले परिवर्तनों से उद्भिज्ज-सृष्टि और दूसरी दिशा में होने वाले परिवर्तनों से जन्तु-सृष्टि का विकास होता गया। आज भी अनेक ऐसे आण्वीक्ष (Microscopic) जीव मिलते हैं जिनको यह कहना कि वे

जन्तु हैं अथवा उद्भिज्ज बहुत कठिन होता है। परन्तु जीव-सृष्टि का क्रम ज्यों २ आगे चलता गया है त्यों २ नवसृष्ट जातियों में विभेदक लक्षणों का भी विकास होता गया है। इन्हीं लक्षणों की सहायता से हम उन्हें श्रेणी-बद्ध करने में समर्थ होते हैं।

विभेदक लक्षण:—(१) उद्भिज्ज-कोशा में **कोशाधु** (Cellulose) या भित्तिक नामक रसायनिक पदार्थ से बनी हुई एक दृढ़ भित्ति होती है परन्तु प्राणि-कोशा में कोशाधु का अथवा अन्य किसी प्रकार का दृढ़ आवरण नहीं होता। कवक श्रेणी (Fungus) के उद्भिज्जों की कोशा-भित्ति में भी शुद्ध कोशाधु नहीं होता।

(२) उद्भिज्जों में अथवा उनकी नवीन टहनियों और पत्तियों में पर्ण-शाद (Chlorophyll) नामक पदार्थ होता है जिसके कारण वे हरे रंग के होते हैं। जन्तुओं में यह पदार्थ नहीं होता। जैसे छत्रा श्रेणी के उद्भिज्जों में तथा अमरवेल जैसे कुछ परजीवी पौधों में शाद नहीं होता, उसी तरह छिद्रिष्ट (sponge) और जलीयक (Hydra) प्रजाति की प्राणियों में पर्ण-शाद सदृश एक हरा पदार्थ पाया जाता है।

(३) उद्भिज्जों के काण्ड और मूल केवल अग्र-वृद्धि से लम्बाई में बढ़ते हैं। मोटाई बढ़ाने के लिये उनके भीतर के कुछ वर्धनशील भागों में समय २ पर वृद्धि होती है। जन्तु मोटाई और लम्बाई दोनों में सर्वांग-वृद्धि से बढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त उद्भिज्ज-शरीर की वृद्धि जीवनपर्यन्त हुआ करती है परन्तु जन्तुओं में वह स्वाभाविक मृत्यु के बहुत पहले बन्द हो जाती है।

(४) उद्भिज्ज न्यूनाधिक निष्क्रिय से मालूम पड़ते हैं और जन्तु उनसे अत्यधिक क्रिया-शील होते हैं। छिद्रिष्ट तथा जलीयकादि कुछ प्रजातियों को छोड़कर सब जन्तुओं का प्रचलन-शक्ति से सम्पन्न होना और उद्भिज्जों का इस शक्ति से वंचित रहना उनकी क्रियाशीलता और निष्क्रियता का एक प्रधान चिन्ह है। इसी से प्राचीनों ने एक को **स्थावर** दूसरे को **जंगम** बतलाया है। इसके अतिरिक्त उद्भिज्जों में उन क्रियाओं की प्रधानता होती है जिनके द्वारा वे सूर्य प्रकाश की गतिक-ऊर्जा (Kinetic energy) का स्थिरीकरण और उच्च श्रेणी के पदार्थों में उसका संचय करते हैं। जन्तु उद्भिज्जों से इन शक्ति-संचयों को भोज्य पदार्थों के रूप में प्राप्त करके और उनका जारण एवं विश्लेषण करके

स्थितिक-ऊर्जा (Potential enrgy) को फिर गतिक ऊर्जा में बदल देते हैं और इसी से अपनी क्रियाशीलता बनाये रखते हैं।

(५) पौधे अपने लिये खाद्य-पदार्थ प्रायः स्वयं बना लेते हैं। वे पृथ्वी से सामान्य खनिज पदार्थ और जल तथा वायुमंडल से प्रांगार-द्वि-जारेय लेते हैं और पर्ण-शाद तथा सूर्य-प्रकाश की सहायता से अपना भोजन बना लेते हैं। यही भोजन जन्तुओं का भी होता है परन्तु इसे वे उपर्युक्त सामान्य पदार्थों से तैयार नहीं कर सकते। इसलिये उन्हें अन्य जन्तुओं तथा उद्भिदों पर निर्भर रहना पड़ता है।

(६) पौधों को बाहर से जो भोजन मिलता है वह तरल रूप में शोषित होकर उनके शरीर में प्रवेश करता है। जन्तु प्रायः सान्द्र (Solid) रूप में अपना भोजन ग्रहण करते हैं। कीटभुज पौधे तथा कुछ परोपजीवी जन्तु इस नियम के अपवाद हैं।

उद्भिद्-शास्त्र तथा इसकी उपयोगिता—

प्रत्येक विज्ञान के (१) शुद्ध और (२) व्यावहारिक दो पक्ष होते हैं। शुद्ध विज्ञान का अध्ययन केवल ज्ञान के लिये किया जाता है। इसका ध्येय नई घटनाओं तथा अज्ञात बातों की खोज करना है, चाहे मानव जीवन में उनकी उपयोगिता कुछ भी न हो। इसके विपरीत, व्यावहारिक विज्ञान में केवल उन घटनाओं तथा उस वैज्ञानिक सत्य का समावेश होता है जो मानव जीवन को सुखमय बनाने में भाग लेते हैं। इसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य के सुखसाधनों को बढ़ाना और उनको उत्तरोत्तर पूर्ण बनाना होता है। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि वर्तमान व्यावहारिक विज्ञानों की उन्नति वस्तुतः शुद्ध विज्ञानों की वृद्धि से ही हुई है।

उद्भिद्-शास्त्र का व्यावहारिक पक्ष प्राणी-मात्र के लिये बहुत ही आवश्यक है। हमारे खाद्य-पदार्थ पौधों से ही प्राप्त होते हैं। वर्तमान सभ्यता के कितने आवश्यक उपकरण उद्भिज्ज-सृष्टि से ही प्राप्त होते हैं। कोयला, कागज़, कपड़ा, काष्ठ, नाना प्रकार के तैल, रबर, निर्यास तथा चिकित्सोपयोगी काष्ठौषधियाँ पौधों से ही मिलती हैं। इसीलिये व्यावहारिक उद्भिज्ज-शास्त्र का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। जीवनोपयोगी वस्तुओं की अधिक से अधिक उपज

की जा सके, उपयोगी सत्वों की मात्रा बढ़ाई जा सके, उनके गुणों में भी अभिवृद्धि हो—इन सभी अभिप्रायों से यह शास्त्र आज दिन कृषि-विज्ञान, उद्यान-विद्या, वन-विज्ञान, उद्भिद्रोग-विज्ञान तथा जनन-विद्या आदि अनेक व्यावहारिक विज्ञानों को जन्म दे चुका है।

एक चिकित्सक के लिये भी विशेषतः आयुर्वेदीय चिकित्सा में इस शास्त्र का ज्ञान परमावश्यक है। आयुर्वेद में काष्ठौषधिओं की ही प्रधानता है। चिकित्सोपयोगी पौधों का वैज्ञानिक अध्ययन न होने के कारण आज हमारे पास कोई साहित्य नहीं है जिसकी सहायता से हम प्राचीनों की बतलाई हुई वनौषधिओं को ठीक पहचान सकें। इसका यह भयंकर परिणाम हुआ है कि कितनी ही अमूल्य औषधियों को हम खो बैठे हैं और जो अभी हमें मालूम भी हैं उन्हें हम स्वयं पहचान नहीं सकते। लोभी और अनभिज्ञ व्यापारिओं पर ही पूर्ण रूप से निर्भर रह कर हम उन्हें मनमानी करने का अवसर देते हैं। इसका फल यह हुआ है कि एक के स्थान में अनेक अनुपयोगी द्रव्यों का प्रचार हो गया है और ज्ञात द्रव्य भी अज्ञात होते जा रहे हैं। जब तक उद्भिद्-शास्त्र की सहायता से हमें वनौषधियों का सम्यक् स्वरूपज्ञान नहीं होगा तब तक यह निरंतर बिगड़ती हुई अवस्था रोकी नहीं जा सकती। इतना ही नहीं, आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों का उपयोग करके हम काष्ठौषधिओं की कृत्रिम उपज तथा उनके उपयोगी सत्वों की मात्रा तथा गुणों की अभिवृद्धि भी करने की चेष्टा कर सकते हैं।

उद्भिद्-शास्त्र के विभाग—

पौधों का शुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन भिन्न २ दृष्टिकोणों से किया गया है और इसी लिये इस विज्ञान के निम्नांकित कई विभाग हो गये हैं :—

(१) **रचनाकारिकी** (Morphology) :—इसमें पौधों के आकार तथा रचना का अध्ययन किया जाता है। बाह्य आकृति तथा बाह्य अंगों का क्रम बाह्य रचनाकारिकी (External morphology) का विषय है। अन्तराकृति, ऊति-विन्यास (arrangement of tissues) ऊति तथा कोशा-रचना आभ्यन्तर रचना-कारिकी के विषय हैं जिसे **औतिकी** (Histology) अथवा **शारीर** (Anatomy) भी कहते हैं। कोशा-रचना का बहुत विस्तृत अध्ययन हो जाने से **कौशिकी** (Cytology) नामक एक स्वतंत्र उपविभाग

का पर्याप्त विकास भी आजकल हो गया है। शारीरिक विकास (Development) को, जिसमें पूरे जीवन-चक्र में उत्पन्न होने वाले नवीन अंग-प्रत्यंगों की उत्पत्ति और वृद्धि का शृंखलाबद्ध इतिहास रहता है, रचनाकारिकी का ही एक उपविभाग कहना चाहिये।

(२) **देहव्यापारिकी** (Physiology) :—उद्भिज-शास्त्र का यह दूसरा प्रधान विभाग है जिसमें उद्भिज्जों के विभिन्न शारीरिक व्यापारों का अध्ययन होता है। पोषण, वृद्धि, श्वसन, मलत्याग आदि जीवन-रक्षा के लिये और पुनरुत्पादन सम्बन्धी व्यापार वंशपरम्परा को कायम रखने के लिये होते हैं। इन सब का अध्ययन देहव्यापारिकी का विषय है। विभिन्न शारीरिक व्यापारों में विभिन्न प्रकार की जो भौतिक और रासायनिक क्रियायें होती हैं उन्हें स्पष्ट कर देना इस विभाग का उद्देश्य होता है।

(३) **वर्गीकरण** (Taxonomy) :—विभिन्न पौधों की रचनाकारिकी और शारीरिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें उनके अन्दर जो समानतायें और विषमतायें देखने में आती हैं उनके आधार पर हम उन्हें विभिन्न वर्गों, प्रजातिओं तथा जातिओं में विभक्त करते हैं और सम्पूर्ण उद्भिज-सृष्टि को एक वंशवृक्ष में समाविष्ट कर लेते हैं। इस वृक्ष में प्रत्येक जाति का एक निश्चित स्थान होता है। प्रत्येक उद्भिज की शारीरिक रचना और विकास का परिचय प्राप्त करके उसकी जाति, प्रजाति तथा कुल आदि का निर्णय होता है और फिर उसका वैज्ञानिक नामकरण होता है।

(४) **पारिस्थिकी** (Ecology) :—जिस परिस्थिति में जो उद्भिज होता है उसका उस उद्भिज के शरीर और जीवन-व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका अध्ययन इस विभाग का विषय है। जल, ताप, प्रकाश तथा मिट्टी आदि परिस्थिति के मुख्य घटक हैं जिनका प्रभाव पौधों की शारीरिक रचना तथा व्यापारों पर साथ २ पड़ता है। रचनाकारिकी और देह-व्यापारिकी यद्यपि दो स्वतंत्र विभाग हैं परन्तु दोनों पर परिस्थिति का समान नियन्त्रण रहता है। इसलिये इन दोनों विभागों में जो पारस्परिक सम्बन्ध होता है उसका अध्ययन ही पारिस्थिकी का विषय होता है।

उद्भिज्ज-सृष्टि के विभाग—

आकृतिक समानता तथा जातियों के विकासस्तर के आधार पर उद्भिज-सृष्टि के निम्नलिखित मुख्य २ विभाग किये गये हैं :—

(१) सूत्रोद्भिद् अथवा **अविविक्तांग** (Thallophyta) :—जिसमें सबसे क्षुद्र कोटि के उद्भिज होते हैं और जिनके शरीर में काण्ड, पत्र तथा मूल जैसे अंगों की उत्पत्ति नहीं होती। इनको भी निम्न लिखित-दो उपविभागों में बाँटा गया है :—

(क) **आप्यक** (Algae) :—ये एककोश अथवा बहुकोश जलीय उद्भिज होते हैं और इनके शरीर में शाद (Chlorophyll) नामक हरा पदार्थ रहता है। जलाशयों की लेदार और काई इसी उपविभाग की उद्भिज्जों से बनती है।

(ख) **कवक** (Fungi) :—ये भी एककोश अथवा बहुकोश होते हैं परन्तु इनमें शाद नहीं होता। इसीलिये ये हरे पौधों की तरह स्वतंत्र जीवन नहीं बिता सकते। इनमें कुछ परजीवी (Parasites) होते हैं जैसे धान्यरुक् (Ergot) और कुछ कदर्योपजीवी (Saprophytes) जैसे छत्रा।

(२) अमूलकव्यक्तांग (Bryophyta) :—इनमें काण्ड और पत्र होते हैं परन्तु वास्तविक मूल नहीं होते। मूल सदृश कुछ अवयव होते हैं जो मूल का कार्य करते हैं। ये पौधे नमज़मीन, भीगी पुरानी दीवाल और वृक्ष की छाल के ऊपर प्रायः समूहबद्ध होकर उगते हैं और हरा फर्श सा बन जाता है।

(३) पूर्णोपचितांग (Pteridophyta):- इस विभाग के उद्भिज्जों में तीनों अंगों और वाहिनी-संहति (Vascular system) का पूर्ण विकास होता है परन्तु पुष्प तथा बीज नहीं होते। पर्णांग उद्भिज (Ferns) इसी समुदाय के होते हैं। हंसराज, सुनिषण्णक (चौपतिया) तथा हत्थाजोड़ी इसी विभाग के अन्तर्गत हैं।

(४) बीजोद्भिद् (Spermaphyta):-इस समुदाय में विकास की दृष्टि से सर्वोच्च कोटि के उद्भिज होते हैं और इनकी वंशपरम्परा प्रायः पुष्प और बीज से चलती है। इस समुदाय को **सपुष्पोद्भिद्** (Phanerogams) और प्रथम तीन समुदायों को **अपुष्पोद्भिद्** (Cryptogams) अथवा **अबी-**

जोद्भिद् भी कहते हैं। सपुष्प उद्भिजों में भी निम्नलिखित उपविभाग हैं:--

(अ) **नग्नबीज** (Gymnosperm):-इनमें बीज फल के अन्दर नहीं तैयार होते-जैसे सरल, देवदारु, हाऊबेर (हपुषा) तथा सोमकल्प (Ephedra)।

(ब) **संवृत बीज** (Angiosperm):—इनके बीज फल के अन्दर तैयार होते हैं। इनके अन्तर्गत (१) **एक-बीजपत्र** (Monocotyledons) और (२) **द्वि-बीजपत्र** (Dicotyledons) दो श्रेणियाँ होती हैं। शूक धान्य एक-बीजपत्र होते हैं क्योंकि इनके बीजों में बीजपत्र अकेला होता है और शमीधान्य तथा आम, इमली आदि द्विबीजपत्र होते हैं क्योंकि इनके बीजों में दो बीजपत्र रहते हैं।

बीजोद्भिदों की मानवजीवन में प्रधानता उनकी सामान्य रचना तथा जीवन-चरित्र—

उपर्युक्त समुदायों में से केवल बीजोद्भिज्ज और इनमें से भी विशेषतः संवृतबीज प्राचीन काल से हमारे विशेष आकर्षण और ध्यान देने की वस्तु रहे हैं। अभी तक हमारी आवश्यकतायें अधिकांश में इन्हीं से पूरी होती हैं। सम्भव है कि अन्य समुदायों के पौधे भी हमारे लिये इन्हीं की तरह उपयोगी हों और धान्यरुक् तथा कूर्चति (Penicillium) की तरह हमारे काम की वस्तुयें प्रमाणित हो जायँ परन्तु अभी उनमें ऐसे पौधों की संख्या बहुत कम है। इसका कारण यह हो सकता है कि इनमें अधिकांश छोटे और अनाकर्षक होने के कारण प्राचीन काल में मनुष्य की व्यवहारोपयोगी खोजों के विषय नहीं बन सके थे। सपुष्प उद्भिज्जों का हमारा ज्ञान-भांडार इतना विशाल और उपयोगी हो गया है, उनका अध्ययन प्रारम्भ के विद्यार्थियों के लिये इतना सरल और सुखसाध्य होता है कि आगे के पृष्ठों में इनके ही विविध पक्षों का अध्ययन उचित समझकर किया गया है।

यद्यपि यहाँ उनके अंग-प्रत्यंगों का तथा जीवन की मुख्य २ घटनाओं और व्यापारों पर अलग २ विचार किया गया है, तथापि हमें यही दिखाना अभीष्ट है कि वे अपना जीवनचक्र किस प्रकार पूरा करते हैं और अपनी रचना तथा कार्य-प्रणाली में पूर्ण सामंजस्य होने के कारण वे एक वाद्य-यन्त्र की तरह

समस्वर से बजते हुये किस तरह सुमधुर जीवन-झंकार उत्पन्न करते हैं।

बीजोद्भिदों का जीवन स्वतंत्र और सक्रिय रूपमें साधारणतः बीजांकुरण से प्रारम्भ होता है। आर्द्रता, ताप तथा जारक आदि कुछ आवश्यक कारकों के उपलब्ध होने पर बीज अंकुरित होता है। बीज के अन्दर एक गर्भाक्ष (Embryo axis) होता है जिसके मूलभ्रूण और भ्रूणाग्र दो भाग होते हैं। बीजांकुरण में सबसे पहले मूलभ्रूण का अंकुर निकलता है। यह बढ़ता हुआ क्रमशः पृथ्वी में प्रवेश करता है और अपनी शाखा-प्रखाओं द्वारा ज़मीन के अन्दर फैलकर शिशु-उद्भिज को भूमिबद्ध कर देता है। फिर, भ्रूणाग्र बढ़कर ऊपर आता है और वायवीय काण्ड की उत्पत्ति होती है। काण्ड जैसे २ बढ़ता है उसमें थोड़ी २ दूर पर ग्रंथियाँ बनती जाती हैं। इन ग्रंथिओं पर पत्तियाँ और पत्रकोणों में अक्षियां भी निकलती जाती हैं जो बढ़कर शाखाओं का निर्माण करती हैं। बीजांकुरण से लेकर पत्तिओं के निकलने तक शिशु-उद्भिज को पैत्रिक खाद्य-संचय पर निर्भर रहना पड़ता है जो बीज के अन्दर बीजपत्र अथवा गर्भपोष (Endosperm) में संचित रहता है। मूल के पृथ्वी में प्रवेश कर जाने तथा शाद युक्त पत्रों के तैयार होते ही शिशु-उद्भिज अपने लिये भोजन स्वयं बनाने लगता है।

मूल तथा उसकी शाखा-प्रशाखाओं के अग्र के सन्निकट उनका कुछ भाग सूक्ष्म मूलरोमों से ढका रहता है, जो मिट्टी के कणों के बीच घुसकर और क्षार मिश्रित जल का शोषण करके उसे मूल की रसवाहिनिओं में भेजते हैं। वहां से यह क्रमशः काण्ड की रस-वाहिनिओं और अन्त में पत्तिओं में पहुंचता है। पत्र की रस-वाहिनियाँ पत्ती की नसों में समूहबद्ध होकर रहती हैं। पत्र साधारणतः पतले, चिपटे और द्वि-पृष्ठक होते हैं। इनके प्रायः अधर-पृष्ठ पर अनेक अण्वीक्ष छिद्र होते हैं जिनके द्वारा वे वायुमंडल से वायव्य- विनिमय करते हैं। पत्तियाँ शाद और सूर्य-प्रकाश की सहायता से मूल तथा वायुमंडल से आये हुये क्षार-मिश्रित जल और प्रांगार-द्वि-जारेय को लेकर रासायनिक क्रियाओं द्वारा शर्करा, मंड (Starch) तथा प्रभूजिन आदि विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों का निर्माण करती हैं। उद्भिज-शरीर में जहाँ वृद्धि आदि के कार्य होते रहते हैं, अथवा जहाँ भविष्य के लिये खाद्य पदार्थों का संचय होता है वहाँ ये पदार्थ अधोवाहिनिओं द्वारा पहुंचा दिये जाते हैं। खाद्य पदार्थों से शरीर

का पोषण और वृद्धि होती है और जीवन के विविध व्यापारों के लिये उन्हें ऊर्जा भी इन्हीं पदार्थों से मिलती है । वे जारक की सहायता से मंड तथा शर्करादि का जारण और विश्लेषण करके ऊर्जा उत्पन्न करते हैं । इस क्रिया में प्रांगार-द्वि-जारेय की उत्पत्ति होती है जिसे वे बाहर निकाल देते हैं । जारक लेने और प्रांगार-द्वि-जारेय छोड़ने की क्रिया को ही सामान्यतः श्वसन कहते हैं जो न्यूनाधिक मात्रा में प्रतिक्षण हुआ करती है । उपर्युक्त वातिओं के आने-जाने के मुख्य मार्ग वे सूक्ष्म छिद्र हैं जो प्रायः पत्तिओं के अधर-पृष्ठ पर होते हैं । इन्हीं छिद्रों द्वारा उद्भिज्ज-शरीर के अन्दर आया हुआ आवश्यकता से अधिक जल भी बाष्प रूप में बाहर निकला करता है । यह भी पौधों का एक मुख्य जीवन-व्यापार है जिसे उत्स्वेद (Transpiration) कहते हैं ।

पौधा शारीरिक वृद्धि करता हुआ कुछ समय के बाद उस अवस्था को प्राप्त होता है जब उसे संतति उत्पन्न करने की व्यवस्था करनी पड़ती है । प्रजनन की क्रिया पुष्पोत्पत्ति के साथ प्रारम्भ होती है । जहाँ पत्र-कलिकायें निकलनी चाहिये वहाँ अब पुष्प-कलिकायें तथा पुष्प-शाखायें निकलने लगती हैं । पुष्पों में हरी और रंगीन पंखड़िओं के अतिरिक्त पुंकेशर और स्त्रीकेशर होते हैं जिन में परागकोश और गर्भाशय रहते हैं । पराग कोश का स्फुटन होकर पराग बाहर आता है । पराग-कणों के अन्दर पुं-कोश और गर्भाशय के अन्दर स्त्री-कोश तैयार होते हैं । जिस तरह प्राणिओं में रजःकोश और शुक्रकीट के संयोग से गर्भाधान होता है उसी प्रकार उद्भिज्जों में स्त्रीकोश और पुंकोश के संयोग से गर्भाधान होता है । इसी लिये गर्भाधान के निमित पहले पराग को गर्भाशय के सन्निकट पहुंचना आवश्यक होता है । यह कार्य अधिकांश में पुष्पों पर जाने वाले कीट-पतंगों तथा वायु के द्वारा सम्पन्न होता है । पुष्पों में मधु, सुगंध तथा सुंदरता आदि कीट-पतंगों को आकर्षित करने के ही लिये होती है । इन प्रलोभनों द्वारा उनका सहयोग प्राप्त होने पर परागण (Pollination) की क्रिया पूरी होती है और फिर गर्भाधान होता है । इसके बाद पुष्प के अधिकांश अवयव मुरझा कर नष्ट हो जाते हैं । केवल गर्भाशय जिसके अन्दर गर्भ रहता है बढ़ता हुआ मालूम होता है और उसे फल कहने लगते हैं । गर्भाशय के अन्दर एक या अनेक बीजाणु (Ovule) नामक अवयव होते हैं जो गर्भाधान के बाद बीज कहे जाने लगते हैं । बढ़ता हुआ गर्भ क्रमशः बीजाणु के भीतर का स्थान

छेक लेता है और बीजाणु-भित्तियाँ कठोर होकर बीज-कवच (Testa) बन जाती हैं।

जब तक बीज मातृ-शरीर से पृथक् नहीं होता तब तक उसकी रक्षा फल के द्वारा होती है। बीज का दूरदेशीय विकरण भी आवश्यक होता है। यदि ऐसा न हो तो सभी एक स्थान पर एकत्र होकर अपनी वृद्धि न कर सकें। बीज-विकरण के लिये भी वायु, जल तथा जन्तुओं का सहयोग आवश्यक होता है। अतः जन्तुओं के लिये विविध प्रकार के प्रलोभनों की और वायु तथा जल के द्वारा फलों अथवा बीजों को दूर २ बिखेर देने के लिये उनमें अनेक रचनात्मक योजनाओं की व्यवस्था रहती है। विकरण हो जाने पर बीज जब ऐसी परिस्थिति में पहुंचता है जहाँ अंकुरण के अनुकूल अवस्थायें रहती हैं वहाँ वह बीज एवं नवजात संतान, जो गर्भाशय के अन्दर पहले बढ़ रहा था परन्तु कुछ समय के लिये अपनी वृद्धि बन्द कर मानों सुप्तावस्था में अब तक विश्राम कर रहाथा, फिर अपनी वृद्धि प्रारम्भ कर देता है और शीघ्र मूल, पत्र तथा काण्ड से युक्त एक शिशु-शरीर तैयार हो जाता है। यद्यपि गर्भाधान के समय से ही उद्भिज्ज की दूसरी पीढ़ी का जीवन-चक्र प्रारम्भ होता है परन्तु स्वतंत्र, सक्रिय और प्रत्यक्ष रूपमें वह यहीं से प्रारम्भ होता है।

प्रथम भाग

वाह्य रचनाकारिकी

परिच्छेद १

मूल (Root)

उच्च श्रेणी के पौधों का शरीरः-(१) **मूल-संहति** (Root-System) और (२) **प्ररोह-संहति** (Shoot-System) दो भागों का बना होता है। एक में मूल अपनी शाखा-प्रशाखाओं के साथ होता है और दूसरे में-काण्ड, पत्र, पुष्प तथा फल-ये सभी अवयव होते हैं। पुष्प तथा फल उत्पादक अवयव और मूल, काण्ड तथा पत्र वर्धि-कायिक अथवा अधिष्ठापक अवयव (Vegetative Parts) होते हैं। मूल और काण्ड

से शरीर का अक्ष बनता है। शेष अवयव शाखा अथवा बाह्य वृद्धि के रूप में अक्ष से निकलते हैं।

मूल और काण्ड में भेदः—(१) मूल की वृद्धि पृथ्वी और जल की ओर और प्रकाश की विरुद्ध दिशा में होती है, परन्तु काण्ड प्रकाश की ओर और पृथ्वी से विमुख होकर बढता है।

(२) काण्ड में पर्व और पर्व-संधियाँ होती हैं। संधियों पर पत्तियाँ और पत्रकोणों में कलिकायें अथवा शाखायें होती हैं। मूल में संधि, पर्व तथा पत्तियों का अभाव होता है। काण्ड की तरह मूल से साधारणतः अक्षियाँ भी नहीं निकलतीं। परन्तु अपवाद रूप में अमरूद, अग्निमन्थ, गुलाब आदि कुछ पौधों के मूल में अक्षियां होती हैं।

(३) मूल-शाखाओं का उद्गम अन्तरूतिओं से होता है इसलिये उन्हें आन्तरजात (Endogenous) कहते हैं। परन्तु काण्ड-शाखायें बाह्य-जात (Exogenous) होती हैं क्योंकि वे बाहरी ऊतिओं से निकलती हैं। काण्ड का शाखोद्भव पत्रकोणों में होता है अतः नियमित प्रतीत होता है परन्तु मूल-शाखायें बाहर से अनियमित क्रम में निकली हुई मालूम होती हैं, यद्यपि भीतर वे भी निश्चित स्थानों से ही निकलती हैं।

(४) काण्ड का वर्धनशील अग्र या शीर्ष कलिकाबद्ध नवीन और सूक्ष्म पत्तियों के बीच में सुरक्षित रहता है, परन्तु मूलाग्र एक विशेष प्रकार की रक्षक ऊति से ढका रहता है जिसे मूलाग्रगोप (Root-cap) कहते हैं।

(५) काण्ड यदि रोमश होता है तो उसके रोम काण्ड की शीतादि से रक्षामात्र करते हैं और इसीलिये उनकी उपस्थिति सम्पूर्ण काण्ड-पृष्ठ पर हो सकती है। मूल-रोम मूल के एक निश्चित प्रान्त में उत्पन्न होकर क्षारमिश्रित जल का शोषण करते हैं। मूलाग्र के आगे बढ़ जाने पर वे नष्ट हो जाते हैं और आगे के नवीन भाग में नये रोम निकल आते हैं। इसके अतिरिक्त काण्ड-रोम बहुकोश और मूल-रोम एककोश होते हैं।

(६) नवीन काण्ड में श्वसन-रन्ध्र और पुराने काण्ड में श्वसनोति (lenticel) पाई जाती है परन्तु मूल में ये नहीं होतीं।

(७) आन्तरिक रचना और ऊति-विन्यास में मूल और काण्ड एक

दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। दोनों के रचनात्मक वैशिष्ट्य का ज्ञान आगे चल कर होगा।

काण्ड और मूल की वृद्धि-दिशा निश्चित होने के कारण और दोनों के सामान्य कार्यों के अनुकूल साधारणतः इनका विस्तार क्रमशः पृथ्वी के ऊपर और पृथ्वी के भीतर होता है। परन्तु कुछ विशेष प्रकार के पौधों में काण्ड भूमि के अन्दर भी होते हैं और उनका आकार आदि भी बदला हुआ रहता है। इसी तरह किसी २ के मूल भी वायवीय होते हैं अथवा विशेष कार्यों को सम्पन्न करने के कारण अपना रूपान्तर कर लेते हैं। ऐसी अवस्थाओं में उनके औत्पत्तिक स्वरूप का निर्णय उपर्युक्त विभेदक लक्षणों के द्वारा किया जाता है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर वाराही, विदारी, शतावरी, सालम, कचूर, आमाहल्दी, सफेद मुसली आदि वनौषधिकन्द मूल के और अदरक, हल्दी, कलिहारी, वनपलांडु, मुस्तक तथा सूरण आदि के कन्द काण्ड के रूपान्तर माने जाते हैं।

मूल के भाग :—प्रत्येक मूल अथवा मूल-शाखा के चार भाग होते हैं। वर्धन शील मूलाग्र को पृथ्वी में घुसकर बढ़ना पड़ता है और मूलाग्र पर ही नवीन और मृदु कोशा उत्पन्न होकर उसे आगे बढ़ाते हैं इसलिये मूलाग्र की रक्षा के लिये उसके ऊपर एक ऊति-स्तर होता है जिसे **मूलाग्रगोप** (Root-cap) कहते हैं। दूसरा भाग स्वयं मूलाग्र होता है जिसके कोशा बार २ विभक्त होकर नये कोशा उत्पन्न करते रहते हैं। इस भाग को **बर्धनशील मूलाग्र** (Growing region) कहते हैं। तीसरा भाग इसके पीछे होता है। इसके बाह्य कोशा-स्तर से एककोश मूल-रोम (Root hairs) निकले रहते हैं। ये रोम मिट्टी के कणों के बीच में घुसकर क्षारमिश्रित जल का शोषण करते हैं। जैसे २ मूलाग्र जल की खोज में आगे बढ़ता है नये मूलरोम बनते रहते हैं और पुराने नष्ट होते जाते हैं। इसीलिये इस भाग को मूल का **शोषणशील भाग** (Root hair region) कहते हैं। शेष मूल को **परिपक्व भाग** (Mature region) कहते हैं। मूल-शाखायें इसी भाग में निकलती हैं। मूलके प्रथम तीन भागों के कोशा उत्पन्न होते हैं फिर नष्ट हो जाते हैं अथवा स्थायी होकर परिपक्व भाग का निर्माण करते हैं।

मूल-संहति के भेदः—बीजोद्भेदन के समय मूलभ्रूण का जो अंकुर

निकलता है उसी को बढ़ जाने पर **अधिमूल** (Tap-root) कहते हैं। द्विदल उद्भिज्जों में प्रायः अधिमूल ही प्रधान बना रहता है और बराबर नीचे बढ़ता जाता है। इसके पार्श्व में शाखायें भी गोपुच्छाकारक्रम में निकलती जाती हैं पर वे संख्या में कम, बहुत छोटी और अप्रधान होती हैं। इस प्रकार की मूल-संहति को **अधिमूल संहति** (Tap-root system) कहते हैं। शाकीय (Herbaceous) द्विदल उद्भिज्जों में ऐसी मूल-संहति अधिक मिलती है। कुछ द्विदल पौधों में अधिमूल मोटा परन्तु छोटा रह जाता है और उसके पार्श्व से अनेक लम्बे और पतले उपमूल निकले रहते हैं। ऐसी मूल-संहति को **तन्तुमय अधिमूल-संहति** (Fibrous branching tap-root system) कहते हैं। पहली में मूल को अधो-प्रसरी (Deep feeder)—जैसे मूली में-और दूसरी में उसे ऊपरि-प्रसरी (Surface-feeder) कहते हैं-जैसे-सूर्य मुखी में।

तीसरी प्रकार की मूल-संहति प्रायः एकदल उद्भिज्जों में मिलती है-जैसे, दूर्वा तथा गोधूम आदि में अधिमूल का कुछ भी विकास नहीं होता बल्कि काण्ड के आधार से अनेक तन्तुसदृश मूल निकले रहते हैं। इसे तन्तुमय मूल-संहति (Fibrous root-system) कहते हैं

मूल के भेदः—उत्पत्ति की दृष्टि से मूल-(१) **नियमित** (Normal) और (२) **अनियमित** अथवा **आगन्तुक**-(Adventitious) दो प्रकार के होते हैं। प्रथम दोनों प्रकार की मूल-संहति में मूल नियमित और तीसरी प्रकार की मूल-संहति में मूल को आगन्तुक कहते हैं। प्राचीनों की परिभाषा के अनुसार नियमित प्रधानमूल अर्थात् अधिमूल को **शिफा** और तन्तु सदृश आगन्तुक मूलों को **जटा** भी कह सकते हैं। आगन्तुक मूल भौमिक काण्ड तथा वायव्य काण्ड और पत्र से निकलते हैं। केवड़ा में स्कन्ध से, वट में शाखाओं से, पथरचूर तथा बेगोनिया (Begonia) में पत्र से आगन्तुक मूल निकलते हैं। कार्य के अनुसार आगन्तुक मूल निम्नलिखित भिन्न २ प्रकार के होते हैं :—

(१) **स्तम्भाकार मूल** (Prop roots) :—वटवृक्ष की शाखाओं से अनेक अनियमित मूल निकल कर झूला करते हैं और धीरे २ बढ़ते हुये ज़मीन तक पहुंच कर भीतर प्रवेश कर जाते हैं। फिर तो, वे शाखाओं को खम्भे की तरह सहारा भी देते हैं और पृथ्वी से खाद्यरस का शोषण करके उन

शाखाओं में पहुँचाने भी लगते हैं। इस तरह शाखाओं का प्रसार अबाध रुप से होता जाता है।

(२) **सहायक मूल** (Stilt roots) :—केवड़ा तथा मानग्रोव जाति के वृक्षों में स्कन्ध पतला और कमज़ोर होता है इसलिये उसकी निचली संधिओं से मूल निकलकर तिरछे बढ़ते हुये ज़मीन में घुस जाते हैं और इन पौधों को सीधा खड़ा रखने में सहायक होते हैं। ऐसे मूल तथा ज्वार और मक्का के स्कन्धोद्भव मूल भी सहायक मूल कहे जा सकते हैं।

(३) **अवलम्बक मूल** (Clinging roots) :—पान, पिप्पली तथा गजपिप्पली की लताओं में काण्ड से ऐसे मूल निकलते हैं जिनके द्वारा ये लतायें वृक्षादि से चिपकी रहती हैं और दृढ़ता पूर्वक अपने २ आश्रय को पकड़े रहती हैं। ऐसे मूल अवलम्बक मूल कहे जाते हैं।

(४) **वातलम्बी मूल** (Epiphytic roots) :—परोही उद्भिज्जों को अपना भोजन प्रायः वायु से लेना पड़ता है। इनके कुछ मूल शाखाओं से चिपके रहते हैं और छाल की दरारों में पड़े हुये कूड़ा-कर्कट से कुछ न कुछ भोजन पाजाते हैं। कुछ मूल आकाश में झूलते रहते हैं और वायु के जलांश का शोषण करते हैं। ऐसे वातलम्बी मूल बंगीय रास्ना (Vanda) तथा अन्य अनेक आर्किड (Orchid) कुल के पौधों में होते हैं।

(५) **हरित मूल** (Assimilatory roots) :—कोई २ वातलम्बी मूल, गुडूची के काण्डोद्भव मूल तथा सिंघाड़ा के जलवासी मूल शादयुक्त होने के कारण हरे रंग के होते हैं और भोज्य पदार्थों के निर्माण में भाग लेते हैं। इन्हें हरित मूल कहते हैं।

(६) **श्वासग्राही मूल** (Breathing roots अथवा Pneumatophores) :—दलदलों में होने वाले मानग्रोव जाति के वृक्षों में श्वसन के लिये ज़मीन के अन्दर जारक नहीं मिलता। अतः ज़मीन के भीतर से अनेक उपमूल पौधे के चारो ओर ऊपर की तरफ़ निकलते रहते हैं और अपनी विचित्र रचना के कारण वे वायुमंडल से यथेष्ट मात्रा में वायु खींचते रहते हैं। ऐसे मूल श्वासग्राही मूल कहे जाते हैं।

(७) **उपजीवक मूल** (Parasitic roots अथवा Haustoria):—परोपजीवी पौधों के काण्ड से मूल निकलते हैं जो उपजीव्य (Host) के

काण्डादि में घुस कर और उनकी रसवाहिनिओं से रस चूस कर अपनी रसवाहिनिओं द्वारा उसे खींच लेते हैं। अमरवेल तथा बंदाक में ऐसे उपजीवक मूल होते हैं।

(८) **पत्रोद्भव मूल** (Leaf-roots) :--पथरचूर तथा हेमसागर में पत्ती के ज़मीन पर गिरने के उपरान्त पत्रधारा से कलिका तथा मूल निकलते हैं। इसी तरह बेगोनिया में पत्ती की नसों के ऊपर अथवा पर्णवृन्त से कलिका और मूल निकलते हैं जो बढ़कर एक नया स्वतंत्र पौधा उत्पन्न करते हैं। यहाँ मूल को पत्रोद्भव मूल कहते हैं।

(९) **अन्य आगन्तुक मूल :**—ज़मीन पर फैलने वाले अनेक पौधों में पर्व-संधियों से प्रायः आगन्तुक मूल के गुच्छे निकले रहते हैं-जैसे दूर्वा, ब्राह्मी तथा चांगेरी में। बहुत से पौधों में शाखाओं से क़लम निकाल कर गाड़ दी जाती है तो उससे आगन्तुक मूल निकल आते हैं। आलू तथा हल्दी आदि के भौमिक काण्ड से भी अनियमित मूल निकले रहते हैं।

निवास-स्थान की दृष्टि से मूल-(१) **भौमिक** (Terraneous), (२) **वायव्य** (Aerial), तथा (३) **जलवासी** (Aquatic)-तीन प्रकार के होते हैं। इस दृष्टि से उपजीवक मूल का भी एक स्वतंत्र भेद हो सकता है क्योंकि इसका विस्तार उपजीव्य के भीतर होता है। जलवासी तथा उपजीवक मूलों में मूल-रोम नहीं होते।

मूल के रूपान्तर (Modifications)

विशेष परिस्थितिओं में विशेष प्रकार के मूल होते हैं और उनसे विशेष कार्य लिये जाते हैं। इसलिये उन्हें अपना सामान्य स्वरूप बदल कर कुछ न कुछ रूपान्तर करना पड़ता है। ये रूपान्तर नियमित और आगन्तुक दोनों प्रकार के मूलों में होते हैं।

नियमित मूल के रूपान्तर :--नियमित मूल सामान्यतः तन्तुमय होते हैं परन्तु कभी कभी खाद्य पदार्थों के संचय के कारण वे फूलकर माँसल और कन्द सदृश रहते हैं। आकार के अनुसार उनके तीन भेद होते हैं :--

(१) **शंक्वाकार** (Conical) :—जो मूल गाजर की तरह ऊपर सबसे अधिक मोटे और नीचे की ओर क्रमशः पतले हों।

(२) **मूलकाकार** (Fusiform) :--जो मूली की तरह मध्य में सबसे अधिक मोटे और दोनों सिरों पर क्रमशः पतले हों।

(३) **सलगमाकार** (Napiform) :--जो सलगम की तरह ऊपर की ओर बहुत मोटे और गोलाकार हों और नीचे अकस्मात् पतले और लम्बे हो गये हों।

कन्द सदृश नियमित मूल प्रायः द्वि-वर्षायु उद्भिज्जों के होते हैं जो प्रथम वर्ष में केवल कायिक वृद्धि करते हैं और खर्च से कहीं अधिक भोज्य पदार्थों का निर्माण करते हैं। खर्च से बचे हुये पदार्थों का संचय करके मूल क्रमशः मोटे और माँसल हो जाते हैं। दूसरे वर्ष जब सन्तति उत्पन्न करने का समय आता है उस समय फूल-फल पैदा करने के लिये जितना भोजन मिलना चाहिये उतना वे पौधे बना नहीं पाते। मूल में संचित पदार्थ उसी समय काम देता है। ऐसे पौधों में कन्द सदृश मूल के ऊपरी सिरे पर कलिकायें होती हैं जिनके विकास से पुष्पदण्ड निकलते हैं। पुनर्नवा के एक भेद में मूलकाकार मूल होते हैं जिनके शीर्ष पर स्थित कलिकाओं के विकास से वह प्रतिवर्ष मानो नव न होकर उत्पन्न होती है और इसलिये उसे बहु-वर्षायु कहते हैं।

आगन्तुक मूल के रूपान्तरः—ये साधारणतः पतले और तन्तु सदृश होते हैं परन्तु खाद्य-पदार्थों के संग्रह के कारण ये भी कहीं २ फूल कर मोटे और माँसल हो जाते हैं। आकारभेद से ये भी कई प्रकार के होते हैं :—

(१) **एकाकी कन्द** (Simple Root tuber) :—जब कन्द अकेला हो और उसका कोई निश्चित आकार न हो :--जैसे शकरकन्द और रतालू में।

(२) **कन्दगुच्छ** (Fasciculated tuberous) :—जब एक ही स्थान से कई मूलकन्द गुच्छे में निकले हों :—जैसे शतावरी तथा डहलिया मे।

(३) **करतलाकार कन्द** (Palmated tuberous) :—जब एक मूलकन्द से कई शाखाकन्द इस प्रकार निकले हों जैसे करतल से अँगुलियाँ निकलती हैं: —जैसे सालमपंजा में।

(४) **मूलाग्र कन्द** (Nodulose) :--जब पतले अनियमित मूल के अग्र अकस्मात् कन्द सदृश हो गये हों :--जैसे आमाहल्दी तथा कचूर में।

(५) **सान्तर कन्द** (Moniliform) :--जब मूल थोड़े २ अन्तर पर फूल कर कन्द सदृश हो गया हो :--जैसे अम्लपर्णी में।

(६) **मालाकन्द** (Annulated) :--जब मूल गोलेर कंदों की माला के सदृश हो :--जैसे इपीकाक में।

मूल सामान्यतः भौमिक होते हैं। इसलिये जो मूल वायव्य, पररोही अथवा जलवासी होते हैं उनको विशेष परिस्थिति में रहने के कारण कुछ न कुछ अपना रूपान्तर करना ही पड़ता है। श्वासग्राही मूल, उपजीवक मूल, वातलम्बी मूल तथा जलवासी मूल भी इसी लिये मूल के रूपान्तर माने जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त दो और विशेष प्रकार के मूल होते हैं। कई वृक्षों के सामान्य मूल काट कर अन्यत्र ज़मीन में गाड़ दिये जाते हैं तो उनमें अक्षियाँ बन जाती हैं और फिर उनसे नये पौधे उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे **उत्पादक मूल** अमरूद, अग्निमन्थ, नाशपाती तथा गुलाब के होते हैं। दूसरे प्रकार के मूल शिम्बीकुल के कुछ उद्भिज्जों में होते हैं जिनके पृष्ठ पर विशेष प्रकार की मूल-ग्रन्थियाँ (Root-tubercles) होती हैं। इन ग्रन्थिओं में वेत्राणु (Bacteria) होते हैं जो स्वयं इन ग्रंथिओं को तैयार करके इनके अन्दर रहते हैं और वायुमंडल के भूयाति (Nitrogen) को इस रूप में बदल देते हैं कि आश्रयदाता उसका उपयोग कर सकता है। बदले में आश्रयदाता इन वेत्राणुओं को प्रांगोदीय (Corbohydrate) बना कर देता है।

मूल के कार्य (Functions) :--मूल के कार्य-सामान्य और विशेष-दो प्रकार के होते हैं।

सामान्य कार्य :--(१) पौधों का एक स्थान पर **स्थिरीकरण** (Fixation), (२) क्षारमिश्रित जल का **शोषण** (Absorption) और (३) शोषित जल का ऊपर काण्ड में पहुंचाने के लिये **संवाहन** (Conduction)-ये मूल के सामान्य कार्य हैं। सिद्ध खाद्यपदार्थों का कुछ न कुछ संचय भी सामान्य मूल करते हैं परन्तु विशेष रूप से केवल संग्राहीमूल इस कार्य को करते हैं।

विशेष कार्य :--विशेष कार्य विशेष प्रकार के मूलों द्वारा होते हैं जिनकी चर्चा ऊपर की गई है। विशेष कार्यों में (१) सिद्ध खाद्यपदार्थों का **सञ्चय** (कंदाकार संग्राही मूलों द्वारा), (२) **श्वसन** (श्वासग्राही मूल द्वारा), (३) **अवलम्बन** तथा **आरोहण** (अवलम्बक मूलों द्वारा), (४) वायुमंडल से जलांश का **शोषण** (वातलम्बी मूलों द्वारा), (५) उपजीव्य के रस का **चूषण** (उपजीवक मूलों द्वारा), (६) खाद्यपदार्थों का **निर्माण** (हरित मूल द्वारा) और (७) **पुनरुत्पादन** मुख्य हैं।

परिच्छेद २

काण्ड (Stem)

काण्ड की उत्पत्ति :— बीजोद्भेदन के समय भ्रूणाग्र के बढ़ने से प्रांकुर (Shoot) बनता है। इसमें काण्ड और पत्र दो अवयव होते हैं। काण्ड ज्यों २ लम्बाई में बढ़ता है उसमें थोड़ी २ दूर पर **ग्रंथियाँ** (nodes) बनती जाती हैं। दो समीपवर्ती ग्रंथिओं के बीच के काण्ड-भाग को **पर्व** (Internode) कहते हैं। ग्रंथिओं पर पत्तियाँ और पत्रकोणों में अंकुर निकलते हैं जो बढ़ कर शाखाओं अथवा बाद में पुष्पों को उत्पन्न करते हैं। जिन अंकुरों से आदिकाण्ड बढ़ता है तथा शाखायें उत्पन्न होती और बढ़ती हैं उन्हें **कलिका** (Bud) कहते हैं। कलिका की रचना का आभास पातगोभी को खड़ेखड़ काट कर देखने से मिलता है। इनके बीच में ग्रंथियों और संक्षिप्त पर्वों का एक काण्ड होता है जो छोटी २ और परस्पर लिपटी हुई पत्तिओं से ढका रहता है। काण्ड जब बढ़ता है तो कलिका के बाहर की अर्थात् सबसे नीचे की पत्तियाँ एक २ करके बढ़ती और कलिका से अलग होती जाती हैं और काण्ड के वर्धनशील अग्र पर नवीन पत्तियाँ निकल कर कलिका का आकार ज्यों का त्यों बनाये रखती हैं।

कलिकाओं के भेद :— काण्ड या शाखा के अग्र पर जो कलिकायें होती हैं उन्हें **शुंग** अथवा **अग्र्य** (Terminal) **कलिका** कहते हैं। इनसे काण्ड या शाखा की लम्बाई में वृद्धि होती है। जो कलिकायें पत्रकोणों में निकलती हैं उन्हें **अक्षि या पत्रकोणोद्भव** (Axillary) **कलिका** कहते हैं। एक पत्ती के कोण में प्रायः एक ही अक्षि होती है परन्तु किसी २ पौधे में पत्रकोण में एक से अधिक अक्षियाँ होती हैं जो नियमित अक्षि के ऊपर, नीचे अथवा पार्श्व में निकलती हैं। ऐसी अक्षिओं को **अतिरिक्त** (Accessory) अक्षियाँ कहते हैं। अतिरिक्त अक्षियाँ कौड़ामारी, लालमिर्च तथा मधुमालती में होती हैं। अक्षि तथा शुङ्ग के अतिरिक्त काण्ड के अन्य भागों—से पत्र तथा मूल—से भी कलिकायें निकलती हैं जिन्हें **अनियमित** (Adventitious) कलिका कहते हैं। कटहल में पुराने स्कन्ध से कलिकायें निकलती हैं और नीम तथा शिग्रु का स्कन्ध या काण्ड जब कहीं से काट कर अलग कर दिया जाता है तो कटे हुये भाग के चारों ओर अनेक कलिकायें निकल आती हैं। ऐसी कलिकाओं को **काण्डोद्भव**

(Cauline) कलिका कहते हैं। गुलाब, परवल, अमरूद, विल्व तथा रोहितक में **मूलोद्भव** (Radical) कलिकायें होती हैं। पथरचूर तथा हेमसागर के पत्तिओं पर प्रायः ज़मीन पर गिरने के बाद **पत्रोद्भव कलिकायें** (Epiphyllous buds) निकलती हैं।

जो कलिकायें निकलते ही बिना विश्राम लिये बढ़ने लगती हैं उन्हें **क्रियाशील** (Active) कलिका और जो बहुत समय तक सुप्तावस्था में पड़ी रहती हैं और विशेष परिस्थितिओं में विकसित होती हैं उन्हें **प्रसुप्त** (Dormant) कलिका कहते हैं। कुछ कलिकायें अपनी रक्षा के लिये विशेष प्रकार के शल्कपत्रों (Scale leaf) से ढकी रहती हैं। इन्हें **शल्की** (Scaly) और जिनमें शल्कपत्र नहीं होते उन्हें **नग्न** (Naked) कलिका कहते हैं। बरगद और पीपल की कलिकाओं में जितने साधारण पत्र होते हैं उतने ही शल्कपत्र भी रहते हैं। ये सामान्य पत्तिओं के विपरीत होते हैं। इनके नीचे की पत्ती ज्योंही बढ़कर कलिका से अलग होती है, त्योंही ये टूट कर गिर जाते हैं। नागकेशर, नीम, आम, बुराँस तथा दालचीनी में शल्की कलिकायें होती हैं। साधारण शाखाओं को उत्पन्न करने वाली कलिकाओं को **वर्धिकायिक** (Vegetative) कलिका, पुष्प या पुष्प-व्यूह उत्पन्न करने वाली कलिका को **पुष्पकलिका** (Flower bud) या **पुष्पव्यूह कलिका** और पत्रादि तथा पुष्प दोनों प्रकार के अवयवों को उत्पन्न करने वाली कलिकाओं को **मिश्र** (Miscea) कलिका कहते हैं। शहतूत में पुष्पव्यूह कलिका और सेव, नासपाती तथा अङ्गूर में मिश्र कलिकायें होती हैं।

कलिकावद्ध अवयवों की रक्षा :—वायव्य उद्भिज-शरीर का मुलायम वर्धनशील भाग कलिकाओं में सीमित रहता है इसलिये धूप, सर्दी, गर्मी तथा अन्य हानिकारक अवस्थाओं में उनकी रक्षा होना आवश्यक है। प्रत्येक कलिका के अवयवों का परस्पर लिपटे और ढके रहना और प्रत्येक अवयव का विविध प्रकार से लपेटा हुआ रहना इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। कलिका की पत्तिओं का रोमश अथवा मोम तथा क्यूटीन (Cutin) आदि से लिप्त होना उन्हें भीगने अथवा अत्यधिक जलत्याग से बचाता है। शल्कपत्र भी कलिकाओं को अनेक प्रकार से सर्दी-गर्मी से बचाते हैं।

कलिकाओं के रूपान्तर :—कलिकाओं के स्थान पर कभी २ अन्य

आकार की रचनायें पाई जाती हैं जो कलिका के रूपान्तर मानी जाती हैं। दुरण्टा, बेल तथा कपित्थ में पत्रकोणोद्भव कलिका का और करमर्द में अग्र्य कलिका का काँटों में रूपान्तर होता है। अंगूर और अस्थिसंहार में पत्ती के अभिमुख अग्र्य कलिका का रूपान्तर सूत्र में हुआ रहता है। लतापुटकी में पुष्पकलिका के केवल नाल या पुष्पवृन्त का सूत्र में रूपान्तर होता है। पत्रकलिकायें अथवा पुष्पकलिकायें कभी २ पुनरुत्पत्ति के निमित अपना रूपान्तर करती हैं। ऐसी उत्पादक कलिकाओं को **कलिका-कन्द** (Bulbil) कहते हैं। ये प्रायः बहुकोश और कन्द सदृश होते हैं और चूंकि जनक से पृथक् होकर संतानोत्पादन का कार्य करते हैं इसलिये इनमें कंदादिकों की तरह खाद्य पदार्थों का संचय होता है और ये कंद सदृश मालूम होते हैं। वाराहीकन्द की लता तथा चांगेरी में ये पत्रकलिका के स्थान में और रामबाँस, रसोन तथा अनानास आदि में पुष्पकलिका के स्थान में पाये जाते हैं।

काण्ड के आकारः--सामान्य वायव्य काण्ड लम्बगोल अर्थात् **रम्भाकार** (Cylindrical) होता है अर्थात् यह लम्बा और इसकी परिधि गोल होती है परन्तु कोई २ **कौणिक** (Angular) भी होते हैं जिससे उनका पृष्ठ **त्रिपार्श्व** (जैसे मुस्तक, तिधारा सेहुँड, तथा निशोथ में), **चतुःपार्श्व** (जैसे तुलसी कुल तथा अस्थिसंहार में) अथवा **पञ्चपार्श्व** (जैसे किसी २ सेहुँड में) होता है। किसी २ काण्ड के पृष्ठ पर अनेक लम्बे पर्शुक (Rib) और उनके बीच २ में हलखात (Furrow) होते हैं-जैसे चित्रक तथा कर्कटी काण्ड में। ऐसे काण्ड को **पर्शुकी** (Ribbed) कहते हैं। कोई २ काण्ड पुराने होने पर प्रायः पोले हो जाते हैं। उन्हें **नलाकार** (Fistular) कहते हैं।

शाखारहित रम्भाकार काण्ड को जिनमें गिरी हुई पत्तियों के स्पष्ट चिह्न वर्तमान रहते हैं **स्थाणु** या स्कंध (Caudex) कहते हैं-जैसे मक्का तथा ताड़ में। गोधूम कुल में काण्ड संधिओं पर ठोस, पर्वों में नलाकार और पर्व लम्बे और स्पष्ट तथा चौड़ी ग्रंथिओं के कारण **संयुक्त** (Articulated) मालूम होते हैं। इन्हें **वंशाकार काण्ड** (Culm) कहते हैं। प्याज, गुलछड़ी तथा रामबाँस में प्रायः सामान्य काण्ड नहीं होता और पत्तियाँ मूलरुह (Radical) होती हैं। इनमें भौमिक काण्ड होते हैं जिनसे उपयुक्त समय पर प्रायः एक निःशाख

और निष्पत्र काण्ड निकलता है जो पुष्पों को धारण करता है। ऐसे काण्ड को **पुष्पध्वज** (Scape) कहते हैं।

काण्ड-पृष्ठ :—काण्ड कहीं २ तो बिलकुल चिकना या **मसृण** (Glabrous) होता है और कहीं उसके पृष्ठ पर काँटे अथवा रोम होते हैं और तब उसे **कंटकी** (Spiny) अथवा **रोमश** (Hairy) कहते हैं। कहीं २ (जैसे अर्क में) पृष्ठ पर प्रायः एक धूसर क्षोद (Bloom) जमा रहता है और उसे रगड़ देने पर पृष्ठ चमकदार और नील-हरित मालूम होता है। ऐसे काण्ड को **क्षोद-लिप्त** (glaucous) काण्ड कहते हैं।

काण्ड के रूपान्तर

जिस प्रकार प्रत्येक अंग के कार्य निश्चित होते हैं उसी प्रकार अपने २ कार्यों के अनुकूल उनके निश्चित स्वरूप होते हैं। परन्तु परिस्थिति वश होकर जब किसी पौधे के काण्ड को कोई विशेष कार्य करना पड़ता है तो उस कार्य के अनुसार उसका स्वरूप भी बदल जाता है। इस तरह के परिवर्त्तित काण्ड को—चाहे उसके स्वरूप में परिवर्तन थोड़ा हुआ हो या अधिक—काण्ड का रूपान्तर कहते हैं। इन रूपान्तरों के सम्बन्ध में दूसरी विचित्र बात यह है कि यद्यपि सामान्य काण्ड की वृद्धि और प्रसार ज़मीन के ऊपर होता है परन्तु काण्ड के अनेक रूपान्तर ज़मीन के अन्दर ही उत्पन्न होते और प्रसार करते हैं। इसलिये काण्ड के रूपान्तर स्थानभेद से—(१) **वायव्य** और (२) **भौमिक**—दो प्रकार के होते हैं।

वायव्य रूपान्तर :—ये रूपान्तर निम्नलिखि पाँच प्रकार के होते हैं :—

(१) वहिर्धावी काण्ड (Runner) :—यह पतली, लम्बी और ज़मीन पर फैलने वाली शाखा का काण्ड है जो ज़मीन के पास किसी पत्रकोण से निकल कर ज़मीन पर बढ़ती है और प्रत्येक ग्रंथि से मूल निकल कर इसे ज़मीन से बाँध देते हैं। इस प्रकार की अनेक शाखायें निकल कर चारों ओर फैलती हैं। कुछ दूर जाकर ये शाखायें एक नवीन उद्भिज्ज के रूप में ऊपर उठ जाती हैं। इस स्थान पर अनेक मूल निकल कर नये पौधों को आत्मनिर्भर बना देती हैं। अनन्ता (दूर्वा) में इन्हीं शाखाओं के द्वारा अमर्याद वृद्धि और काण्ड-प्ररोह होता है। ब्राह्मी, चांगेरी तथा मूषाकर्णी में भी वहिर्धावी काण्ड होते हैं।

(२) वहिर्धाविक (Offset):—छोटे और मोटे बहिर्धावी काण्ड को बहिर्धाविक कहते हैं। जलकुम्भी या तत्सदृश अन्य पौधों में जहाँ सम्पूर्ण उद्भिज शरीर एक पत्रगुच्छ जैसा होता है। ऐसे काण्ड होते हैं ये भी पुनरुत्पत्ति के निमित्त होते हैं।

(३) पत्राभास काण्ड (Phylloclade) :—शुष्क परिस्थिति में पौधों को अधिक जल नहीं मिलता। इसलिये यह आवश्यक होता है कि उन्हें जितना जल मिलता है उसका संचय हो और उत्स्वेदन की क्रिया से वह निकलने न पावे। चूंकि उत्स्वेदन अधिकतर पत्तिओं द्वारा होता है इसलिये पत्तिओं का विकास रुक जाता है। परन्तु चूंकि पत्तियाँ खाद्य-निर्माण भी करती हैं इसलिये पत्तिओं के न रहने पर काण्ड को यह कार्य करना पड़ता है और कार्य के अनुसार उसका रूपान्तर हो जाता है। ऐसे रूपान्तरित काण्ड पत्राभास काण्ड कहे जाते हैं। ये हरे, चिपटे या गोलाकार और संचित जल की अधिकता से प्रायः मांसल होते हैं। ऐसे पौधों में पत्तियां या तो बहुत कम और अस्थायी होती हैं या सूक्ष्म शल्क पत्रों के रूप में रहती हैं। कहीं २ उनका कांटों में भी रूपान्तर हुआ रहता है। नागफनी और सेहुँड के काण्ड न्यूनाधिक पत्राभास काण्ड होते हैं। शतावरी में कंटकीभूत पत्रों के कोण में केवल एक २ पर्व के पत्राभास काण्ड पाये जाते हैं।

(४) कंटकीभूत काण्ड (Thorn):—उत्स्वेदन रोकने के लिये पत्रोत्पत्ति को रोकना आवश्यक होता है इसी लिये कहीं २ साधारण पत्रधारक शाखाओं के स्थान में काँटे निकले रहते हैं। ये काँटे तीक्ष्णाग्र, कठोर और सीधे होते हैं और प्राणिओं से उद्भिजों की रक्षा भी करते हैं। आन्तर्जात होने के कारण अन्य प्रकार के प्रायः मृदु कंटकों की तरह ये सरलता से पृथक् भी नहीं किये जा सकते। चूंकि ये शाखा के रूपान्तर होते हैं इसलिये इनमें प्रशाखा के रूप में अन्य काँटे भी निकले रहते हैं। कभी २ इनमें पत्र और पुष्प भी निकल आते हैं। सशाख काँटे मैनफल और करौंदा में और पत्रादियुक्त काँटे प्राचीनामलक तथा दुरण्टा में होते हैं। कण्टकीभूत काण्ड के उदाहरण बिल्व, कपित्थ, नीबू, अंकोट तथा यवासा में मिलते हैं। कंटकीभूत काण्ड कभी २ वडिशाकार (Hooked) होकर लताओं के आरोहण में भी सहायक होते हैं :—जैसे वागविलास तथा लताखदिर में।

काँटों के भेद :—उत्पत्ति की दृष्टि से काँटे—(१) **शाखोद्भव** (२) **पत्रोद्भव** और (३) **उभयोद्भव :**—तीन प्रकार के होते हैं। शाखोद्भव काँटे कंटकीभूत काण्ड होते हैं जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। पत्रोद्भव काँटे (spines) सम्पूर्ण पत्ती के अथवा उसके कुछ अंश के रूपान्तर होते हैं। ये भी प्रायः सरल और तीक्ष्णाग्र होते हैं परन्तु पहले प्रकार के काँटों की अपेक्षा छोटे और मुलायम होते हैं और बाह्यजात होने के कारण आसानी से पृथक् किये जा सकते हैं। शतावरी और दारुहरिद्रा में सम्पूर्णपत्ती के और घृतकुमारी तथा स्वर्णक्षीरी में पत्रधाराओं पर होनेवाले काँटे पत्ती के कुछ अंशों के रूपान्तर होते हैं।

उभयोद्भव काँटे (prickles) भी कठोर और तीक्ष्णाग्र होते हैं परन्तु पत्रोद्भव काँटों से छोटे, मुलायम और प्रायः बडिशाकार होते हैं। ये काण्ड या पत्रादि के पृष्ठ पर अनियमित क्रम में निकले रहते हैं। त्वचा से उत्पन्न होने के कारण पार्श्व से थोड़ा भी दबाव पड़ने पर ये अलग हो जाते हैं। ये काण्ड या पत्रादि के सामान्य बहिरुद्भेद (Outgrowth) माने जाते हैं। कंटकारी, बृहती, कटुकरंज, गुलाब तथा शाल्मली के काँटे इसी श्रेणि के होते हैं।

(५) **तन्तुभूत काण्ड** (Stem-tendril) :—ये पतले तार या सूत की तरह होते हैं और इनका अग्र प्रायः कुण्डलित रहता है। अनेक लतायें इन्हीं सूत्रों द्वारा किसी वस्तु का सहारा पाकर ऊपर चढ़ती हैं क्योंकि ये सूत्र स्पर्शग्राही होते हैं और किसी आश्रय को स्पर्श करते ही बढ़ कर उसे लपेट लेते हैं। काण्ड के अतिरिक्त पत्रादि अन्य अंगों का भी सूत्र में रूपान्तर होता है। तन्तुभूत काण्ड पत्रकोण में अथवा शाखाग्र पर होते हैं। यद्यपि ये साधारणतः निःशाख और निष्पत्र रहते हैं परन्तु कहीं कहीं वे शाखाओं और सूक्ष्म शल्क-पत्रों से युक्त पाये जाते हैं। अंगूर प्रजाति की लताओं में (अम्लपर्णी, अस्थिसंहार तथा अमृतस्रवा) अग्र्य कलिका और काम-पुष्प (Passion flower) की लता में पत्रकोणोद्भव कलिका का सूत्र में रूपान्तर होता है। कूष्माण्ड कुल की लताओं (पटोल, कद्दू, इन्द्रायण आदि) में सूत्र पत्रकोण के कुछ पार्श्व में रहते हैं पर साधारणतः काण्ड के ही रूपान्तर माने जाते हैं।

काण्ड के भौमिक रूपान्तर :—काण्ड यद्यपि स्वभावतः ऊर्ध्वगामी अथवा ऊर्ध्ववर्धिष्णु होता है तो भी कुछ काण्ड नीचे ज़मीन में बढ़ते हैं; ऐसे काण्ड **भौमिक** (underground) कहे जाते हैं। चूंकि इन्हें ज़मीन के नीचे अस्वाभाविक परिस्थिति में बढ़ना पड़ता है इसलिये सामान्य **वायव्य** (Aerial) काण्ड से रंग रूप में ये कुछ न कुछ भिन्न होते हैं और काण्ड के रूपान्तर माने

जाते हैं। आकार तथा वृद्धि-दिशा आदि में विभिन्नता होने के कारण ये कई प्रकार के होते हैं परन्तु सभी काण्ड-प्ररोह की विधि से पुनरुत्पत्ति का कार्य सम्पन्न करते हैं। रूपान्तर की मात्रा के अनुसार भौमिक काण्ड (१) **सामान्य** और (२) **विशेष** दो प्रकार के होते हैं। सामान्य भौमिक-काण्ड सामान्य वायव्यकाण्ड के सदृश होते हैं परन्तु ज़मीन के अन्दर रहने के कारण वे हरे रंग तथा सामान्य हरी पत्तिओं से वंचित रहते हैं। वे रंग में प्राय: सफेद या भूरे और ग्रंथिओं पर आगन्तुक मूल तथा शल्क-पत्रों से युक्त रहते हैं। अन्य भौमिक काण्डों की तरह खाद्य पदार्थों का संचय इनमें नहीं रहता अत: इनके आकार में कोई परिवर्तन नहीं आता।

सामान्य भौमिक काण्ड :--(१) **अन्तर्धावी** (stolon.) और (२) **बहिर्मुखधावी** (Sucker) दो प्रकार के होते हैं। अन्तर्धावी काण्ड प्रायः बहिर्धावी काण्ड के सदृशहोते हैं परन्तु ये जमीन के नीचे थोड़ी गहराई पर क्षैतिज दिशा में बढ़ते हैं और कुछ दूर जाने पर इनकी अग्रय कलिका ऊपर की ओर बढ़कर जमीन के ऊपर आ जाती है और एक नवीन पौधे के रूप में उसका विकास होता है। अरारूट, काचू तथा शृगालेक्षु में अन्तर्धावी काण्ड होते हैं। कुछ लोग अन्तर्धावी और बहिर्धावी दोनों काण्डों को भू-स्तारी काण्ड कहकर एक ही मानते हैं। **बहिर्मुखधावी** काण्ड पुदीना, गुलदाउदी तथा गुलाब में होता है। यहाँ वायव्य प्रधान काण्ड का कुछ भाग जमीन में रहता है। इस भौमिक भाग से जो शाखायें निकलती हैं वे प्रायः तिरछी होकर ऊपर की ओर बढ़ती हैं और ग्रंथिओं पर आगन्तुक मूल उत्पन्न करती जाती हैं। जनक से कुछ दूरी पर ये शाखायें ज़मीन के बाहर निकलती हैं और उपमूलों द्वारा नये पौधों के रूप में स्थापित कर दी जाती हैं।

विशेष प्रकार के भौमिक काण्ड:--वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होते ही सारी पृथ्वी अनेक प्रकार के उद्‌भिज्जों से ढक जाती है परन्तु शीतकाल प्रारम्भ होते ही उनमें अनेक जातिओं के पौधे सूखने लगते हैं क्योंकि अधिक शीत उनके लिये असह्य होता है। इसी प्रकार शीतकाल में उगने वाली अनेक वनस्पतियाँ ग्रीष्म ऋतु के आने पर अधिक गर्मी बर्दाश्त न कर सकने के कारण नष्ट हो जाती हैं। बड़े २ वृक्ष और गुल्म ऐसी अवस्थाओं में अनेक उपायों द्वारा

अपनी रक्षा का प्रबन्ध कर लेते हैं। क्षुप अथवा शाकीय वनस्पतिओं में कुछ तो अपने अल्प जीवन-काल में प्रतिकूल ऋतु के आने के पहले ही फूल-फल उत्पन्न कर अपनी परम्परा को क़ायम कर जाती हैं परन्तु कुछ इस संकटकाल में अपनी जीवनरक्षा दूसरी तरह से करती हैं। जैसे मेढक प्रतिवर्ष कुछ समय के लिये ज़मीन के अन्दर जाकर निष्क्रिय बना पड़ा रहता है उसी प्रकार इन वनस्पतिओं का वायव्य भाग तो सूख जाता है परन्तु उनका भौमिक भाग सुप्तावस्था में ज़मीन के अन्दर पड़ा रहता है। यह भौमिक भाग प्रायः भौमिक काण्ड होता है जिसकी कलिकायें अनुकूल समय आने पर बढ़कर नये पौधे के रूप में ज़मीन के ऊपर आ जाती हैं। इसी तरह प्रतिवर्ष इन वनस्पतिओं की पुनरुत्पत्ति हुआ करती है। ऊपर से देखने में यद्यपि ये एक-वर्षायु मालूम होती हैं परन्तु वस्तुतः शाकीय होती हुई भी वे बहु-वर्षायु होती हैं। ऐसी ही वनस्पतिओं में विशेष प्रकार के भौमिक काण्ड होते हैं।

जब इनकी भौमिक कलिकाओं का विकास प्रारम्भ होता है उस समय खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है इसलिये भौमिक काण्ड में पिछले वर्ष में ही प्रचुर मात्रा में खाद्य पदार्थ संचित कर दिया जाता है। मैदा तथा शर्करा सदृश खाद्य पदार्थों से परिपूर्ण होने के कारण ये काण्ड प्रायः स्थूल और मांसल होते हैं और सामान्यतः कन्द अथवा शास्त्रीय परिभाषा में **काण्ड-कन्द** कहे जाते हैं। ये कन्द यद्यपि सामान्य काण्ड के रंग और आकार के नहीं होते, फिर भी काण्ड के अन्य लक्षण इनमें उपस्थित रहते हैं। इनमें पर्व और ग्रंथियाँ, ग्रंथिओं पर शल्क-पत्र और उनके कोणों में अक्षियाँ और इनके अग्र पर कलिका होती है। आकारादि के भेद से काण्ड-कन्द चार प्रकार के होते हैं :—

(१) **अन्तर्भूमिशायी** (Rhizome) :—यह मोटा, मांसल और न्यूनाधिक दीर्घीभूत होता है जिससे इसकी ग्रंथियाँ, पर्व, शल्क-पत्र और कलिकायें स्पष्ट मालूम होती हैं। यह प्रायः क्षैतिज दिशा में पृथ्वी के कुछ नीचे पड़ा रहता है और नीचे की ओर से आगन्तुक मूल और ऊपर या पार्श्व से शाखायें निकली हुई रहती हैं। ये शाखायें जब बढ़ कर ऊपर आ जाती हैं तो नये पौधे का रूप धारण कर लेती हैं। ये कन्द कभी २ ज़मीन में तिरछे या खड़े भी रहते हैं और तब इन्हें **मूल-स्तम्भ** (Root-stock) कहते हैं। त्रायमाण (Gentian),

स्याह मुसली और मानकन्द में मूल-स्तम्भ और अदरक, हल्दी, कपूरकचरी, वच, शकाकुल, नागरमोथा तथा कमल में अन्तर्भूमिशायी कन्द होते हैं। ये कन्द प्रायः अनेक शाखा-कन्दों से युक्त होते हैं। कभी तो प्रधान कन्द की अग्र्य कलिका ज़मीन के नीचे २ अपनी वृद्धि करती रहती है और वायव्य शाखायें केवल पत्र-कोणोद्भव कलिकाओं से उत्पन्न होती हैं। ऐसे कन्द **एकांघ्रिक** (Monopodial) कहे जाते हैं—जैसे जङ्गली अरुई में। इसके विपरीत, जहाँ अग्र्यकलिका बढ़कर ऊपर आती है और कन्द अक्षियों के वृद्धि से आगे बढ़ता है वहाँ कन्द को **अनेकांघ्रिक** (Sympodial) कहते हैं। इस प्रकार के कन्द अधिक होते हैं।

(२) **अग्र-कन्द** अथवा **आकन्द** (Tuber) :—सामान्य भौमिक काण्ड का अग्र जब अधिक मात्रा में खाद्य पदार्थों का संचय कर लेने के कारण स्थूल, मांसल और गोलाकार हो जाता है तो उसे अग्र-कन्द कहते हैं। कसेरू, मुस्तक तथा आलू में अग्र-कन्द होते हैं। इनमें अनियमित मूल नहीं निकलते और अक्षियों के लिये इनमें अनेक छोटे २ खड्डे होते हैं जिनके पास सूक्ष्म शल्क-पत्र भी देखे जा सकते हैं। किंचित् लम्बीभूत कन्दों पर अक्षियाँ कुन्तल क्रम से रहती हैं। जिस शाखा का अग्र कन्दाकार होता है उस पर भी ग्रंथि, पर्व तथा शल्क-पत्र होते हैं और वह स्वयं पत्रकोण से निकली रहती है। इन्हीं लक्षणों के आधार पर इन कन्दों को मूल-कन्दों से पृथक् करते हैं और काण्ड का रूपान्तर मानते हैं।

(३) **पूर्ण कन्द** (Corm) :—यह स्थूल, मांसल, आकार में प्रायः गोल और अधिकतर उसका ऊपर तथा नीचे का तल कुछ चिपटा होता है। ऊपरी पृष्ठ पर मध्य में एक बड़ी कलिका होती है और पृष्ठ के शेषभाग पर अन्य छोटी अक्षियाँ भी होती हैं जिनसे शाखाकन्द बनते हैं। कन्द के आधार-भाग से शल्क-पत्र और मूल निकले रहते हैं। अनुकूल समय आने पर ज़मीन के अन्दर पड़ा हुआ कन्द नया पौधा उत्पन्न करता है। अग्र की स्थूल अक्षि से एक बड़ी पत्ती फूट कर बाहर निकलती है और खाद्य पदार्थों का निर्माण करने लगती है। खर्च से बचा हुआ खाद्य पदार्थ पिछले वर्ष के कन्द के ऊपर जमा होकर एक नवीन कन्द तैयार कर देता है; परन्तु यह नया कन्द पुराने कन्द से मिलकर क्रमशः अभिन्न हो जाता है। इसी लिये पूर्णकन्द जितने ही पुराने होते हैं उतने ही स्थूल होते जाते हैं। सूरण, चामुस (सर्पा ?), केशर तथा

सुरंजान (Colchicum) में पूर्णकन्द होते हैं। अरुई में प्रधान भौमिक काण्ड का पूर्णकन्द में और उसकी भौमिक शाखाओं का अन्तर्भूमिशायी अथवा अन्तर्धावी काण्ड में रूपान्तर होता है।

(४) प्रपुष्टपत्रक (Bulb) :--इसमें खाद्य पदार्थों का संचय काण्ड में न होकर उसके शल्क-पत्रों में होता है इसलिये वास्तविक काण्ड बहुत संक्षिप्त और छोटा रह जाता है परन्तु शल्क-पत्र मांसल और स्थूल हो जाते हैं। शल्क-पत्रों के कोण में अक्षियां और उनके मध्य में काण्ड के शीर्ष पर अग्र्य कलिका होती है। अग्र्य कलिका से नये वर्ष का पौधा और अक्षिओं से अतिरिक्त कन्द तैयार होते हैं। कन्द के आधार में काण्ड से अनियमित मूल निकले रहते हैं। पलांडु, रसोन, सुदर्शन, जंगली प्याज (कोलकन्द) तथा जीवक में प्रपुष्टपत्रक कन्द होते हैं। संक्षिप्त काण्ड को यहाँ **काण्डक** (Disc) कहते हैं।

सुदर्शन में मांसल भाग वायव्य पत्तिओं के मांसल और कोशाकार पर्णतलों से बना होता है और प्याज में भीतरी मांसल छिलके और बाहरी पतले एवं शुष्क छिलके स्वयं शल्क-पत्रों के रूपान्तर होते हैं। प्याज में प्रत्येक शल्क-पत्र से पूरा पर्त बनता है और सबसे ऊपर गतवर्ष के कन्द के एक या दो पर्त पतले छिलकों के रूप में वर्तमान रहते हैं। ऐसे कन्द को **परिच्छदपत्रक** (Tunicatd bulb) कहते हैं। जीवक में मांसल शल्क-पत्रों से पूरे पर्त नहीं बनते बल्कि उनके किनारे परस्पर ढके रहते हैं। इनमें बाहरी पतले छिलके भी नहीं होते। ऐसे कन्द **अंशच्छदपत्रक** (Scaly bulb) कहे जाते हैं।

कुछ पौधों में पूर्ण-कन्द और प्रपुष्ट-पत्रक के बीच की अवस्था वाले कन्द होते हैं जिन्हें सान्द्र-पत्रक (Solid bulb) कहते हैं। गुलछड़ी में ऐसे कन्द होते हैं क्योंकि कन्द के मध्य में स्थूल और मांसल काण्ड होता है और उसके ऊपर विष्णुकन्द अथवा सुदर्शन की तरह कई वायव्य पत्तिओं के मांसल पर्णतल भी रहते हैं।

शाखोद्भव (Branching)

काण्ड पर शाखाओं का क्रम शाखोद्भव (शाखाओं का निकलना) के अनुसार होता है। यद्यपि पौधों में प्रारम्भिक काण्ड ज्यों २ बढ़ता है त्यों २ वह प्रायः शाखा-प्रशाखा उत्पन्न करता जाता है परन्तु ताड़, खजूर तथा सुपारी की तरह कुछ उद्भिज्जों के काण्ड निःशाख भी होते हैं।

शाखोद्भव :--(१) **पार्श्विक** (Lateral) और (२) **द्विविभक्त**--(dichotomous)--दो प्रकार का होता है। पार्श्विक शाखोद्भव में शाखायें काण्ड के पार्श्व से निकलती हैं और द्विविभक्त क्रम में काण्ड का अग्र विभक्त होकर दो शाखायें उत्पन्न करता है।

पार्श्विक शाखोद्भव :—यह भी—(१) **एकवर्ध्यक्ष** (Racemose) (२) और **बहुवर्ध्यक्ष** (cymose)--दो प्रकार का होता है। एकवर्ध्यक्ष शाखोद्भव में मुख्य काण्ड या अक्ष शुंग के द्वारा बिना रुकावट के बढ़ता रहता है और उसके पार्श्व से पत्र कोणों में गोपुच्छाकार क्रम से शाखायें निकलती जाती हैं। देवदारु, चीड़, फाश तथा अशोक में इसी क्रम से शाखायें निकलती हैं। इस क्रम में अक्ष या काण्ड को **एकांघ्रिक** (Monopodial) कहते हैं। बहुवर्ध्यक्ष क्रम में मुख्य काण्ड कुछ वृद्धि कर लेने पर बढ़ना बन्द कर देता है और उसके कुण्ठित अग्र के नीचे पार्श्व से शाखायें निकलती हैं। इनकी बाढ़ भी कुछ समय के बाद रुक जाती है और प्रशाखा निकल कर बढ़ती है। यही क्रम जारी रहता है। कुण्ठित अग्र की वृद्धि या तो पूर्णतः रुक जाती या बहुत मन्द पड़ जाती है। पार्श्वीय शाखा या शाखायें प्रधान काण्ड का स्थान लेने के लिये इतनी जोरदार वृद्धि करती हैं कि कुण्ठित अग्र विलीन हो जाता है या कुछ बढ़ कर काँटा, सूत्र या पुष्प के रूप में बदल जाता है। यदि शाखा अकेली होती है तो रूपान्तरित अग्र एक किनारे हो जाता है और शाखा की तरह मालूम होने लगता है और वास्तविक शाखा प्रधान काण्ड मालूम होने लगती है। रूपान्तरित छोटा काण्ड पत्ती के अभिमुख रहता है इसलिये उसे नियमतः शाखा नहीं कह सकते। इस क्रम में काण्ड अथवा अक्ष को **अनेकांघ्रिक** (Sympodial) कहते हैं। अंगूर, अम्लपर्णी, अस्थिसंहार, करौंदा तथा गुलाबांस में इसी क्रम से शाखोद्भव होता है।—करौंदा, क्षीरचम्पक, गुलाबांस तथा किशमिश कावली में ऐसा मालूम होता है कि अग्र के द्विविभक्त होने से दो शाखायें बन गई हैं। कुंठित अग्र के किसी कारण से नष्ट या विलीन हो जाने से ऐसी भ्रममूलक अवस्था उत्पन्न होती है। यहाँ शाखोद्भव को **द्विभक्ताभास** कहते हैं।

दोनों प्रकार के शाखोद्भव में प्रत्येक ग्रंथि पर निकलने वाली शाखाओं की संख्या के अनुसार उसे **एक-शाखी** (uniparous), **द्वि-शाखी** (Biparous) अथवा **बहु-शाखी** (multiparous) कहते हैं। एक-शाखी एकवर्ध्यक्ष शाखो-

द्भव के भी :—(१) **एकोद्भव** (Helicoid) और (२) **उभयोद्भव** (Scorpioid,—दो भेद होते हैं। एकोद्भव में शाखायें बार २ किसी एक ओर (दाहिने या बाँयें) निकलती हैं—जैसे अशोक में। उभयोद्भव में वे दोनों ओर बारी २ से निकलती हैं-जैसे अंगूर में। इन दोनों भेदों में अक्ष को कुण्डली के या टेढ़े-मेढ़े आकार का होना चाहिये परन्तु जोरदार वृद्धि के कारण शाखायें अक्ष को सीधाई में बढ़ती हैं और अक्ष सीधा बना रहता है।

द्वि-विभक्त शाखोद्भव अधिकतर अपुष्प उद्भिजों में पाया जाता है। सपुष्पों में यह क्रम केवल अपवाद रूप में किसी २ पौधे में पाया जाता है जैसे-केवड़ा तथा दानकुनी में। इस क्रम में भी कहीं २ प्रत्येक ग्रंथि पर एक ही शाखा का विकास होने के कारण एकोद्भव अथवा उभयोद्भव भेद प्रगट हो जाते हैं।

काण्ड के कार्य

काण्ड के :—(१) **सामान्य** और (२) **विशेष** दो प्रकार के कार्य होते हैं।

सामान्य कार्यः—(१) काण्ड शाखा, पत्ती, पुष्प तथा फल के लिये **आधारभूत** रहता है। उस पर शाखादि इस प्रकार क्रमबद्ध रहती हैं कि वे अपना २ कार्य अच्छी तरह कर सकती हैं। काण्ड की वृद्धि भी प्राय: इतनी और इस ढङ्ग से होती है कि पत्र-पुष्पादि को निकलने का आवश्यकतानुसार पर्याप्त स्थान मिल जाता है। काण्ड पर पत्तियाँ इस प्रकार बिखरी रहती हैं कि उनकी अधिक से अधिक संख्या सूर्य-प्रकाश को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त कर सकती हैं। पुष्प भी तने पर विशेष प्रकार से क्रमबद्ध होकर कीट-पतंगों के द्वारा पराग का विकरण कर सकते हैं। फल तथा बीज भी अपने २ विकरण के निमित्त की गई व्यवस्थाओं का उचित लाभ उठा सकते हैं। तने का आधार पाकर पत्र और पुष्प अधिकाधिक संख्या में उत्पन्न होकर क्रमशः पर्याप्त भोजन और बीज उत्पन्न करते हैं।

(२) काण्ड का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य **संवाहन** (Conduction) का है। भूमि से मूल द्वारा शोषित क्षारमिश्रित जल को रसवाहिनिओं द्वारा ऊपर ले जाकर पत्रादि निर्माण-केन्द्रों में पहुँचाना और वहाँ बने हुये खाद्य पदार्थों को उन-भागों में पहुँचाना जहाँ उनकी तत्काल आवश्यकता हो अथवा जहाँ भविष्य के लिये उनके संचय की व्यवस्था हो-ये सभी कार्य काण्ड के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

(३) सामान्य काण्ड खाद्य पदार्थों का कुछ न कुछ **संचय** (Storage) भी करते हैं। गुडूचीकाण्ड से जो गुडूची सत्व निकलता है अथवा साबू (Sago) वृक्षों के काण्ड से मंड (Starch) निकाल कर जो साबूदाना तैयार किया जाता है वह काण्ड के अन्दर संचित मंड ही होता है।

(४) खाद्य पदार्थों के **निर्माण** (Food manufacture) में भी प्रायः सभी पौधों के नवीन और हरे काण्ड कुछ न कुछ भाग लेते हैं।

खाद्य पदार्थों का निर्माण और संचय सामान्य काण्ड के लिये गौण कार्य हैं। इसलिये जब विशेष रूप से ये कार्य उसे करने पड़ते हैं तो उसे अपना रूपान्तर करना पड़ता है।

विशेष कार्यः—काण्ड के रूपान्तरों के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि अन्य अंगों की तरह काण्ड को भी परिस्थितिवश होकर विशेष कार्य करने पड़ जाते हैं और तब कार्य के अनुसार उसे अपना स्वरूप बदलना पड़ता है। प्रत्येक रूपान्तर का किसी न किसी विशेष कार्य से सम्बन्ध होता है जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। सारांश रूप में काण्ड के निम्नांकित विशेष कार्य होते हैं:—

(१) खाद्य **पदार्थों का संचय** :—कलिका-कन्द तथा चार प्रकार के काण्डकन्दों द्वारा।

(२) **अवलम्बन** :—तन्तुभूत और बडिशाकार कंटकीभूत काण्डों द्वारा।

(३) **संरक्षण** :—अत्यधिक उत्स्वेदन और प्राणिओं से बचने के लिये कण्टकीभूत काण्ड द्वारा।

(४) खाद्य **पदार्थों का निर्माण** और **जल-संचय** :—पत्राभास काण्ड द्वारा।

(५) **पुनरुत्पत्ति** :—कलिका-कन्द, चारों प्रकार के काण्ड-कन्द तथा सामान्य भौमिक और वायव्य रूपान्तरों द्वारा।

(६) **शोषण** (Absorption) :—जलमग्न काण्ड द्वारा।

काण्डभेद से उद्भिजों के भेद

उद्भिजों के काण्ड की मृदुलता या कठोरता, स्थितिकाल, लम्बाई या ऊँचाई और वृद्धि में अवलम्ब की अपेक्षा-इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे उद्भिज की रहन-सहन (Habit) अथवा उसके स्थूल स्वरूप का निर्णय होता है। जो काण्ड बहुत मुलायम होते हैं और जिनके तोड़ने में कोई ध्वनि नहीं होती उन्हें **शाकीय** (Herbaceous) कहते हैं। जो काण्ड कठोर होते हैं और

जिनके तोड़ने में ध्वनि होती है उन्हें **काष्ठीय** (Woody) कहते हैं। बहुत से पौधों में काण्ड ऊपर की ओर शाकीय और नीचे काष्ठीय होता है। जो काण्ड अपनी वृद्धि के लिये किसी आश्रय की अपेक्षा रखते हैं उन्हें **परावलम्बी** (Weak) और जो बिना किसी आश्रय के बढ़ते हैं उन्हें **स्वावलम्बी** (Erect) कहते हैं। आयु एवं स्थिति-काल के अनुसार उद्भिज्ज अथवा काण्ड **एक-वर्षायु** (Annual), **द्वि-वर्षायु** (Biennial) अथवा **बहुवर्षायु** (Perennial) होते हैं। उद्भिज्जों की रहन-सहन तथा स्थूल स्वरूप के आधार पर उनके कई भेद होते हैं जिनका वर्णन नीचे दिया गया है।

(१) **वृक्ष** (Tree) :--जो उद्भिज्ज बहुत ऊँचे हों, जिनका काण्ड स्वावलम्बी, स्थूल, काष्ठीय और बहुवर्षायु हो और जिनमें निःशाख स्कन्ध हो वे सामान्यतः वृक्ष कहे जाते हैं। ऊँचाई के अनुसार उन्हें महावृक्ष, वृक्ष तथा वृक्षक की संज्ञायें भी दी जा सकती हैं। देवदारु, आम, शीशम तथा आँवला वृक्ष के उदाहरण हैं। वृक्ष के आकार के अनुसार उसे **ऊर्ध्वकृष्ट** (Excurrent) अथवा **पार्श्वकृष्ट** (Deliquescent) कहते हैं। ऊर्ध्वकृष्ट वृक्षों में प्रधान काण्ड या अक्ष बराबर ऊपर बढ़ता जाता है और प्रधान बना रहता है जिससे वृक्ष स्तूपाकार मालूम होता है--जैसे देवदारु तथा नकली अशोक के वृक्ष। वट-वृक्ष पार्श्वकृष्ट होता है क्योंकि इसमें प्रधान अक्ष की अपेक्षा शाखाओं का विस्तार अधिक होता है।

(२) **गुल्म** (Shrub) :--गुल्म प्रायः एक पुरुष पर्यन्त ऊँचे और उनके काण्ड काष्ठीय होते हैं परन्तु इनमें स्पष्ट स्कन्ध नहीं होता और मूलभाग से ही अनेक शाखायें निकली रहती हैं। छोटे झाड़ीदार गुल्मों को **गुल्मक** (undershrub) कहते हैं। धातकी, एरण्ड तथा जपा गुल्मजाति के और अर्क, दन्ती तथा बैंगन गुल्मक जाति के पौधे होते हैं।

(३) **क्षुप** अथवा **शाक** (Herb)--जो उद्भिज्ज अल्पायु और मृदु काण्ड के हों और ऊँचाई में सबसे कम हों वे क्षुप कहे जाते हैं। बहुत छोटे और मृदु होने पर उन्हें **क्षुपक** भी कह सकते हैं।

वृक्ष और गुल्म केवल बहुवर्षायु होते हैं और क्षुप अधिकतर एकवर्षायु और कुछ द्विवर्षायु तथा बहुवर्षायु भी होते हैं। एकवर्षायु उद्भिज्ज कुछ महीनों अथवा अधिक से अधिक एक वर्ष तक जीवित रहते हैं। द्विवर्षायु पौधे दो वर्ष अथवा दो ऋतु तक रहते हैं परन्तु पहले वर्ष या ऋतु में वर्धि-कायिक व्यापारों का और दूसरे वर्ष या ऋतु में प्रजननात्मक व्यापारों का प्राधान्य रहता है। शीत प्रदेशों में जो दो वर्ष तक रहते हैं उष्ण प्रदेशों में वे प्रायः दो ऋतुओं में ही सूख जाते हैं। जो पौधे एक बार लग जाने पर प्रति वर्ष सूख कर भी समय पर नये होकर निकलते रहें उन्हें **बहुवर्षायु क्षुप** (Herbaceous perennials) कहते हैं। भूमि-आँवला, स्वर्णक्षीरी तथा रास्ना एकवर्षायु, मूली, गाजर तथा सलगम द्विवर्षायु और हल्दी, अदरक, प्याज तथा सूरण आदि बहुवर्षायु क्षुप होते हैं।

(४) **लता** अथवा **परावलम्बी उद्भिज्ज**—जिन पौधों के काण्ड दुर्बल होने के कारण स्वयं खड़े नहीं रह सकते अतः वे भूमि पर फैले रहते हैं या वृक्षादि अन्य वस्तुओं का आश्रय पाकर उन पर चढ़े रहते हैं उनको लता कहते हैं। लतायें भी चार प्रकार की होती हैं:--

(क) **प्रसर**--जिनके काण्ड जमीन से निकलते ही अथवा कुछ ऊपर बढ़ने पर ज़मीन पर फैलकर बढ़ें उन्हें प्रसर कहते हैं। कुछ प्रसरों की बाढ़ मर्यादित होती है--जैसे कंटकारी, गोक्षुरु, शंखपुष्पी तथा जलनिम्ब की--और कुछ प्रसर अमर्याद रूप से बढ़ते हुये बहुत दूर तक फैल जाते हैं--जैसे दूर्वा। दूर्वा सदृश लताओं में ग्रंथिओं से आगन्तुक मूल निकलते हैं जो काण्ड को स्थानबद्ध करके पौधे का पोषण भी करते हैं। लताओं के काण्ड को **प्रसरी** (Prostrate) कहते हैं यदि वह सामान्य रूप से जमीन पर फैला रहता है। यदि उनके काण्ड में कुछ दूर तक फैलकर ऊपर की ओर उठने की प्रवृत्ति रहती है तो उसे **उत्थित-प्रसरी** (decumbent) कहते हैं। यदि पुनर्नवा की तरह काण्ड की अनेक शाखायें होकर चारों ओर फैली हों तो उसे **परिप्रसरी** (Diffuse) कहते हैं। दूर्वा की तरह यदि ग्रन्थियों से मूल निकले हों और काण्ड की अमर्याद वृद्धि हो तो उसे **ग्रंथिमूल-प्रसरी** (Creeping) कहते हैं।

(ख) **आरोहिणी** (Climber)--जो लतायें आश्रय को काण्ड से

बिना लपेटे ही उसके ऊपर चढ़ी रहती हैं उन्हें आरोहिणी कहते हैं। आरोहिणी लताओं का सम्बन्ध आश्रय से दृढ बना रहे, इसलिये आश्रय को पकड़ने का कोई न कोई साधन अवश्य होता है। साधनभेद से आरोहिणी लतायें चार प्रकार की होती हैं। जिनमें काण्ड से अनेक उपमूल (अवलम्बकमूल) निकल कर आश्रय से चिपके हुये हों उन्हें **मूलारोहिणी** (Root-climber) कहते हैं–जैसे पान तथा गजपिप्पली। अनेक लताओं में पत्ती या शाखा के स्थान में सूत्र सदृश अवयव निकलते हैं जो आश्रय को लपेट लेते हैं। कद्दू, अंगूर, देशी सार्सापरीला तथा मटर की ऐसी ही लतायें होती हैं जिन्हें **सूत्रारोहिणी** (Tendril-climber) कहते हैं। आरोहण के लिये बहुत लताओं में वडिशाकार काँटे भी होते हैं--जैसे लताकरंज, वेंत, लतागुलाब, तथा बाग-विलास में। इन्हें **वडिशारोहिणी** (Hook-climbers) कहते हैं। किसी २ लता में पत्राग्र अथवा पर्णवृन्त स्पर्शग्राही होने के कारण सूत्र सदृश होकर आश्रय को लपेटे रहता है। मोरवेल में पर्णवृन्त और कलिहारी में पत्राग्र इस प्रकार का होता है। इन्हें **पत्रारोहिणी** (Leaf-climber) कह सकते हैं।

(ग) **वल्ली** (Stem-twiner)--जिन लताओं का काण्ड आश्रय को लपेट कर ऊपर बढ़ता है उन्हें वल्ली कहते हैं। जो वल्ली बाई ओर से आश्रय को लपेटती है उसे **वामावर्तिनी** (Sinistrorse) और जो दाहिनी ओर से उसे लपेटती है उसे **दक्षिणावर्त्तिनी** (Dextrorse) कहते हैं। उत्तमारणी, अमृतस्रवा तथा हिरनखुरी प्रजाति की वल्लियाँ वामावर्तिनी और जीवन्ती, मूर्वा, विदारी, वाराही तथा गुडूची की लतायें दक्षिणावर्तिनी होती हैं।

(घ) **प्रतानिनी** (Lianes)--घने जङ्गलों में ऊँचे २ वृक्षों के शिखर पर फैली हुई मोटे और काष्ठीय काण्ड की विशाल लतायें होती हैं जो वल्ली की तरह काण्ड के द्वारा आश्रय को लपेटे रहती हैं। नीचे पर्याप्त प्रकाश न मिलने के कारण इनमें शाखाओं और पत्तियों की अधिक उत्पत्ति तभी होती है जब वे वृक्षों के शिखर पर पहुँच जाती हैं। ऐसी विशाल वल्लिओं को प्रतानिनी कहते हैं। माधवीलता, मालभन तथा लतापलाश इसके उदाहरण हैं।

परिच्छेद ३

पर्ण (Leaf)

काण्ड या शाखा की ग्रंथि से निकला हुआ प्रायः हरा और चिपटा पार्श्विक प्रवर्धन जिसके ऊपरी कोण में अक्षि निकले पत्ती, पत्र या पर्ण कहा जाता है। यह उद्भिज्जों का बड़ा महत्वपूर्ण अङ्ग है क्योंकि खाद्य पदार्थों का निर्माण और उनके द्वारा उद्भिज्ज-शरीर का भरण-पोषण करना इसका मुख्य कार्य है। 'पर्ण' शब्द की निरुक्ति से ऐसा मालूम होता है कि प्राचीनों को भी इसके प्रधान गुण कर्म का ज्ञान था। *'पर्ण' शब्द की व्युत्पत्तियों से पर्ण का स्वयं हरा होना, उद्भिज्जों में हरापन लाना और खाद्य सामग्री उत्पन्न करके उद्भिज्ज का पालन, पोषण और तर्पण करना पर्ण के ये गुण-कर्म व्यक्त होते हैं। 'पत्र' शब्द इसकी पतनशीलता (पततीति पत्रम्) को व्यक्त करता है। उद्भिज्ज के तीनों अधिष्ठापक अंगों में पत्र ही ऐसा अंग है जो बार बार गिरता और नया उत्पन्न होता है।

पर्ण के सामान्य कार्य :—

खाद्य सामग्री का निर्माण, श्वसन और उत्स्वेदन-पत्ती के सामान्य और मुख्य कार्य हैं।

(१) **खाद्य पदार्थों का निर्माण:**—पत्ती का यह सबसे प्रधान कार्य है। इस कार्य के लिये उसे वायुमण्डल से प्रांगार-द्विजारेय और पृथ्वी से क्षारमिश्रित जल मिलता है। जल मूल द्वारा शोषित होकर मूल और काण्ड की रसवाहिनिओं द्वारा आता है और प्रांगार-द्विजारेय को पत्तियाँ स्वयं वायुमण्डल से लेती हैं। इन दोनों के मिलने से पत्ती के अन्दर कुछ रासायनिक क्रियायें होती हैं जिनके अन्त में मुख्यतः शर्करा और मण्ड श्रेणी के खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जल के साथ आये हुए अनेक क्षार-द्रव्य फिर शर्करादि से मिलकर प्रोभूजिन

---

* 'पर्ण' शब्द 'पर्ण' हरितभावे, 'पृ' पालनपूरणयोः, अथवा 'पृण' प्रीणने, इन धातुओं से 'पर्णयतीति पर्ण'=जो स्वयं हरा होकर उद्भिज्ज में हरापन लाता है, 'पिपर्तीति पर्ण'=जो उद्भिज्ज का पालन और पोषण करता है, अथवा 'पृणातीति पर्ण=जो उद्भिज्ज का प्रीणन-तर्पण करता है, वह **पर्ण** कहलाता है--इन तीनों में से किसी एक व्युत्पत्ति से बनता है। **आचार्य यादव जी द्रव्यगुण-विज्ञान** से उद्धृत।

आदि अन्य खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। प्रारम्भ की रासायनिक क्रियाओं के लिये ऊर्जा सूर्य प्रकाश से मिलती है और शादि-घटन (Chloroplast) सम्भवतः यन्त्र का काम करते हैं। यही कारण है कि यह क्रिया प्रकाश (दिन) में और पत्तियों एवं हरे अंगों में ही होती हैं।

(२) **वातिय विनिमय** (Gaseous exchange) श्वसन एवं खाद्य पदार्थों के निर्माण के लिये पत्ती को वायुमण्डल से वातिय विनिमय करना पड़ता है। पत्र-पृष्ठ विशेषतः पत्ती के अधर पृष्ठ पर आण्वीक्ष श्वसन-रन्ध्र होते हैं जो प्रायः दिन में खुले रहते हैं। श्वसन में जितना जारक इन छिद्रों से भीतर आता है उतना ही प्रांगार-द्विजारेय पत्ती से बाहर निकलता है और निर्माण-कार्य में जितना प्रांगार-द्विजारेय भीतर आता है उतना ही जारक बाहर निकलता है।

(३) **उत्स्वेदन** (Transpiration):—मूल के द्वारा पृथ्वी से जल का शोषण होता रहता है इस लिए प्रायः आवश्यकता से अधिक जल भीतर आ जाता है। क्षार मिश्रित जल को पत्ती के निर्माण-केन्द्रों में जाना आवश्यक होता है इसलिए आवश्यकता से अधिक आये हुए जल को फिर बाहर निकालना पत्तियों का ही मुख्य कार्य हो जाता है। यह जल सूर्य ताप से बाष्प में बदल कर श्वसन-रन्ध्रों द्वारा बाहर निकलता है।

इन सामान्य कार्यों के अतिरिक्त पत्तियाँ अन्य अंगों की तरह रूपान्तरित होकर कई विशेष कार्य करती हैं जिनकी चर्चा तत्सम्बन्धी रूपान्तरों के साथ की गई है।

पर्ण के विभाग :—पर्ण के तीन मुख्य भाग होते हैं; (१) **पर्ण–तल** (leaf–base) (२) **पर्णवृन्त** (Petiole) और (३) **फलक** (Blade) अथवा (Lamina)

पर्णतल—

पर्ण का जितना भाग काण्ड या शाखा की ग्रन्थि पर लगा रहता है उतने भाग को पर्णतल कहते हैं। अधिकतर पर्णतल पर्णवृन्त से भिन्न नहीं मालूम होता क्यों कि वह पर्णवृन्त का केवल अधोभाग होने से वृन्त ही जैसा होता है। परन्तु कहीं २ वह मोटा और गद्दीदार हो जाता है। यहाँ उसे **विशिष्टतल**

(Pulvinus) कहते हैं। विशिष्टतल वाली पत्तियाँ प्रायः गतिशील होती हैं और कई अहितकर अवस्थाओं में आत्मरक्षा के निमित्त अपनी स्थिति बदल देती हैं। जैसे, लजावन्ती की पत्तियाँ स्पर्श करने पर अथवा कड़ी धूप होने पर सिमट जाती हैं और चक्रमर्द में प्रायः दोपहर या शाम को उनके पत्रकयुग्म एक साथ जुट जाते हैं।

कहीं २ पर्णतल चौड़ा, चिपटा और पतला हो कर काण्ड पर फैला रहता है और उसे अंशतः या पूर्णतः घेर लेता है। ऐसे पर्णतल को **कोषाकार** (Sheathing) कहते हैं। ऐसा पर्णतल एक बीजपत्र वनस्पतिओं (जैसे-केला, दूर्वा, हल्दी, मकई तथा गन्ना) में प्रायः नियमित रूप से पाया जाता है। जीरक-कुल तथा अतीस-कुल की द्वि-बीजपत्र वनस्पतिओं में भी कोषाकार पर्णतल होता है। कोषाकार पर्णतल से अक्षिओं को पर्याप्त संरक्षण मिलता है। गोधूम-कुल के पौधों में कोषाकार पर्णतल और फलक के जोड़ पर एक पतली झिल्ली अथवा रोम-रेखा होती है जिसे **जिह्विका** (ligule) कहते हैं। गोधूम आदि में कोष काण्ड को घेरे रहता है और काण्ड के चारों ओर कोष के भीतर वायु भरा रहता है जो ताप का कुचालक होने से तापजन्य हानिकारक प्रभावों से काण्ड की रक्षा करता है। जिह्विका इस वायुपूर्ण स्थान में जल तथा कीड़ों का प्रवेश नहीं होने देती।

द्विबीजपत्र वनस्पतिओं में जहां कोषाकार पर्णतल नहीं होता, अक्षियों की रक्षा के लिये पर्णतल के दोनों ओर प्रायः एक २ छोटे २ पत्र निकले रहते हैं जिन्हें **उपपत्र** (Stipule) कहते हैं। जिन पत्तिओं के साथ उपपत्र होते हैं उन्हें **सोपपत्र** (Stipulate) और जिनके साथ नहीं होते उन्हें **अनुपपत्र** (Ex-stipulate) कहते हैं। सदलपर्ण के दलों के साथ भी कहीं २ उपपत्र होते हैं जिन्हें उपपत्रक (Stipel) कहते हैं। उपपत्रक रहने पर दलको **सोपपत्रक** (Stipellate) अन्यथा **अनुपपत्रक** (Ex-stipellate) कहते हैं।

उपपत्रों के भेदः—आकार, स्थिति, कद तथा रंग आदि के आधार पर उपपत्रों के निम्नांकित भेद होते हैं :—

(१) **मुक्तपार्श्विक** (Free-lateral)--यदि दोनों उपपत्र पर्णतल के दोनों ओर स्वतंत्र रूप से निकले हों :--जैसे जपा, कपास, इमली तथा अगस्त में।

(२) **पत्रकोणीय** (Axillary) :--अभिमुख पर्णक्रम में जब प्रत्येक पत्ती

के दोनों उपपत्र समीपवर्ती किनारों पर परस्पर मिलकर एक हो गये हैं और पत्रकोण में पाये जाँय-जैसे गन्धराज तथा डीकामाली में।

(३) **वृन्तमध्यग** (Interpetiolar)-अभिमुख पर्णक्रम में जब एक पत्ती का उपपत्र दूसरी पत्ती के समीपवर्ती उपपत्र से मिलकर एक हो गया हो और दोनों पत्तिओं के बीच में स्थित हो—जैसे मजीठ, कदम्ब तथा गन्ध-प्रसारणी में।

(४) **वृन्तलग्न** (Petiolar)—यदि दोनों उपपत्र वृन्त से संयुक्त अर्थात् उससे मिलकर निकले हुये हों-जैसे मूंगफली, गुलाब तथा चांगेरी में।

(५) **अभिमुख** (Opposite)—जब दोनों उपपत्र मिलकर एक हो गये हों और पत्ती के सामने काण्ड के दूसरी ओर स्थित हों-जैसे एरण्ड तथा बरगद में। कलिकायुष्क (Deciduous) होने के कारण कलिका से पत्ती के अलग होते ही ये सूख कर गिर जाते हैं।

(६) **नालाकार** (Ochreate)—जब दोनों उपपत्र दोनों किनारों पर परस्पर मिलकर काण्ड के चारों ओर एक लम्बा पतली भित्ति का नाल बना लिये हों-जैसे चुक्र-कुल में नालाकार रचना को **औपपत्र नाल** (Ochrea) कहते हैं।

उपपत्रों के रूपान्तरः—उपपत्रों का भी विशेष कार्यों के लिये कहीं कहीं रूपान्तर हुआ रहता है। सार्सापरीला और जङ्गली उशवा की प्रजाति में सूत्रा-रोहिणी लतायें होती हैं। इनके सूत्र वृन्तलग्न उपपत्रों के अग्र पर होते हैं। ऐसे उपपत्र **तन्तुभूताग्र** कहे जा सकते हैं। बेर, बबूल, सेहुँड, लजावन्ती तथा हिंस्रा प्रजाति की वनस्पतिओं में **कंटकीभूत** उपपत्र होते हैं। संरक्षण और कहीं २ बडिशाकार होकर ये काँटे अवलम्बन के भी साधन हो जाते हैं। मटर में उपपत्र बहुत बड़े और वास्तव पर्ण जैसे हो जाते हैं और खाद्य-निर्माण में विशेष भाग लेते हैं। ऐसे उपपत्र **पर्णीभूत** (Foliaceous) कहे जाते हैं। नागकेशर, एरण्ड तथा वट में पर्णकलिका के अन्दर अविकसित वास्तव पर्णों की रक्षा के लिये उनके साथ अन्य रंग और आकार की पत्र-रचनायें होती हैं। ये वस्तुतः संरक्षण के लिये परिवर्तित उपपत्र होते हैं जिन्हें **कलिका-शल्क** (Bud scale) कहते हैं।

पौधों के कुल-विनिश्चय में उपपत्र कभी २ बहुत ही उपयोगी होते हैं-जैसे

शमीधान्य-कुल और कार्पास-कुल में उपपत्र मुक्तपार्श्विक, मंजिष्ठा-कुल में प्रायः पत्रकोणीय या अन्तर्वृन्त, चुक्र-कुल में नालाकार और वट-कुल तथा चम्पक-कुल में कलिका-शल्क होते हैं।

पर्णवृन्त—

पर्णतल और फलक के बीच में पत्ती का डण्ठल या वृन्त होता है। वृन्त साधारणतः रम्भाकार और अपर-पृष्ठ पर कुछ २ चिपटा एवं प्रायः नालीदार होता है जिससे फलक के ऊपर गिरा हुआ जल वृन्त की नाली से बहकर नीचे चला जाता है। पत्तियाँ **सवृन्त** (Petiolate) और **अवृन्त** (Sessile) दोनों प्रकार की होती हैं। सवृन्त पत्तियाँ भी कलिका के अन्दर अवृन्त रहती हैं। कलिका के बाहर निकलने पर उनमें वृन्त बनता है। सवृन्त पत्तिओं में प्रायः कोषाकार पर्णतल नहीं होता। केले में दोनों होते हैं परन्तु वहाँ कई पत्तिओं के कोषाकार पर्णतल मिल कर तथाकथित काण्ड की रचना करते हैं जो वास्तव काण्ड नहीं होता। कोषाकार पर्णतल वाली पत्तियाँ वस्तुतः अवृन्त होती हैं पर वे वास्तविक अवृन्त पत्तिओं से इस बात में भिन्न होती हैं कि उनका फलक काण्ड से प्रत्यक्ष जुड़ा हुआ नहीं रहता। वृन्त साधारणतः फलक-मूल से जुड़ा रहता है परन्तु कभी २–जैसे पाठा, कमल तथा एरन्ड में–फलक के अधर-पृष्ठ पर जुड़ा रहता है। ऐसी पत्ती को **वृन्तगोलायत** (Peltate) कहते हैं। कहीं २ फलक के दोनों किनारे वृन्त के दोनों ओर नीचे की तरफ बढ़कर उससे जुड़े हुये रहते हैं और कभी २ तो अधिक नीचे जाकर काण्ड पर भी फैले रहते हैं। ऐसे पत्ते को **काण्डसम्पृक्त** (Decurrent) कहते हैं। शणपुष्पी तथा मुण्डी में ऐसी पत्तियाँ होत हैं।

पत्ती के लिये वृन्त का मुख्य उपयोग यह है कि इसकी सहायता से फलक पर्याप्त प्रकाश प्राप्त करने के लिये अनुकूल स्थिति में रखा जा सकता है और आवश्यकतानुसार उसकी स्थिति में परिवर्तन भी लाया जा सक्ता है। परन्तु स्थिति–परिवर्तन अधिकतर विशिष्ट-तल वाली पत्तिओं में ही सम्भव होता है। विशेष परिस्थितिओं में इसका रूपान्तर द्वारा विशेष उपयोग भी होता है। आस्ट्रेलिया के बब्बूल प्रजाति की अनेक वनस्पतिओं में प्रायः शिशु अवस्था में सामान्य सदल पर्ण निकलते हैं परन्तु बाद में रूपान्तरित पर्ण निकलते हैं। अन्त में जो

पत्तियाँ निकलती हैं उनमें फलक नहीं रहता और वृन्त तथा पत्रक-दण्ड का कुछ अंश पंख सदृश फैला हुआ निकलता है। फलक के अभाव में यह फलकाकार होकर फलक का कार्य भी करता है। साधारण फलक की तरह यह क्षैतिज स्थिति में नहीं रहता जिससे सूर्य की किरणें उसके पृष्ठ पर सीधी नहीं पड़ती और अधिक जल-त्याग नहीं होने पाता क्योंकि उत्स्वेदन कम करने के अभिप्राय से ही फलक की उत्पत्ति रोकी जाती है। ऐसे पर्णवृन्त को **फलकाभास वृन्त** (Phyllode) कहते हैं। शृंगाटक तथा जलकुम्भी में पर्णवृन्त फूलकर मोटा हो गया रहता है। उसके अन्दर वाति-कूप और छिद्रिष्ठ-ऊति की अधिकता होती है जिससे वह इन वनस्पतियों को पानी के ऊपर तैरने के योग्य हलका बना देता है। ऐसे वृन्त को **स्फीत-वृन्त** कहते हैं।

मोरवेल तथा ईश्वरमूल में वृन्त लम्बा और स्पर्शग्राही होता है और आश्रय को लपेट कर आरोहण में सहायक होता है। नीबू प्रजाति में वृन्त पंख सदृश दोनों ओर फैला रहता है। इसे **सपत्त** (Winged) वृन्त कहते हैं।

फलक (Lamina)

वृन्त के ऊपर लगे हुये पर्ण के पतले और चौड़े भाग को **फलक** कहते हैं। फलक को प्रायः पत्र भी कहा जाता है। पत्ती के सभी मुख्य कार्य इसी भाग के द्वारा होते हैं। उद्भिज्ज-वर्णन में पत्ती का जो आकार और माप लिखा रहता है वह वस्तुतः फलक का ही होता है। फलक के वर्णन में फलक के आधार या मूल, अग्र, आकृति, तट, पृष्ठ, नाड़ी-विन्यास, खण्डीभाव तथा वयन आदि का पृथक् २ वर्णन करना चाहिये।

फलकमूल (Base of lamina) :– जहाँ फलक वृन्त से जुड़ा रहता है और जहाँ से उसके दोनों तट प्रारम्भ होते हैं उस भाग को फलकमूल या पत्र-मूल कहते हैं। फलकमूल के आकार का वर्णन पत्राकृति के साथ किया जायगा। अवृन्त पत्तियों में प्रायः पत्रमूल के दोनों ओर दो खण्ड बनकर ग्रंथि को अंशतः या पूर्णतः घेर लेते हैं ऐसे पत्रों को क्रमशः **पार्श्वकर्णायत** (Semi-auriculate) और **परिकर्णायत** (Auriculate) कहते हैं। कोषाकार पर्णतल को इन अवस्थाओं में **अर्ध-काण्डसंसक्त** (Semi-amplexicaul) और **काण्ड-संसक्त** (Amplexicaul) कहते हैं। परिकर्णायत और पार्श्वकर्णायत पत्र

के दोनों खण्ड ग्रंथि से सटे हुये परन्तु असंयुक्त रहते हैं। किसी २ पौधे में दोनों खण्ड काण्ड के दूसरी ओर जाकर परस्पर मिल जाते हैं और ग्रंथि से भी जुड़े रहते हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है कि काण्ड फलक के बीच से निकला है। ऐसी पत्ती को **परिपत्र** या **क्रोडकाण्डक** (Perfoliate) कहते हैं। जब दो अभिमुख पत्तिओं के पत्रमूल परस्पर मिले रहते हैं और काण्ड उनके मध्य से निकला हुआ प्रतीत होता है तो उन्हें **मिलितमूलक** या **जनियुक्त** (Connate) कहते हैं। दानकुनी में ऊपर की पत्तियाँ इसी प्रकार की होती हैं।

नाड़ी-विन्यास (Venation) :-फलक प्रायः चौड़ा और बहुत पतला होने पर भी सर्वदा फैला हुआ रहता है और इस प्रकार कड़ा बना रहता है कि वह सिकुड़ता या लपेट नहीं खाता। इसके कारण हैं उसकी नाड़ियाँ। फलक में चारों ओर जो नसें फैली रहती हैं उन्हें **नाड़ी** (Vein) कहते हैं। नाड़ियों के कारण तीव्र वायु चलने पर भी फलक फटने नहीं पाता और पत्र-पृष्ठ पर सर्वत्र बराबर प्रकाश पहुँचता है।

इन नाड़ियों में दो प्रकार की रसवाहिनियाँ होती हैं जो सिद्ध एवं असिद्ध खाद्य पदार्थों का संवाहन करती हैं। एक प्रकार की रसवाहिनियाँ (ऊर्ध्ववाहिनियाँ) काण्ड से आये हुये क्षारमिश्रित जल को फलक में चारों ओर पहुँचाती हैं और दूसरी प्रकार की रसवाहिनियाँ (अधोवाहिनियाँ) वहाँ तैयार किये हुये खाद्य पदार्थों को फिर काण्ड में भेजती हैं जहां से फिर आवश्यकतानुसार विभिन्न भागों में उनका वितरण होता है।

पत्तिओं में प्रायः पत्रमूल से पत्राग्र तक फैली हुई एक मोटी मुख्य नाड़ी होती है जिसे **मध्यनाड़ी** (Mid-rib) कहते हैं। फलक की अन्य नाड़ियां या तो केवल मध्यनाड़ी की शाखा-प्रशाखायें होती हैं या अपनी शाखा-प्रशाखाओं के साथ पत्रमूल से निकली हुई अन्य बड़ी नाड़ियां होती हैं। इन सबके द्वारा फलक में जो नाड़ी-पंजर बना होता है उसमें नाड़ियों का क्रम भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। नाड़ियों का क्रम अर्थात् **नाड़ी-विन्यास** (Venation) मुख्यतः दो प्रकार का होता है; (१) **जालिका-विन्यास** (Reticulate) (२) **समदिशविन्यास** (Parallel venation)। जालिका-विन्यास में मध्यनाड़ी एवं अन्य मुख्य नाड़ियों से शाखायें निकल कर और अनियमित रूप से विभक्त होकर अपनी प्रशाखाओं द्वारा परस्पर मिली और गुंथी हुई रहती हैं जिससे

जालिका सदृश रचना बन जाती है। समदिश विन्यास में मुख्य नाड़ी या नाड़ियों की शाखा-प्रशाखायें लगभग समानान्तर रहती हैं। समदिश विन्यास वाले बड़े फलक तीव्र वायु में प्रायः फट जाते हैं और जालिका-विन्यास होने पर तीव्र से तीव्र वायु के झकोरों से भी किनारे नहीं फटते। कहीं २ पत्र-तट के पास नाड़ी-रचना इसी लिये अधिक सघन और मज़बूत होती है। बड़ी जामुन में मध्यनाड़ी के अतिरिक्त दोनों तटों के समीप पत्रमूल से पत्राग्र तक फैली हुई दो अन्य बड़ी नाड़ियां भी रहती हैं।

द्वि-बीजपत्र पौधों में प्रायः नियमित रूप से जालिका-विन्यास होता है। कहीं २–जैसे पुन्नाग में–अपवाद रूप में समदिश विन्यास होता है। एकबीज-पत्र पौधों में इसी तरह कुछ अपवादों को छोड़कर नियमित रूप से समदिश विन्यास होता है। चूंकि इनमें पत्तियां प्रायः बड़ी होती हैं इसलिये यही क्रम उपयुक्त भी प्रतीत होता है। सार्सापरीला तथा वाराही प्रजाति में अपवाद रूप में जालिका-विन्यास होता है।

मुख्य नाड़िओं की संख्या के अनुसार भी नाड़ी-विन्यास दो प्रकार का होता है; (१) **पक्षवत्** और (२) **पाणिवत्**। पक्षवत् क्रम में मुख्य नाड़ी केवल एक होती है और अन्य नाड़ियाँ उसी की शाखा-प्रशाखायें होती हैं। इस क्रम को **एकपर्शुक** (Unicstate) भी कहते हैं। केला, हल्दी तथा बैजन्ती में पक्षवत् समदिश और पीपल, आम तथा अमरूद में पक्षवत् जालिका-विन्यास होता है। पाणिवत् क्रम में पत्रमूल से एक से अधिक मुख्य नाड़ियाँ निकलती हैं। ताड़ में पाणिवत् समदिश और एरण्ड, पपीता तथा ककड़ी में पाणिवत् जालिका-विन्यास होता है। पाणिवत् क्रम में फिर–(१) **अभिसारी** (Convergent) और (२) **अपसारी** (Divergent)–दो भेद होते हैं। पपीता, ताड़ तथा एरण्ड में अपसारी क्रम होता है जिसमें पत्रमूल से निकलने वाली नाड़ियाँ पत्र-तट की ओर बढ़ती हुई एक दूसरे से दूर होती जाती हैं। दालचीनी, बेर, कुचिला तथा बाँस में अभिसारी क्रम होता है जिसमें मुख्य नाड़ियाँ पत्रमूल से निकलने के बाद कुछ टेढ़े होकर बढ़ती हुई पत्राग्र पर फिर परस्पर मिल जाती हैं।

पत्राग्र (Leaf apex)––फलक के दोनों तट जहाँ मिलते हैं और जहाँ मध्यनाड़ी समाप्त होती है उस भाग को पत्राग्र कहते हैं। अग्र कई प्रकार के होते हैं जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है:––

(१) **तीक्ष्ण** (Acute):—यदि फलक के दोनों तट मिलकर न्यून कोण बनावें-जैसे आम में।

(२) **लम्ब** (Acuminate):—यदि अग्र पतला और लम्बा हो—जैसे पीपल में।

(३) **कुण्ठित** (Obtuse):—यदि अग्र गोल हो,—जैसे वट पत्र में।

(४) **नत** (Retuse):—यदि कुण्ठित अग्र मध्यनाड़ी पर किंचित् भीतर की ओर दबा हुआ हो—जैसे जलकुम्भी में।

(५) **द्वि-विभक्त** (Emarginate):—यदि अग्र भीतर की ओर इतना अधिक दबा हुआ हो कि उसके दो विभाग हो गये हों—जैसे काँचनार तथा चांगेरी में।

(६) **रोमश** (Mucronate):—यदि कुण्ठिताग्र पर मध्यनाड़ी के आगे रोम सदृश एक सूक्ष्म और तीक्ष्ण नोक बना हो—जैसे काली कसौंदी में।

(७) शूकी अथवा **कण्टकित** (Spinous):—यदि अग्र काँटे की तरह कठोर और तीक्ष्ण हो--जैसे रामबाँस, खजूर तथा अनानास में।

(८) **रुण्डित** (Truncate):--यदि ऐसा प्रतीत हो कि अग्र काट कर निकाल दिया गया है।

(९) **तन्तुभूत** (Tendrillar):--यदि अग्र का स्पर्शग्राही सूत्र में परिवर्तन हुआ हो--जैसे कलिहारी में।

पत्र-तट (Margin):--फलक के किनारे को पत्र-तट कहते हैं। पत्र तट भी कई प्रकार का होता है। जब तट कहीं से भी खण्डित अथवा कटा हुआ न हो तो उसे **अखण्ड** (Entire) कहते हैं—जैसे वटपत्र में। अखण्ड तट कहीं २ लहर की तरह नीचे ऊपर उठा हुआ रहता है। इसे **तरंग-सदृश** (Wavy) कहते हैं- जैसे नकली अशोक में।

यदि तट पर दांत बने हों तो उसे **दन्तुर** (Toothed) और लम्बे तीक्ष्ण काँटे हों तो **कंटकित** (Spiny) कहते हैं। यदि फलक इतना अधिक कटा हुआ हो कि उसके तट पर स्पष्ट खण्ड बन गये हों तो उसे **खण्डित** (Lobed) कहते हैं। दन्तुर तट के दांत यदि पत्राग्र की ओर झुके हों तो उसे **आरावत** (Serrate) कहते हैं:--जैसे नीम तथा गुलाबों में। यदि दांत पत्रमूल की ओर झुके हों तो तट को **अभ्यारावत्** (Retr

serrate) कहते हैं। यदि तट दाँत पत्र पर समकोण बनाते हुये हों तो उसे **सामान्य दन्तुर** (Dentate) कहते हैं। उपर्युक्त दन्तुर तट के भेदों में दांत तीक्ष्ण और नोकीले होते हैं परन्तु कहीं २–जैसे ब्राह्मी तथा पथचूर में––दांत गोल या कुण्ठित होते हैं। यहां तट को **गोल-छिन्न** या **गोलदन्तुर** (Crenate) कहते हैं।

फलक का खण्डीभाव (Incision of Lamina):—खण्डित पत्र के खण्डोंकी इयत्ता (लम्बाई या गहराई) तथा नाडी–विन्यास के अनुसार पत्ती कई प्रकार की होती है। पक्षवत् नाड़ी–विन्यास वाली पत्ती में यदि खण्ड अधिक से अधिक पत्र–तट और मध्यनाड़ी के बीच की आधी दूरी तक, तीन–चौथाई दूरी तक अथवा इससे भी अधिक लम्बे या गहरे हों तो इन तीनों अवस्थाओं मे पत्ती को क्रमशः (१) **अर्धानुत्तर–पक्षवत्** (Pinnatifid), (२) **त्रिपादानुत्तर–पत्नवत्** (Pinnatipartite) और (३) **त्रिपादोत्तर–पत्नवत्** (Pinnatisect) खण्डित पत्र कहते हैं। पोस्त तथा गुलदाउदी में पहली प्रकार की, मूली तथा सरसों में दूसरी प्रकार की और गेंदा तथा काम लता में तीसरी प्रकार की पत्तियां होती हैं। पाणिवत् नाड़ी–विन्यास वाली तद्विध खण्डित पत्तिओं को **अर्धानुत्तर-पाणिवत्** (Palmatifid), **त्रिपादानुत्तर–पाणिवत्** (Palmatipartite) और **त्रिपादोत्तर–पाणिवत्** (Palmatisect) खण्डित पत्र कहते हैं। कपास तथा भिंडी में पहली प्रकार की, पपीता तथा एरण्ड में दूसरी प्रकार की और अरारूट (Tapoica) में तीसरी प्रकार की पत्तियाँ होती हैं।

खण्डीभाव की उपर्युक्त सभी अवस्थाओं में फलक का एकत्व नष्ट नहीं होता क्यों कि खण्ड एक दूसरे से पूर्णतः पृथक नहीं होते बल्कि मध्यनाड़ी अथवा पत्रमूल के समीप उनका कुछ न कुछ अंश परस्पर मिला रहता है। यदि ये खण्ड एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् हो कर केवल मध्यनाड़ी से अथवा वृन्त के अग्र से अलग २ निकले हुये मालूम हों तो इन्हें **पत्रक** (Leaflet), मध्यनाड़ी को **पत्रक-दण्ड** (Rachis) और सम्पूर्ण पत्ती को **सपत्रक** अथवा **सदल पर्ण** (Compound leaf) कहते हैं।

अपत्रक और सदल पर्ण:—जब तक फलक का एकत्व बना रहता है

तब तक पत्ती को **अपत्रक** (Simple) कहते हैं और जब फलक कई स्वतन्त्र विभागों (पत्रकों) में विभक्त रहता है तो पत्ती को **सपत्रक** (Compound) कहते हैं। जिस प्रकार एक छोटी शाखा में काण्ड से पत्तियाँ निकलती हैं उसी प्रकार सपत्रक पर्ण में पत्रक-दण्ड से पत्रक निकले रहते हैं। इसलिये दोनों की पहचान के लिये निम्नलिखित भेद दर्शक लक्षणों पर ध्यान देना चाहिये :—

(१) शाखा के अग्र पर शुंग होता है परन्तु पत्रक दण्ड अथवा पर्णवृन्त के अग्र पर शुंग नहीं होता।

(२) शाखा स्वयं किसी पर्ण-कोण से निकलती है और उसकी पत्तिओं के कोण में अक्षि होती है परन्तु सपत्रक पर्ण न तो किसी पर्ण-कोण से निकलता और न इसके पत्रकों के कोण में अक्षि होती। स्वयं सपत्रक पर्ण के कोण में अक्षि होती है।

(३) शाखा-काण्ड पर ग्रंथि और पर्व होते हैं परन्तु पत्रक-दण्ड पर ग्रंथि और पर्व नहीं होते। पत्रकों के मूल पर प्रायः जोड़ या सन्धि रहती है। इसके अतिरिक्त शाखा की पत्तिओं की तरह पत्रक गोपुच्छाकार क्रम में नहीं निकलते।

(४) उपपत्र यदि वर्तमान रहते हैं तो वे सर्वदा पर्णवृन्त के मूल पर पाये जाते हैं। पत्रकों के मूल पर वे नहीं रहते। कभी २ पत्रकमूल पर उपपत्रक रहते हैं परन्तु जब उपपत्रक रहते हैं तो उपपत्रों का होना अनिवार्य होता है।

सपत्रक पर्ण **पक्षवत्** अथवा **पाणिवत्** दो प्रकार का होता है। पक्षवत् सपत्रक पर्ण के चार भेद होते हैं ;—

(१) **सकृत्पक्षवत्** (Simple pinnate)—जब पत्रक-दण्ड निःशाख हों और पत्रक उसी एक मध्यदण्ड से उसके दोनों ओर निकले हों-जैसे गुलाब तथा नीम में। जब पत्रक सम-**संख्यक** हों तो पत्ती को **सम-पक्षवत्** (Paripinnate) और जब वे विषम संख्या में हों तो **असम-पक्षवत्** (Imparipinnate) कहते हैं। इमली, अमलतास तथा कसौंदी में सम-पक्षवत् और नीम तथा अपराजिता में असम-पक्षवत् पर्ण होते हैं। इन पत्तिओं को पत्रकों की संख्या के अनुसार **एक-दल** (शालपर्णी), **द्वि-दल** (दुपतिया-Zrnia), **त्रि-दल** (पारिभद्र), **चतु-र्दल** (चालुस और चक्रमर्द) अथवा **बहु-दल** भी कह सकते हैं।

(२) **द्वि-पक्षवत्** (Bipinnate) :—जब मध्य दण्ड से कई उपपक्ष

निकले हों और दल इन्हीं शाखाओं पर पक्षवत् वर्तमान हों–जैसे बब्बूल, महा-निम्ब, सिरिस तथा लजावन्ती में।

(३) **त्रि-पत्रवत्** (Tripinnate)—जब उपपक्षों से भी शाखायें निकली हों और दल इन्हीं शाखाओं पर वर्तमान हों–जैसे शिग्रु तथा श्योनाक में।

(४) **बहुविभक्त** (Decompound) :—जब फलक का तीन बार से भी अधिक विभाजन हुआ हो–जैसे ममीरी, गाजर तथा सौंफ में।

पाणिवत् सदल पर्ण में वृन्ताग्र से दल उसी प्रकार निकलते रहते हैं–जैसे हथेली से अङ्गुलियाँ निकलती हैं। शाल्मली, हुलहुल तथा भंग में ऐसे पर्ण होते हैं। दलों की सङ्ख्या के अनुसार इन्हें भी **एक-दल** (नीबू-सन्तरा), **द्विदल** (इङ्गुदी), **त्रि-दल** (वरुण तथा चाङ्गेरी), **चतु-र्दल** (सुनिषण्णक) तथा **बहु-दल** (हुलहुल) कहते हैं।

पत्राकृति (Shape of lamina) : - फलक के आकार अर्थात् बही-रेखा का वर्णन निम्नांकित शब्दों में किया जाता है :—

(१) **सूचीवत्** (Acicular) :—जब पत्र लम्बा, पतला, स्तम्भाकार और सुई के सदृश नोक वाला हो —जैसे सरलपत्र।

(२) **रेखा-पत्र** (Linear) : – जब पत्र लम्बा और बहुत कम चौड़ा हो परन्तु चौड़ाई मूल से अग्र तक एक सी हो:—जैसे दूर्वापत्र।

(३) **प्रासवत्** (Lanceolate) : —जब पत्र भाले की तरह मध्य में अधिक चौड़ा और दोनों ओर क्रमशः पतला हो गया हो:—जैसे कनेर तथा बाँस के पत्र।

(४) **अण्डाकार** (Oval अथवा Elliptical) : —जो पत्र मध्य में अधिक चौड़ा और मूल तथा अग्र की ओर क्रमशः कम चौड़ा हो और जिसकी लम्बाई व चौड़ाई में अधिक अन्तर न हो।

(५) **लट्वाकार** (Ovate) :—जो पत्र मूल में सबसे अधिक चौड़ा और गोल हो और अग्र की ओर क्रमशः पतला होकर नोकीला हो गया हो।

(६) **हृद्वत्** (Cordate) : —जो पत्र लट्वाकार हो परन्तु पत्रमूल का किनारा गोल न होकर ऊपर को ओर दबा हुआ हो–जैसे पान तथा गूडूची पत्र।

(७) **स्रुव-पर्ण** (Spathulate):—जो पत्र अग्र पर सबसे अधिक

चौड़ा और गोल हो और मूल की ओर बहुत धीरे २ पतला होकर बहुत लम्बा हो गया हो।

(८) **आयताकार** (Oblong) :—जिस पत्र के दोनों तट समानान्तर हों, मूल और अग्र पर फलक गोलाई लिये हो और लम्बाई चौड़ाई में अधिक अन्तर न हो-जैसे केला-पत्र।

(६) **चक्राकार** (Orbicular):--यदि कमल या पाठापत्र की तरह पत्र लगभग वृत्त के आकार का हो।

(१०) **वृक्क-पत्र** (Reniform):- जो वृक्क के आकार का हो अर्थात् क्षैतिज दिशा में अधिक लम्बा हो, अग्र पर गोल और मूल पर ऊपर की ओर दबा हुआ हो-जैसे ब्राह्मी-पत्र।

(११) **बाण-पत्र** (Sagitate):--जिसमें फलक पुंख सदृश हो अर्थात् जिसका अग्र पतला और नोकीला हो, पत्रमूल सबसे अधिक चौड़ा हो और पत्रमूल से दो खण्ड निकल कर नीचे की ओर बढ़े हुये हों।

(१२) **कुन्तवत्** (Hastate):--यदि फलक पुंख सदृश हो परन्तु मूल के दोनों खण्ड बाहर की ओर निकले हों:-- जैसे कलम्बी पत्र।

(१३) **स्फानवत्** (Cuneate): -यदि स्फान की तरह पत्र मूल पर नोकीला तथा अग्र की ओर क्रमशः चौड़ा हो औह दोनों तट सरल तथा मूल पर परस्पर मिलकर न्यूनकोण बनाते हों।

(१४) **तिर्यक् पत्र** (Oblique):--जिस पत्र के मध्यनाड़ी के दोनों ओर के भाग छोटे बड़े हों-जैसे नीम के पत्रक।

(१५) **वीणावत्** (Lyrate):--जो पत्र लम्बा और पक्षवत् खण्डित हो और जिसमें अग्र्य खण्ड सबसे बड़ा और मूल की ओर के खण्ड क्रमशः छोटे हों:--जैसे सर्षप और मूली के पत्र। जो पत्र लट्वाकार, हृद्वत् अथवा प्रासवत् हों उनका अग्र मूल के आकार का और मूल अग्र के आकार का हो तो उन्हें क्रमशः (१६) **अभि-लट्वाकार** (Ob-ovate), (१७) **अभि-हृद्वत्** (Ob-cordate) और (१८) **अभि-प्रासवत्** (Ob-lanceolate) कहते हैं। चूंकि उपर्युक्त कई परिभाषायें सापेक्ष शब्दों में की गई हैं इसलिए कुछ ऐसे आकार भी मिलते हैं जिनके लिये संयुक्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है--जैसे लट्वाकार-हृद्वत् अथवा लट्वाकार-प्रासवत् इत्यादि।

पत्र-पृष्ठ (Surface):-पत्तियाँ प्रायः चिपटी और पतली होने के कारण दो पृष्ठ की अर्थात् **द्वि-पृष्ठक** (Bifacial) होती हैं। इनकी स्थिति प्रायः क्षैतिज होती है अर्थात् इनका एक पृष्ठ (उत्तर पृष्ठ) ऊपर की ओर होता है जो अधिक हरा होता है और जिस पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं और दूसरा पृष्ठ पृथ्वी की ओर होता है। ऐसी पत्तियों को **असम-पृष्ठक** (Dorsive-ntral) कहते हैं। कुछ पत्तियों में एक किनारा ऊपर की ओर और दूसरा किनारा नीचे की ओर होता है जिससे उनके दोनों पृष्ठ समान रूप से हरे होते हैं और दोनों पृष्ठों पर सूर्य की किरणें समान रूप से गिरती हैं ऐसी पत्तियों को **सम-पृष्ठक** (Isobilateral) कहते हैं--जैसे यूकालिप्टस की पत्ती। चीड़ और प्याज की पत्तियाँ लम्बी और गोल परिधि की होती हैं और इन्हें लम्बगोल या **स्तम्भाकार** (cylindrical) कहते हैं। इनका पृष्ठ चारों ओर एक समान होता है।

पत्रपृष्ठ के संरक्षण के लिये उस पर प्रायः रोम, कण्टक तथा **क्षोद** (Bloom) पाया जाता है। जिस पृष्ठ पर मृदु रोम होते हैं और वह स्पर्श में मखमल जैसा मालूम होता है -जैसे घावपत्ता में--उसे **मृदुक-रोमश** (Pubescent) कहते हैं। जिस पत्र पृष्ठ पर रोयें कड़े हों और जो स्पर्श में खर मालूम हों--जैसे कर्कटी में उसे **कर्कश** (Hispid) कहते हैं। सिहोरा तथा हरसिंगार में पत्तियाँ बिना रोयें के ही स्पर्श में खर होती हैं। ऐसे पृष्ठ को **असम** या **रूक्ष** (Rough) कहते हैं। काँटेदार पृष्ठ को **कण्टकी** (spinous) कहते हैं—जैसे कण्टकारी का पत्र-पृष्ठ। रोमादि किसी भी प्रकार की बाह्य वृद्धि से वञ्चित और पूर्णतः चिकने पृष्ठ को **चिक्कण** (Glabrous) कहते हैं। जो पत्र-पृष्ठ चिकना और चमकीला हो और जिसपर एक पतला धूसर क्षोद-स्तर पड़ा हो उसे **मसृण** अथवा **क्षोद-लिप्त** (Glaucous) कहते हैं—जैसे अर्कपत्र में। तम्बाखू तथा बिछुआ का पत्र-पृष्ठ रोमश परन्तु चिपचिपा होता है। ऐसे पृष्ठ को **श्लेष-स्रावि** (Glutinous) कहते हैं।

पत्र-वयन (Texture) :—पत्ती को मसल कर देखने से उसके वयन का पता लगता है। यदि पत्र मोटा और रसाल हो—जैसे पथरचूर और लोणी में—तो **मांसल** (Fleshy); पतला, मुलायम और नीरस हो—जैसे

गुलाबाँस में—तो **कौशेय-सदृश** (Membranou-), मुलायम परन्तु चिमड़ा हो तो **चर्म-सदृश** (Leathery) और कड़ा तथा कुरकुर हो—जैसे हर-सिंगार में—तो **भंगुर** (Brittle अथवा Crustaceous) कहा जाता है।

पर्णां का स्थिति-काल (Duration) :-जिस पौधे में उत्स्वेद कम करने के लिये पत्रोत्पत्ति को रोकने की व्यवस्था रहती है उसमें यदि पत्तियाँ निकलती भी हैं तो शीघ्र टूट कर गिर जाती हैं। ऐसी पत्तियों को **जातच्युत** (Caducous) कहते हैं। कुछ पौधे प्रतिवर्ष पतझड़ के समय अपनी पत्तियाँ गिरा कर नग्न हो जाते हैं और कुछ समय के बाद उनमें फिर नई पत्तियाँ निकल आती हैं। ऐसे पौधों को **वर्षायु-पत्रक** और उनके पत्तों को **वर्षजीवी** (Deciduous) कहते हैं। तीसरे प्रकार के पौधे सर्वदा पत्तों से लदे रहते हैं। इनकी पत्तियाँ एक २ करके गिरती और निकलती हैं। ऐसे पौधों को **सदाहरित** (Evergreen) और उनकी पत्तियों को **स्थायी** (Persistent) कहते हैं।

कलिका-दल-विन्यास (Prefoliation):--पत्र-कलिका के अन्दर अविकसित पत्तियों के कुञ्चन-क्रम और पारस्परिक दलवन्ध को कलिका-दल-विन्यास कहते हैं। कलिका के अन्दर प्रत्येक पत्ती जिस क्रम से लपेटी हुई या भंजित (Folded) रहती है उसी क्रम को **कुञ्चनक्रम** (Ptyxis) कहते हैं। कलिका के अन्दर पत्तियाँ जिस क्रम से एक दूसरे के साथ लिपटी हुई रहती हैं उस क्रम को **कलिका-दलवन्ध** कहते हैं।

कुञ्चनक्रम :—कुञ्चनक्रम में पत्तियों का या तो कुण्डलन (Coiling होता है या भञ्जन (Folding)। कुञ्चन-क्रम सात प्रकार का होता है :—

(१) **मध्यमूलग** अथवा **मूलाग्रमेलक** (Reclinate) :—जब पत्ती के अग्र की ओर का आधा भाग मूल की ओर के आधे भाग के ऊपर मुड़कर बैठा हो—जैसे लुकाट में।

(२) **पार्श्वमेलक** (Conduplicate) – जब मध्य नाड़ी के एक ओर का आधा भाग मुड़कर दूसरी ओर के आधे भाग के ऊपर बैठा हो—जैसे अमरूद तथा कचनार में।

(३) **प्रतिसिराभव** (Plicate) :—जब मुख्य २ सिराओं अर्थात् नाड़ियों पर भंजित होने से पत्ती के कई लम्बे और पार्श्विक भंज (Fold), बन गये हों—जैसे ताड़ में।

(४) **ऊर्ध्वकुण्डलन** (Circinate):—जब पूरी पत्ती कागज़ की तरह लपेटी हुई हो परन्तु कुण्डलन अग्र से प्रारम्भ हुआ हो—जैसे हंसराज तथा सुनिषण्णक में।

(५) **पार्श्वकुण्डलन** (Convolute):—जब पत्ती एक तट से दूसरे तट तक कागज की तरह लपेटी हुई हो—जैसे केला तथा ब्राह्मी में।

(६) **पार्श्वोर्ध्वकुण्डलन** (Involute):—जब पत्ती के दोनों तटों से उत्तर पृष्ठ पर कुण्डलन प्रारम्भ होकर मध्य नाड़ी पर समाप्त हो जाय—जैसे वट, कमल तथा चित्रक में।

(७) **पार्श्वाधःकुण्डलन** (Revolute):—जब दोनों तटों से अधर पृष्ठ पर कुण्डलन प्रारम्भ होकर मध्य नाड़ी पर समाप्त हो जाय-जैसे कनेर में।

कलिका-दल-बंध (Vernation):--दलबंध भी चार प्रकार का होता है जिनका वर्णन नीचे दिया गया है।

(१) **संश्लिष्ट-दलिका** (Valvate):-जब प्रत्येक पत्ती के दोनों किनारे पार्श्विक पत्ती या पत्तियों से अलग हों अथवा उन्हें स्पर्श करते हों।

(२) **नियतारूढ़दलिका** (Twisted): जब प्रत्येक पत्ती का एक किनारा एक ओर की पार्श्विक पत्ती से ढका हो और दूसरा किनारा दूसरी ओर की पार्श्विक पत्ती के ऊपर हो।

(३) **अनियतारूढ़दलिका** (Imbricate):—जब किसी एक पत्ती के दोनों किनारे पार्श्विक पत्तियों के ऊपर हों, किसी दूसरी पत्ती के दोनों किनारे पार्श्विक पत्तियों के नीचे ढके हों और अन्य सभी पत्तियों के एक किनारे पार्श्विक पत्तियों के नीचे और दूसरे ऊपर हों।

(४) **सम्मुखारूढ़दलिका** (Equitant):-जब प्रत्येक पत्ती के दोनों किनारे अभिमुख पत्ती के द्वारा ढके हुए हों—जैसे वंगीय रास्ना तथा वच में।

पत्र-कलिकाओं की अपेक्षा पुष्प-कलिकाओं के दल-कुञ्चन और दल-बंध वर्गीकरण में कहीं २ बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। पुष्प-कलिका में दल-बंध के प्रथम तीन भेद बहुत स्पष्ट होते हैं क्योंकि पुष्प-दल प्रायः चक्रिक क्रम में पाये जाते हैं।

पर्ण-क्रम (Phyllotaxis)

मूली की तरह कुछ द्वि-बीजपत्र पौधों में और घृतकुमारी तथा प्याज की

तरह अनेक एक-बीजपत्र पौधों में वायव्य काण्ड नहीं होता। इसलिये इनमें पत्तियाँ मूल के ऊपरी सिरे अथवा भौमिक-काण्ड से निकली हुई रहती हैं। जहाँ वे मूल के ऊपर से निकली हुई मालूम होती हैं वहाँ भी वे वस्तुतः संक्षिप्त और अविकसित काण्ड से ही निकलती हैं जो वास्तविक मूल के ऊपर रहता है। इस प्रकार की पत्तिओं को **मूल-पत्र** (Radical Leaf) कहते हैं। इनको छोड़ कर शेष सब प्रकार की पत्तियाँ काण्ड-ग्रन्थिओं पर निकलती हैं और उन्हें **काण्ड-पत्र** (Cauline leaf) कहते हैं। काण्ड पर पत्तिओं के क्रम को **पर्ण-क्रम** या **पर्ण-विन्यास** कहते हैं। पर्णवृन्त और दीर्घ पर्वों के काण्ड का मुख्य उपयोग पत्तिओं को ऐसी स्थिति में रखने में है जिसमें वे सूर्य-प्रकाश को उचित मात्रा में प्राप्त कर सकें। काण्ड और वृन्त सम्बन्धी सुविधाओं एवं असुविधाओं का उचित उपयोग एवं प्रतीकार करने में पर्ण-क्रम भी सहायक होता है। इसीलिये भिन्न भिन्न प्रकार के पर्ण-क्रम पौधों में पाये जाते हैं जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है:—

(१) **कुन्तल** (Spiral):-जिस क्रम में प्रत्येक ग्रंथि से केवल एक पत्ती निकली हो-जैसे आम तथा जपा में।

(२)**अभि-मुख** (Opposite) :—जिसमें प्रत्येक ग्रंथि पर आमने-सामने दो पत्तियाँ निकली हों-जैसे अर्क तथा द्रोणपुष्पी में।

(३) **चक्रिक** (Verticillate):—जिसमें प्रत्येक ग्रंथि से दो से अधिक पत्तियाँ एक चक्र में निकली हों-जैसे कनेर, शकाकुल तथा सप्तपर्ण में।

अभिमुख क्रम के-(१) **द्विपंक्ति** (Superposed) और (२) **चतुर्पंक्ति** (Decussate)- दो भेद होते हैं। द्विपंक्ति क्रम में किसी भी ग्रंथि की पत्तियाँ ऊपर की ग्रंथि को दोनों पत्तिओं के ठीक नीचे होती हैं। इसलिये काण्ड पर पत्तिओं की केवल दो क़तारें होती हैं-जैसे जामुन तथा मधुमालती में। चतुर्पंक्ति क्रम में किसी ग्रंथि की दोनों पत्तियाँ ऊपर की तीसरी ग्रंथि की पत्तियों के नीचे होती हैं और ऊपर की दूसरी ग्रंथि की पत्तियाँ अन्य दो दिशाओं में निकली रहती हैं। इस प्रकार काण्ड पर पत्तिओं की चार सीधी पंक्तियाँ रहती हैं। चक्रिक क्रम में भी प्रायः समीपवर्ती ग्रंथिओं की पत्तियाँ ऊपर-नीचे न होकर भिन्न२ दिशाओं में निकलती हैं।

कुन्तल-क्रम—इस क्रम में भी पत्तियाँ काण्ड के चारों ओर से निकलती हैं। कुछ

पौधों में वे केवल दो या तीन पंक्तियों में निकलती हैं। यदि पर्ण-तलों को स्पर्श करता हुआ काण्ड के चारों ओर एक तागा लपेट दिया जाय और तागे के साथ एक रेखा काण्ड पर खींच दी जाय तो मालूम होगा कि उस रेखा को काण्ड के चारों ओर एक पूरा चक्कर लगाने में एक, दो अथवा दो से अधिक पर्णतलों से गुज़रना पड़ता है। इस रेखा को **जनन-कुन्तल** (Genetic spiral) कहते हैं और पर्ण-तलों को मिलाने वाली सरल रेखाओं को **जनन-पंक्तियां** (Orthostichos) कहते हैं। जनन-पंक्ति पर निकली हुई दो समीपवर्ती पत्तिओं के बीच में जब दो पर्व होते हैं तो पर्ण-क्रम को **द्विपंक्ति** (Distichous) कहते हैं। इसमें काण्ड पर केवल दो पंक्तिओं में पत्तियाँ निकलती हैं—जैसे वंगीय रास्ता तथा शूकधान्यकुल में। नीबू तथा मुस्तक में **त्रिपंक्ति** (Tristichous) क्रम होता है। पीपल, जपा तथा सूर्यमुखी में **पंचपंक्ति** (Pentastichous) क्रम होता है जहाँ जनन-पंक्ति पाँच पर्वों में समाप्त होति है और जनन-कुन्तल को पाँच पर्व पार करने में दो पूरे चक्कर लगाने पड़ते हैं। पपीता और आम्रातक में **अष्टपंक्ति** क्रम होता है जहाँ जनन-पंक्ति आठ पर्वों में समाप्त होती है और जनन-कुन्तल को इतने में तीन पूरे चक्कर लगाने पड़ते हैं। जनन-कुन्तल पर स्थित दो अनुगामी पत्तिओं को दूरी को **जनन-अपसार** (Divergence) कहते हैं। यदि किसी क्रम में जनन-कुन्तल के चक्करों की संख्या को अंश और जनन-पंक्ति की संख्या को हर मानकर भिन्न बनाया जाय तो उस भिन्न से जनन-अपसार व्यक्त होगा और जनन-अपसार को ३६० से गुणा करने पर **अपसार-कोण** (Diverence angle) मालूम होगा। अतः उपर्युक्त क्रमों में $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{३}$, $\frac{२}{५}$, $\frac{३}{८}$, इत्यादि जनन-अपसार और १८०°, १२०°, १४४°, तथा १३५°, अपसार कोण को व्यक्त करेंगे। अपसार द्योतक भिन्नों में पारस्परिक सम्बन्ध भी होता है। किसी बीच वाले भिन्न में अंश और हर उसके पूर्व के दो भिन्नों के अंश और हर के जोड़ के बराबर होते हैं। इन पर्णक्रमों के सम्बन्ध में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। एक यह कि कहीं२ आकस्मिक कारणों से इन में व्यतिक्रम हो सकता है और दूसरी यह कि कहीं२ चक्रों के पूरा होने पर जनन-कुन्तल की दिशा विपरीत हो जा सकती है।

पत्र—पुंज (Leaf-mosaic) :—प्रायः समूहबद्ध पत्तिओं को पूर्ण प्रकाश में लाने के लिये ऐसी व्यवस्था रहती है कि थोड़े से उपलब्ध स्थान में बहुत सी पत्तियाँ परस्पर बाधा उपस्थित किये बिना पूरा२ प्रकाश प्राप्त कर सकती हैं। पर्ण-वृन्तों की लम्बाई तथा फलक के परिमाण और आकृति में विषमता होने से किसी पत्र-पुंज के फलक उसी तरह बिछे हुये मालूम होते हैं जैसे खूबसूरत फर्शों या दीवालों पर भिन्न२ आकार और वर्ण के पत्थर आदि के छोटे-बड़े टुकड़े जड़े हुये रहते हैं। मूल-पत्र के गुच्छों में, थोड़े २ अन्तर से निकली हुई पत्तिओं के समुदायों में तथा चक्रिक पर्ण-क्रम में नीचे की पत्तियाँ ऊपर की पत्तिओं के बीच में रहती हैं। कुप्पी तथा सिंघाड़ा में बड़ी२ पत्तियों के

बीच २ में छोटी२ पत्तियाँ रहती हैं। चांगेरी और सुनिषण्णक में प्रसरी काण्डों से निकली हुई पत्तियाँ तथा सघन जंगलों में वृक्ष-शिखरों पर फैली हुई विशाल लताओं की पत्तियाँ इसी प्रकार कम से कम स्थान में अधिकाधिक प्रकाश प्राप्त करने में समर्थ होती हैं।

पत्तिओं के विशेष कार्य और रूपान्तर

खाद्य पदार्थों का **निर्माण, श्वसन** और **उत्स्वेदन**--ये तीन मुख्य कार्य सामान्य पत्ती के होते हैं। परन्तु अन्य अंगों की तरह कुछ पौधों की पत्तिओं को परिस्थितिवश होकर कई विशेष कार्य करने पड़ते हैं जिनके लिये उन्हें अपना थोड़ा या अधिक रूपान्तर करना पड़ता है। इन विशेष कार्यों तथा रूपान्तरों का वर्णन नीचे किया जाता है :--

(१) **अवलम्बन** (Support) :--केला में कई धारक वृन्तमूल परस्पर मिलकर काण्ड सदृश स्तम्भ की रचना करके पौधे के लिये काण्ड का काम देते हैं—जैसे जल-कुम्भी तथा सिंघाड़ा में **स्फीत-वृन्तों** के कारण पौधे पानी में डूबने नहीं पाते। वेत्र में किसी २ पत्ती के सब पत्रक बडिशाकार काँटों में परिवर्तित होकर उसके आरोहण में सहायक होते हैं। कुछ आरोहिणी लताओं में पूरी पत्ती अथवा उसका कुछ अंश स्पर्शग्राही तन्तु में बदल जाता है और आरोहण में सहायक होता है। मटर में सदल पर्ण के कई पत्रक, कलिहारी में पत्राग्र, मोरवेल में वृन्त, उशवा प्रजाति की लताओं में उपपत्राग्र और जंगली मटर में सम्पूर्ण पत्ती का सूत्र में रूपान्तर हुआ रहता है।

(२) **संरक्षण** (Protection) :--संरक्षण का कार्य कंटकीभूत पत्रों या दलों द्वारा, शल्क-पत्रों द्वारा और गतिशील पत्तिओं द्वारा सम्पन्न होता है। पौधे प्राणिओं से अपनी रक्षा प्रायः कण्टकीभूत अंगों से करते हैं। ये काँटे दारुहल्दी तथा शतावरी में सम्पूर्ण पत्ती के, रामबाँस तथा घृतकुमारी में पत्राग्र तथा पत्र तट के, तथा बेर, बबूल और लजावन्ती में उपपत्रों के रूपान्तर होते हैं। विशेष ऋतुओं में अधिक सर्दी या गर्मी से कलिकाबद्ध कोमल अवयवों की रक्षा प्रायः विशेष प्रकार के पत्रों एवं उपपत्रों से होती है जिन्हें कलिका-शल्क कहते हैं। वटादि क्षीरी वृक्षों में कलिका-शल्क रूपान्तरित उपपत्र होते हैं। सामान्य शल्कपत्र पतले, शुष्क और प्रायः भूरे रंग के होते हैं और भौमिक

अथवा रूपान्तरित वायव्य काण्डों पर पाये जाते हैं। पत्रकोणोद्भूत कलिकाओं की रक्षा करना इनका मुख्य कार्य होता है। विशिष्टतल वाली पत्तियाँ प्रायः गतिशील होने के कारण चरने वाले पशुओं से बचने के लिये तथा शीतादि की चरम अवस्थाओं में परस्पर सिमट जाती हैं।

(३) **संचय** (Storage) : –घृतकुमारी तथा थूहर में जल-संचय के निमित विशेष प्रकार की ऊतिओं से सम्पन्न होने के कारण पत्तियाँ प्रायः मोटी और मांसल होती हैं। प्याज के प्रपुष्टपत्रक कन्दों में खाद्य पदार्थों के संचय के कारण उनके शल्क-पत्र बहुत मोटे और मांसल होते हैं। कई पररोही पर्णांगों (Ferns) में कुछ पत्तियाँ गोहाकार (Pocket like) होकर कूड़ा-कर्कट का संचय करती हैं और उनकी कुछ जड़ें इनके भीतर घुसकर संचित खाद का उपयोग करती हैं।

(४) **आकर्षण** (Attraction) :—केला, बाग विलास तथा पनसीतिया में पुष्प छोटे और अनाकर्षक होते हैं अतः परागण के लिये कीट-पतंगों को आकर्षित करने का काम पास की पत्तियाँ करती हैं जो रंग-बिरंगी और दर्शनीय होती हैं। आकर्षण का कार्य साधारणतः पुष्प की रंगीन पंखुड़िओं के द्वारा होता है जो पत्रों की ही रूपान्तर मानी जाती हैं।

(५) **पुनरुत्पत्ति** (Reproduction) :—वनस्पतिओं में पुनरुत्पत्ति अक्षि-प्ररोह, बीज-प्ररोह अथवा बीजक-प्ररोह इन तीन विधिओं से होती है। इन तीनों विधिओं में पत्ती का सहयोग कहीं न कहीं और किसी न किसी अंश में लेना पड़ता है। पथरचूर तथा बेगोनिया में पत्रोद्भूत अक्षिओं से, सपुष्प उद्भिजों में पुष्प के विभिन्न अवयवों के सहयोग से उत्पन्न बीज द्वारा और पर्णांग उद्भिजों में सबीजक-पत्रों के बीजकों (Spores) द्वारा पुनरुत्पति होती है।

उत्स्वेदावरोध (Checking transpiration) :—फलकाभास पर्णवृन्त की चर्चा पहले की गई है। इसके द्वारा फलक के अभाव में खाद्य पदार्थ का निर्माण भी होता है और उत्स्वेदन भी रुक जाता है। रक्षा के अतिरिक्त जल-त्याग रोकना भी कण्टकीभूत पत्रों का उद्देश्य होता है।

(७) **शोषण** (Absorption):– जलमग्न पौधों के पत्र जल-शोषक होते हैं जो क्षार तथा वायु मिश्रित जल का शोषण करते हैं। शुष्क भूमि में होने वाले किसी२ पौधे के पत्रों पर जलशोषक रोम होते हैं जो वर्षा-जल या

ओस का शोषण करते हैं। कीटभुज पौधे अपनी पत्तियों का तरह२ का विलक्षण रूपान्तर करके पहले छोटे२ कीड़ों को पकड़ कर बन्दी बनाते हैं और फिर क्रमशः उनके शरीर को गलाकर उपयोगी अंश का शोषण करते हैं। उदाहरण के रूप में पिचर-प्लांट (Pitcher-plant), ड्रोसेरा (Drosera) और ब्लैडर वर्ट (Bladderwort) नामक पौधों का वर्णन क्रमशः निचे दिया जाता है:-

ड्रोसेराः--इसकी ड्रोसेरा बरमेनाई नामक एक जाति बिहार-बंगाल में होती है। इसमें मूल-पत्रों का गुच्छा होता है जो दूर से लाल दिखलाई देता है। पत्र-पृष्ठ पर रसस्रावि रोम होते हैं जो एक चिपचिपा रस उत्पन्न करते हैं। इसकी चमकती हुई बूदों को देखकर कीड़े जब अपनी प्यास बुझाने के लिये उसके सम्पर्क में आते हैं तो इस रस में उलझ जाते हैं। रोम इतने स्पर्शग्राही होते हैं कि शिकार के फसते ही सब उसके ऊपर क्रमशः गिरकर उसे ढक लेते हैं। पाचक रसों की सहायता से ये रोम उनके शरीर को गलाकर उनका रस चूस लेते हैं।

(२) **पिचर-प्लाण्ट** :--इसमें पर्ण-मूल फलक सदृश फैला हुआ, लम्बा पतला और चिपटा होता है। पर्ण-वृन्त सूत्र सदृश और कुण्डलित एवं फलक झंझर के आकार का और पत्राग्र झंझर के मुख पर एक ढ़क्कन के सदृश होता है। सूत्र सदृश वृन्त झंझर को इस प्रकार धारण करता है कि उसका मुख ऊपर की ओर रहता है। ढक्कन रंगीन होता है और कीड़ों को आकर्षित करता है। मुख के किनारों के पास मधु की ग्रंथियाँ होती हैं जिसकी लालच से भी कीड़े वहाँ जाते हैं। मधु-ग्रंथिओं के नीचे रस-ग्रंथियाँ, फिर चिकना और फिसलाने वाला प्रान्त, उसके बाद नीचे की ओर झुके हुये रोम और आधार में पाचक रस मिश्रित द्रव भरा रहता है। मधु आदि से आकर्षित होकर कीड़े मुख में प्रवेश करते हैं और क्रमशः नीचे पहुँच जाते हैं और बार२ प्रयत्न करने पर भी बाहर नहीं निकल पाते। फिर उनके मांसरस का क्रमशः शोषण हो जाता है।

ब्लैडर-वर्ट--यह एक मूलहीन ज़लमग्न मांसाहारी पौधा है जिसकी पत्तियाँ रेखाकार खण्डों में विभक्त रहती हैं। पत्तिओं के कोई२ खण्ड गुब्बारे के आकार के होते हैं। गुब्बारे के मुख के लिये भीतर की ओर खुलने वाला एक कपाट होता है। अन्तःपृष्ठ पर रसग्रंथियाँ होती हैं जिनमें उत्पन्न पाचक रस की सहायता से अन्दर आये हुये कीड़ों के शरीर के उपयोगी अंश का पाचन और शोषण होता है।

परिच्छेद ४

पुष्प (Flower)

पुष्प बीजोद्भिज्जो का जननांग है जिससे उनकी लैंगिकी पुनरुत्पत्ति होती है। प्रत्येक उद्भिज्ज में पुष्पों के निकलने का प्रायः एक निश्चित समय होता है जब पत्रकोणों से पत्रकलिकाओं के स्थान में पुष्प-कलिकायें अथवा पुष्प-धारक शाखायें निकलने लगती हैं। निषेचन हो जाने पर पुष्प के सभी अवयव प्रायः मुरझा कर गिर जाते हैं केवल अण्डाशय, जिसमें रहने से नवजात संतान को पोषण और संरक्षण मिलता है, शेष रह जाता है। निषेचन अथवा गर्भाधान के पश्चात् अण्डाशय को गर्भाशय अथवा फल कहने लगते हैं। गर्भाशयस्थ संतान को बीज कहते हैं जो परिपक्व अर्थात् स्वतंत्र जीवन व्यतीत करनेके योग्य होने पर स्वयं अथवा मातृ-वनस्पति से पृथक् हो जाता है। फिर, पुष्प-फल-धारक टहनियाँ भी प्रायः सूख कर नष्ट हो जाती हैं।

पुष्पोद्भव और पुष्प-विन्यास (Inflorescence)

पुष्पोद्भव काण्ड या शाखा के अग्र-भाग से या पत्र-कोण से होता है। शाखाग्र और पत्रकोण की कलिका का विकास होने पर एक पुष्प अथवा अनेक पुष्पों को धारण करने वाली शाखा का आविर्भाव होता है। पत्र-कोण से केवल एक पुष्प निकलने पर पुष्प को **एकल कक्ष-पुष्प** (Solitary axillary) और शाखाग्र पर एकाकी पुष्प निकलने पर उसे **एकल अवसान-पुष्प** (Solitary terminal) कहते हैं। परन्तु पुष्पों के लिये 'एकल' विशेषणरूप संज्ञा तभी दी जाती है जब वे किसी संगठित पुष्प-समूह के निर्माण में भाग नहीं लेते बल्कि सामान्य पत्तिओं के बीच २ में बिखरे रहते हैं। एकल कक्ष-पुष्प धतूरा में और एकल अवसान-पुष्प स्वर्णक्षीरी तथा पोस्ता में होता है। जब पुष्प परस्पर मिलकर एक स्पष्ट और न्यूनाधिक संगठित पुष्परचना का निर्माण करते हैं तो इस पुष्प-रचना को **पुष्पव्यूह** (Inflorescence) कहते हैं। पुष्पोद्भव अर्थात् पुष्प-विन्यास के अनुसार पुष्प-व्यूह के अनेक भेद किये जाते हैं। इसलिये पुष्प-व्यूह पुष्प-विन्यास का द्योतक होता है। पुष्प-व्यूह या पुष्प-विन्यास--(१) **एकवर्ध्यन्त,** (Racemose) और (२) **बहुवर्ध्यन्त** (Cymose)—दो प्रकार का होता है।

एक-वर्ध्यक्ष पुष्प-व्यूह :—इसमें व्यूहाक्ष का अग्र वृद्धिशील बना रहता है इसलिये उस पर पुष्प नहीं बनता बल्कि उसके नीचे कक्ष से गोपुच्छाकार अर्थात् पूर्वापर्य क्रम में पुष्प निकलते रहते हैं। इसी कारण से इस क्रम में व्यूह के नीचे या बाहर के पुष्प ऊपर या भीतर के पुष्पों की अपेक्षा अधिक वयस्क होते हैं। एक-वर्ध्यक्ष व्यूह के निम्नांकित चार मुख्य भेद और तीन अवान्तर भेद होते हैं :—

(१) **सवृन्त-काण्डज** (Raceme) :—यदि एक दीर्घ व्यूहाक्ष पर भिन्न २ स्थलों से सवृन्त पुष्प निकले हों-जैसे सरसों, कटकरंज तथा शतावरी में।

(अ) **समस्थ-काण्डज** (Corymb) :—यदि सवृन्त-काण्डज व्यूह का अक्ष कुछ छोटा हो और नीचे के पुष्पों के वृन्त लम्बे और ऊपर के पुष्पों के वृन्त क्रमशः छोटे हों जिससे व्यूह के सभी पुष्प समशिख हो गये हों-जैसे हुरहुर तथा आवर्तकी में।

(२) **अवृन्त-काण्डज** (Spike) :—यदि एक दीर्घ व्यूहाक्ष पर अनेक अवृन्त पुष्प भिन्न २ स्थलों से निकले हों-जैसे अपामार्ग, वासा, गुलछर्रा तथा चौलाई में।

(ब) **नम्र अवृन्त-काण्डज** (Catkin) :—जो अवृन्त काण्डज व्यूह नीचे की ओर लटका हुआ हो और जिसमें पुष्प एकलिंगक हों-जैसे तूत तथा वाराही में

(स) **पत्रावृत अवृन्त-काण्डज** (Spadix) :—जिस अवृन्त-काण्डज व्यूह का अक्ष मोटा और मांसल हो, पुष्प एकलिंग हों और सम्पूर्ण व्यूह एक या कई प्रायः रंगीन **पत्र-कोश** (Spathe) के बीच में घिरा हुआ हो-जैसे सर्पा, सूरण, ताड़ तथा केला आदि अनेक एक-बीजपत्र वनस्पतिओं में।

(३) **सवृन्त-मूर्द्धज** अथवा **छत्र** (Umbel):—यदि व्यूह-दण्ड के शिखर से एक साथ अनेक सवृन्त पुष्प निकले हों-जैसे गाजर, सोआ, धनियाँ तथा प्याज आदि में। यहाँ पुष्प-वृन्तों के मूल पर प्रायः छोटी२ पत्तिओं (कोण-पुष्पकों) का एक चक्र उपस्थित रहता है जिसे **निवेष्ठ** या **अधःपत्रावलि** (Involucre) कहते हैं।

(४) **अवृन्त-मूर्धज** या **मुण्डक** (Capitulum) :—यदि व्यूह-

दण्ड का अग्र फैल कर चिपटा, उन्नतोदर अथवा तश्तरी (कटोरा) की तरह नतोदर हो गया हो और उस पर अनेक अवृन्त पुष्प एक साथ निकले हों जैसे बब्बूल, लज्जावन्ती तथा सूरजमुखी, गेंदा और अन्य मुंडी-कुल की वनस्पतिओं में। यहां भी अधःपत्रावलि के एक या कई चक्र रहते हैं।

बहु-वर्ध्यक्ष पुष्प-व्यूह :-इसमें व्यूहाक्ष की वृद्धि परिमित होती है अर्थात् थोड़ी दूर के बाद इसकी वृद्धि बन्द हो जाती है और इसके अग्र पर एक अवसान-पुष्प निकल आता है। अग्र के नीचे कक्ष से पुष्प या पुष्पधारक शाखायें निकलती हैं जो फिर परिमित वृद्धि के बाद एक पुष्प में समाप्त हो जाती हैं। इस क्रम में यदि व्यूहाक्ष बहुत संक्षिप्त होता है और पुष्प गुच्छे में निकले रहते हैं तो गुच्छे में बाहरी पुष्पों की अपेक्षा भीतरी पुष्प अधिक वयस्क होते हैं। एक-वर्ध्यक्ष क्रम में इसके विपरीत होता है।

पार्श्विक पुष्प अथवा पुष्प-धारक शाखाओं की संख्या के अनुसार इसके--(१) **एक-शाखी** (Uniparous), (२) **द्वि-शाखी** (Biparous) तथा (३) **बहु-शाखी** (Multiparous)-तीन भेद होते हैं। एक-शाखी बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह में यदि शाखायें लगातार एक ही ओर (दाहिने अथवा बाँये) निकली हों तो उसे **एकोद्भव** (Helicoid)-जैसे बेगोनिया में-और बारी २ से दोनों ओर निकली हों--जैसे कालमेघ, हस्तिशुंडी तथा कपास में--तो उसे **उभयोद्भव** (Scorpioid) कहते हैं। द्वि-शाखी बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह चमेली, हरसिंगार तथा निशोथ में और बहु-शाखी बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह अर्क में होता है। बहु-शाखी व्यूह कभी २ उत्छत्राकार प्रतीत होता है परन्तु यहाँ अधिक वयस्क पुष्प बीच में होते हैं और वास्तविक उत्छत्र में वे किनारे की ओर होते हैं।

एक-वर्ध्यक्ष व्यूह के अक्ष को **एकांघ्रिक** (Monopodial) और बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह के अक्ष को **अनेकांघ्रिक** (Sympodial) कहते हैं। एकांघ्रिक अक्ष पर पुष्प पत्ती (कोणपुष्पक) के विपरीत और अनेकांघ्रिक अक्ष पर वे कोण में रहते हैं।

संयुत और मिश्र-व्यूह (Compound & Mixed inflorescences) :--जब किसी पुष्प-व्यूह में पुष्प-धारक शाखायें या व्यूह-दण्ड उसी क्रम में निकले हों जिसमें उनके पुष्प निकलते हैं तो व्यूह को **संयुत** या **समक्रम**

कहते हैं। उत्कंटक में संयुत मुण्डक, धनियाँ में संयुत उत्छत्र, ताड़ में संयुत-पत्रावृत और यवादि शूक-धान्यों में संयुत-शूकी व्यूह होता है।

जब पुष्प और पुष्प-धारक शाखाओं के निकलने के क्रम भिन्न हों तो व्यूह को **मिश्र-व्यूह** कहते हैं-जैसे अर्क में **बहु-ऊर्ध्वन्त उच्छत्र** (Cymose umbel) होता है।

पुष्प-व्यूह के विशेष भेद :--उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त कई पुष्प-व्यूह ऐसे होते हैं कि यद्यपि वे किसी उपर्युक्त भेद के रूपान्तर मात्र होते हैं फिर भी उनमें अत्यधिक रूपान्तर होने के कारण वे विशिष्ट प्रकार के मालूम होते हैं। इसलिये निम्नांकित विशिष्ट नामों से उनका परिचय कराया जाता है:--

(१) **एकाभ-व्यूह** (Cyathium) :--यह **दुग्धी ति** (Euphorbia) में होता है। इसमें प्रायः मधु-ग्रंथिओं से युक्त चषक के आकार की एक रचना होती है जिसके अन्दर मध्य में एक सवृन्त स्त्री-पुष्प और उसके चारों ओर अनेक सवृन्त पुंपुष्प होते हैं। दोनों प्रकार के ये पुष्प इतने अधिक **प्रह्रासित** (Reduced) होते हैं कि एक में केवल संयुक्तांगक स्त्री-केशरी और दूसरों में केवल एक पुंकेशर होते हैं। बाहर का हरिताभ चषकाकार कोश वस्तुतः **युताधः-पत्रावलि** (Involucre) होता है जो एक पुष्प के वाह्यकोश के सदृश मालूम होता है। सम्पूर्ण व्यूह इसीलिये एक पुष्प के समान मालूम होता है क्योंकि प्रत्येक पुंपुष्प एक पुष्प के एक पुंकेशर और स्त्रीपुष्प उसके स्त्रीकेशरी के समान दिखलाई देता है। यह व्यूह वस्तुतः एक गुच्छीकृत बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह होता है क्योंकि मध्यस्थित स्त्री-पुष्प पुंपुष्पों के पहले परिपक्व होता है।

(२) **चक्राभ-व्यूह** (Verticillaster) :--तुलसी-कुल के अनेक-उद्भिज्जों में कांड-ग्रंथिओं पर कन्दुकाकार व्यूह होता है जो काण्ड को चारों ओर से घेरे रहता है। इसे चक्राभ-व्यूह कहते हैं। परीक्षा करने पर मालूम होता है कि ग्रन्थिओं पर आमने-सामने दोनों पत्तिओं के कोण में उभयोद्भव व्यूह निकलते हैं जो अवृन्त पुष्पों और अविकसित पर्वों के कारण गुच्छाकार होकर काण्ड के चारों ओर फैलकर उसे घेर लेते हैं। यह वस्तुतः द्वि-शाखी बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह होता है परन्तु प्रत्येक संधि की एक ही शाखा का विकास होता है। द्रोणपुष्पी आदि में, जहाँ पर्वों का भी विकास नहीं होता, चक्राभ-व्यूह बनता है और जहाँ पर्व न्यूना-

धिक लम्बे होते हैं वहाँ (जैसे तुलसी में) द्विशाखी बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

(३) **कुम्भाभ-व्यूह** (Hypanthodium) :--वटादि क्षीरी वृक्षों में व्यूह अवृन्त मूर्धज का रूपान्तर मात्र होता है। यदि अवृन्त मूर्धज में व्यूहासन का तट अत्यधिक बढ़कर और ऊपर की ओर संकुचित होकर मिल जाय और बटुये के आकार का हो जाय तो इस विशिष्ट व्यूह की सृष्टि होगी। इसके शीर्ष भाग में एक छिद्र रहता है। अन्तःपृष्ठ पर सूक्ष्म, एकलिङ्गक और अवृन्त पुष्प रहते हैं जिनमें स्त्रीपुष्प तल में और पुंपुष्प छिद्र के समीप रहते हैं।

जिस प्रकार प्रकाश-प्राप्ति के लिये विभिन्न प्रकार के पत्र-विन्यास उपयोगी होते हैं उसी प्रकार पराग-विकिरण में प्रत्येक प्रकार के पुष्प-विन्यास का उपयोग होता है। पराग-विकिरण के प्रसङ्ग में इसकी चर्चा की जायगी।

पुष्प के विभिन्न भाग

प्रत्येक पूर्ण पुष्प के पाँच भाग होते हैं;-(१) सवृन्त अथवा अवृन्त **पुष्पासन** या **दलयक्ष**(Thalamus), (२) **बाह्यकोश** (Calyx), (३) **आभ्यन्तर कोश** (Corolla), (४) **पुमंग** अथवा **पुंकेशरी** (Androecium) और (५) **जायांग** या **स्त्रीकेशरी** (Gynaecium)। दलयक्ष सभी पुष्पों में होता है क्योंकि शेष भागों को यह धारण करता है। कहीं यह पतली परन्तु दीर्घीभूत काण्ड-शाखा या डंठल के सदृश होता है और इसे **पुष्प-वृन्त** (Pedicel) कहते हैं। कहीं यह प्राहासित काण्ड होता है जिसे पुष्प-मूल कहते हैं। पुष्पमूल अथवा वृन्ताग्र को ज़हाँ से पुष्प के शेष भाग निकलते हैं **दलयक्ष** कहते हैं। प्रत्येक एकल पुष्प अथवा किसी गुच्छीकृत व्यूह के नग्न और निःशाख वृन्त को **पुष्प-दण्ड** (Peduncle) कहते हैं। व्यूह के प्रधान अक्ष को जिससे अनेक पुष्प अथवा पुष्प-धारक शाखायें निकली हों **व्यूहाक्ष** (Rachis) कहते हैं। जब किसी पुष्प-दण्ड के अग्र पर अनेक पुष्प एक साथ निकले हों तो अग्र को **व्यूहासन** (Receptacle) कहते हैं। पुष्पासन और व्यूहासन दोनों ही उन्नतोदर, चिपिट, नतोदर अथवा कुम्भाकार या बटुये सदृश हो सकते हैं। पुष्प के प्रत्येक भाग में प्रायः एक से अधिक अवयव होते हैं जिन्हें साधारणतः **पौष्पिक-पत्र** (Floral leaf) कहते हैं।

बाहर या नीचे की ओर के प्रायः हरे पुष्प-पत्रों के कोश को वाह्यकोश और उसके भीतर के प्रायः रङ्गीन पुष्प-पत्रों के कोश को आभ्यन्तर कोश कहते हैं। आभ्यन्तर कोश के भीतर पहले पुमङ्ग और फिर पुष्पासन के मध्य से निकला हुआ स्त्रीकेशरी होता है। वाह्यकोश और आभ्यन्तर कोश पुष्प के जनन-कार्य में सहायक मात्र होने से **सहायक अङ्ग** और पुमङ्ग एवं जायाङ्ग इस कार्य में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने के कारण **आवश्यक अंग** या **जननांग** कहे जाते हैं। जिस पुष्प में दोनों सहायक भाग हों उसे **उभयकोश** (Diplochlamydeous), जिसमें केवल एक भाग हो उसे **एककोश** (Monochlamydeous) और जिसमें दोनों में से एक भी न हो उसे **नग्न** (Achlamydeous) **पुष्प** कहते हैं। कहीं २ दोनों कोशों के स्थान में ऐसे पुष्प-पत्रों के एक या दो चक्र होते हैं जिनके रङ्ग में कोई अन्तर नहीं होता। इसे **परि-पुष्प** या **सवर्णकोश** (Perianth) कहते हैं। इसके दल कभी वाह्यदलों के रङ्ग के अर्थात् **वाह्य-दलायित** (Sepaloid) और कभी अन्तर्दलों के रङ्ग के अर्थात् **अन्तर्दला-यित** (Petaloid) होते हैं। दलों के परस्पर जुड़े रहने पर इसे **संयुक्त-दल** (gamophyllous) और अलग रहने पर **विभक्तदल** (polyphyllous) कहते हैं। चक्रों की संख्या के अनुसार सवर्णकोश को भी एककोश या उभयकोश कहते हैं। उभयकोश पुष्प में यदि सवर्णकोश हो तो पुष्प को **अपृथक्कोश** (Homoiochlamydeous) और यदि वाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों कोश हों तो उसे **पृथक्कोश** (Heterochlamydeous) कहते हैं। यदि किसी पुष्प में वाह्यकोश हो पर आभ्यन्तर कोश का विकास न हुआ हो तो उसे **अनन्तर्कोश** (Apetalous) कहते हैं।

जिस पुष्प में दोनों जननांग विद्यमान हों उसे **द्विलिंग** (Bisexual) अथवा (Hermaphrodite) और जिसमें केवल एक हो उसे **एकलिंग** (Unisexual) कहते हैं। एकलिंग पुष्प में यदि पुमंग हो तो उसे **पुं-पुष्प** (Male flower) और जायांग हो तो उसे **स्त्री-पुष्प** (Female flower) कहते हैं। किसी २ पुष्प में एक भी जननांग नहीं होता। उसे **क्लीवलिंग** (Neuter) कहते हैं। चूंकि प्रत्येक जाति में दोनों जननांगों का होना आवश्यक है इसलिये यदि किसी जाति के पुष्पों में लिंगभेद होता है तो उस जाति के व्यक्तियों में भी लिंग-भेद हो सकता है। किसी २ जाति में केवल एकलिंग पुष्प

होते हैं और दोनों प्रकार के एकलिंग पुष्प उस जाति के प्रत्येक व्यक्ति पर निकलते हैं। ऐसी जाति के उद्भिज्जों को **द्विलिंगी** अथवा **द्विधैकलिंगक** (Monoecious) कहते हैं-जैसे एरण्ड तथा कर्कटी में। यदि किसी जाति के कुछ उद्भिज्जों पर केवल पुंपुष्प हों और कुछ व्यक्तियों पर केवल स्त्रीपुष्प हों तो उन्हें **अद्विलिंगी** या **अद्विधैकलिंगक** (Dioecious) कहते हैं-जैसे पपीता, भंग, पालक तथा ताड़ आदि में। आम और लीची में प्रत्येक पौधे के ऊपर दोनों प्रकार के एकलिंग, द्विलिंग तथा क्लीबलिंग-सभी प्रकार के पुष्प निकलते हैं। ऐसे उद्भिज्जों को **सर्वभव** (Polygamous) कहते हैं।

दल्यक्ष (Thalamus)

दल्यक्ष पुष्प-पत्रों का अक्ष है जो वस्तुतः तीन पर्वों का होता है। ये पर्व साधारणतः इतने प्राह्रासित रहते हैं कि स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ते। दल्यक्ष किंचित् उत्थित (देवकांडर तथा सीताफल में) चिपिट अथवा न्यूनाधिक नतोदर (गुलाब में) होता है। इसके आकार-भेद से पुष्प तीन प्रकार के होते हैं—(१) **अधोजाय** (Hypogynous), (२) **परिजाय** (Perigynous) और **उपरिजाय** (Epigynous)। अधोजाय पुष्प में दल्यक्ष कुछ उत्थित होता है। सबसे ऊपर और मध्य में स्त्रीकेशरी होता है और पुंकेशरी, अंतर्कोश तथा बाह्य कोश क्रमशः उसके नीचे या बाहर की ओर निकले रहते हैं-जैसे सर्षप, जपा तथा चम्पा में। परिजाय पुष्प में दल्यक्ष चिपटा अथवा चषकाकार होता है। अण्डाशय (Ovary) दल्यक्ष पर मध्य में और शेष तीनों भाग अण्डाशय के चारों ओर दल्यक्ष के उन्नत किनारे पर निकले रहते हैं-जैसे गुलाब में। उपरिजाय पुष्प में दल्यक्ष के उन्नत किनारे बढ़ते हुये ऊपर जाकर बटुये की तरह मिल गये रहते हैं जिससे अण्डाशय कुम्भाकार दल्यक्ष के अन्दर पूर्णतः बन्द रहता है और शेष तीनों भाग एवं स्त्रीकेशरी के शेष भाग अण्डाशय के शीर्ष से निकले हुये मालूम होते हैं-जैसे अमरूद तथा कद्दू में। अधोजाय अथवा परिजाय पुष्प में जब दल्यक्ष चिपटा हो तो अण्डाशय **ऊर्ध्वस्थ** (Superior), परिजाय पुष्प में जब दल्यक्ष नतोदर हो तो **अनर्ध्वाधःस्थ** (Half superior) और ऊपरिजाय पुष्प में **अधःस्थ** (Inferior) होता है।

दल्यक्ष के पर्व कभी२ विकृत वृद्धि के कारण दीर्घीभूत भी होते हैं। अन्तः-कोश और पुमंग के बीच के दीर्घीभूत पर्व को **पुमंगधारक** (Androphore) तथा पुमंग और जायांग के बीच के दीर्घीभूत पर्व को **जायांग-धारक** (Gynophore) कहते हैं। मुचकुन्द तथा करीर में जायांग-धारक, काम-पुष्प में पुमंग-धारक तथा श्वेत हुरहुर में दोनों विद्यमान रहते हैं। काम-पुष्प के पुमंगधारक का अथवा श्वेत हुरहुर के दोनों पर्वों का सम्मिलित नाम **उभय-धारक** (Gynandrophore) भी होता है। कहीं२ दल्यक्ष अण्डाशय के बीच से ऊपर की ओर बढ़ा हुआ रहता है और फल के तैयार हो जाने पर फल के खण्ड शीर्ष पर इससे जुड़े हुये रहते हैं–जैसे गाजर तथा धनियाँ आदि में। दल्यक्ष के ऐसे बढ़े हुये भाग को **अण्डाशयोध्वंग** या **फल-धारक** (Carpophore) कहते हैं।

पुष्प-पत्रों के बीच२ में अथवा अण्डाशय के आधार या अग्र को घेर कर कहीं२ दल्यक्ष से वहिरुद्भेद निकले रहते हैं जो प्रायः मधु-निर्माण एवं मधु संचय के निमित्त होते हैं। जब यह बाह्य वृद्धि पूर्ण या विच्छिन्न चक्र के रूप में अण्डाशय के सन्निकट रहती है तो इसे **मधु-चक्र** (Disk) कहते हैं–जैसे नीबू, बेर तथा निशोथ में। पुष्प के विभिन्न भागों में भी **मधु-कोष** (Nectary) बने रहते हैं।

कोणपुष्पक (Bract) तथा वृन्त-पत्रक (Bracteole)

कोणपुष्पकः–जिन पत्तियों के कोण में पुष्प अथवा पुष्प धारक शाखायें निकलती हैं उन्हें कोणपुष्पक कहते हैं। ये पत्र प्रायः सामान्य पत्तियों से क़द तथा रङ्ग में भिन्न होते हैं। पुष्प-कलिका की रक्षा करना इनका मुख्य कार्य होता है। पत्रकोणों में निकले हुये पुष्पों को **पत्रकोणज** (Bracteate) कहते हैं। कहीं २ पुष्पों के साथ कोणपुष्पकों का विकास नहीं हुआ रहता–जैसे सर्षप में। ऐसे पुष्पों को **अपत्रकोणज** (Ebracteate) कहते हैं। कोणपुष्पक भी विशेष कार्यों के लिये रूपान्तर कर लेते हैं। ऐसी अवस्थाओं में निम्नलिखित विशेष संज्ञाओं अथवा विशेषणों के द्वारा इनका परिचय कराया जाता है:–

(१) **पत्रसम** (Leafy) :––जब वे सामान्य पत्तियों की तरह हरे और बड़े होकर खाद्य-पदार्थों के निर्माण में भाग लें-जैसे अडूसा तथा कुप्पी में।

(२) **शल्क-सम** (Scaly):—जब वे शल्क-पत्रों की तरह पतले, छोटे और श्वेताभ हों–जैसे सूर्यमुखी में व्यूह के केन्द्रस्थित पुष्पों के कोणपुष्पक।

(३) **अंतर्दलायित** (Petaloid):—जब वे बड़े और आकर्षक होकर छोटे और अनाकर्षक पुष्पों के पराग-विकिरण में सहायक हों–जैसे लालपत्ता तथा बागविलास में।

(४) **पत्र-कोश** (Spathe) :—जब वह किसी व्यूह को घेर कर कोश की भाँति उसकी रक्षा करता है और प्रायः ज्ञीन और आकर्षक होने के कारण पराग-विकिरण के लिये कीट-पतङ्गों को आकर्षित करता है–जैसे केला तथा सूरण में।

(५) **तुष-सम** (Pale): – जब वह शुष्क, तुष के सदृश और शूकी हो–जैसे शूकधान्यों में।

(६) **अधःपत्रावलि** (Involucre) :--जब बहुत से कोणपुष्पक एक या अधिक चक्रों में किसी पुष्प-गुच्छ के नीचे उपस्थित हों तो उनके चक्रों को अधःपत्रावलि कहते हैं–जैसे उत्छत्र और मुण्डक व्यूहों में। संयुत व्यूहों में जहां से पुष्प-धारक शाखायें निकलती हैं वहाँ भी कोणपुष्पकों के चक्र होते हैं जिन्हें **शाखाधःपत्रावलि** और पुष्पगुच्छों के नीचे के चक्रों को अधःपत्रावलि (Involucel) कहते हैं।

वृन्तपत्रकः--किसी २ पुष्प-वृन्त से भी छोटी२ पत्र सदृश रचनायें निकली रहती हैं जिन्हें वृन्त-पत्रक कहते हैं। जिनके साथ वृन्त-पत्रक होते हैं उन पुष्पों को **पत्र-वृन्तक** (Bracteolate) और जिनके साथ नहीं रहते उन्हें **अपत्र-वृन्तक** (Ebracteolate) कहते हैं। वृन्त-पत्रक प्रायः द्वि-बीजपत्र उद्भिजों में दो और एक-बीजपत्र उद्भिजों में एक होते हैं। कहीं २ कई छोटे २ और हरे वृन्त-पत्रक बाह्यकोश के बाहर एक चक्र में उपस्थित रहते हैं। वहां इनके चक्र को **अधःबाह्यकोश** (Epicalyx) कहते हैं–जैसे जपा में।

बाह्यकोश (Calyx)

बाह्यकोश के पुष्प-पत्रों को **बाह्यदल** (Sepal) कहते हैं। बाह्यदल प्रायः हरे और छोटे पत्रों के सदृश होते हैं। कहीं २–जैसे वैजयन्ती तथा चम्पा में–ये अन्य वर्ण के भी होते हैं और तब इन्हें **अन्तर्दलायित** (Petaloid) कहते हैं। बाह्यदल कहीं तो परस्पर मिलकर (एक होकर) निकले रहते हैं–जैसे बैंगन तथा जपा में और कहीं–जैसे सर्षप तथा पोस्त में--वे एक दूसरे से पृथक्

रहते हैं। इन अवस्थाओं में बाह्यकोश को क्रमशः **संयुतदल** या **संयुतांगक** (Gamosepalous) और **विभक्तदल** या **विभक्तांगक** (Polysepalous) कहते हैं। बाह्यकोश के संयुक्त भाग को **बाह्यनाल** (Calyx tube) कहते हैं जिसके ऊपर दलों के स्वतंत्र भाग **खण्ड** (Lobe) या दाँत के रूप में दिखाई पड़ते हैं। इन्हें गिनकर दलों की संख्या मालूम की जाती है। जब बाह्यकोश के सभी दल आकृति और क़द में समान होते हैं तो उसे **नियताकार** (Regular) अन्यथा उसे **अनियताकार** (Irregular) कहते हैं।

बहुत से पुष्पों में-जैसे स्वर्णक्षीरी में—पुष्प के खिलते ही बाह्यदल सूखकर गिर जाते हैं। यहाँ उसे **कलिकायुष्क** (Caducous) कहते हैं। अधिक पुष्पों में बाह्यदल अन्य पुष्प-पत्रों के साथ सूखते हैं और बाह्यकोश को **पुष्पायुष्क** (Deciduous) कहते हैं। कुछ पौधों में यह फल के साथ बना रहता है और इसे **फलायुष्क** (Persistent) कहते हैं। फलायुष्क बाह्यकोश फल की रक्षा के निमित्त रुका रहता है अतः यह प्रायः फल के साथ क़द में भी बढ़ जाता है-जैसे बैंगन तथा मकोय में। ऐसे बाह्यकोश को **फलोपचयी** (Accrescent) कहते हैं। यह कभी २ फल के विकिरण में भी सहायक होता है। रसभरी (बड़ी मकोय) में यह गुब्बारे की तरह होकर वायु द्वारा फल के विकिरण में सहायक होता है और भव्य में मांसल तथा खाद्योपयोगी होकर जन्तुओं को आकर्षित करता है।

बाह्यकोश का मुख्य कार्य कलिका की अवस्था में पुष्प की रक्षा करना है। इसलिये जब पुष्प अत्यन्त सघन गुच्छों में रहते हैं और प्रत्येक पुष्प के लिये बाह्यकोश अनावश्यक हो जाता है तो यह अर्धविकसित या रूपान्तरित अवस्था में पाया जाता है अथवा इसका पूर्णतः लोप हो जाता है। मुण्डी-कुल के कुछ पौधों में (सूर्यमुखी) इसके दल शल्क-सदृश होते हैं और कुछ पौधों में इनके स्थान में श्वेत और रोम सदृश रचनायें निकलती हैं जो फल के परिपक्व होने पर सूख कर कठोर और तीक्ष्ण हो जाती हैं और फल के विकिरण में सहायक होती हैं। ऐसे रूपान्तरित बाह्यकोश को **रोमकण्टक** (Pappus) कहते हैं। आकृतिभेद से भी बाह्यकोश कई प्रकार के होते हैं जिनकी विशेषण रूप संज्ञायें प्रायः वे ही होती हैं जो विभिन्न आकार के आभ्यन्तर कोश के लिये आगे दी गई हैं। बाह्यकोश के दलों का शेष वर्णन पत्ती की तरह किया जा सकता है।

आभ्यन्तरकोश

आभ्यन्तरकोश के दलों को **अन्तर्दल** (Petal) कहते हैं। ये दल मुख्यतः पराग-विकिरण के लिये कीट-पतंगादि को आकर्षित करने का काम देते हैं इसलिये ये प्रायः रङ्ग-विरंगे और गंध-युत होते हैं। कहीं २—जैसे सीताफल तथा नकली अशोक में-बाह्यदलों की तरह हरे रंग के होते हैं और **बाह्यदलायित** (Sepaloid) कहे जाते हैं। आभ्यन्तरकोश भी **विभक्तदल** (Polypetalous) या **संयुत-दल** (Gamopetalous), **नियताकार** (सर्षप) या **अनियताकार** (अपराजिता) होता है। संयुक्तदल आभ्यन्तरकोश के संयुक्त भाग को **आभ्यन्तरनाल** (Corolla tube) कहते हैं और उसके ऊपर के स्वतंत्र खण्डों को **दलखण्ड** (Corolla lobe) कहते हैं। जहाँ से दल एक दूसरे से पृथक् होते हैं वहाँ आभ्यन्तरकोश का **कण्ठ** (Throat) होता है।

विभक्तदल आभ्यन्तर कोश के दल किसी २ पुष्प में नीचे की ओर कम चौड़े और लम्बे होते हैं और ऊपर की ओर अधिक चौड़े होकर प्रायः बाहर की ओर फैले रहते हैं। उनके नीचे के भाग को दलदण्ड (Claw) और ऊपर के चौड़े भाग को **दलोत्सर** (Limb) कहते हैं। कहीं अन्तर्दलों का मूलभाग **तुन्दिल** (Saccate) होता है अर्थात् बाहर की ओर उन्नतोदर और भीतर की ओर नतोदर होता है। आकृतिभेद से आभ्यन्तरकोश अनेक प्रकार के होते हैं जो निम्नलिखित चार समुदायों में रखे जा सकते हैं:—

(१) नियताकार विभक्तदल आभ्यन्तर कोश—

(क) **काकार** (Cruciform)—जिसमें अन्तर्दल चार और दलदण्डों से युक्त (Clawed) हों और पुष्प के दोनों विकर्ण धरातलों में स्थित हों—जैसे सर्षप-कुल के पुष्पों में।

(ख) **आपन्न-सम** (Caryophyllaceous)—जिसमें पाँच या चार दण्ड-युक्त दल हों, दल दण्ड बहुत लम्बे और दलोत्सर समकोण पर बाहर की ओर मुड़े हुये हों-जैसे आपन्न (Pink) कुल में।

(ग) **पाटल-सम** (Rosaceous)-जिसमें अन्तर्दल आधार से ही चौड़े होकर नियमित रूप से बाहर की ओर फैले हुये हों-जैसे पाटल (गुलाब) कुल में।

(२) अनियताकार विभक्तदल आभ्यन्तर कोश—

(क) **प्रजापतिरूप** (Papilionaceous)—इसमें पाँच अन्तर्दल होते हैं जिनमें पश्च-दल, जिसे **ध्वज-दल** (Standard) कहते हैं, सबसे बड़ा और फैला हुआ रहता है और कलिका अवस्था में भीतर के अन्य अवयवों को ढक कर रखता है। दो छोटे पार्श्विक दल होते हैं जिन्हें **पक्ष-दल** (Wings) कहते हैं। ध्वजदल के दोनों तट पक्षदलों के ऊपर फैले रहते हैं। शेष दो अग्र-दल अंशतः मिलकर नौकाकार हो जाते हैं और इन्हें **नौका-दल** (keel) कहते हैं। पक्षदलों के दूसरे दोनों तट नौका-दल के ऊपर फैले रहते हैं। इस प्रकार का आभ्यन्तरकोश प्रजापति-कुल की अपराजितादि वनस्पतिओं में होता है।

(ख) **फणाकार** (Hooded):—वत्सनाभ प्रजाति में केवल एक दल बड़ा और फणाकार होता है और कलिकावस्था में अन्य अवयवों को ढके रहता है।

(ग) **चंचूचण** (spurred):—जद्वार तथा वनफशा में दलों के मूल भाग में एक लम्बा, नालाकार भाग वाह्यवृद्धि के रूप में निकला रहता है जिसे **चंचु** (Spur) कहते हैं। चंचुयुक्त दलों को चंचूचण कहते हैं।

(३) नियताकार संयुक्तदल आभ्यन्तर कोश--

(क) **नालाकार** (Tubular)—यदि आभ्यन्तर नाल नीचे से ऊपर तक एक चौड़ाई का हो—जैसे मुण्डी कुल के नालाकार पुष्पों में।

(ख) **घण्टिकाकार** (Campanulate)-यदि घण्टी की तरह ऊपर की ओर क्रमशः चौड़ा और मुख पर इसके किनारे बाहर की ओर मुड़े हुये हों-जैसे रसभरी तथा पीत करवीर में।

(ग) **निवाप-सम** (Funnel-shaped):—यदि कुप्पी की तरह नीचे कम चौड़ा और ऊपर की ओर क्रमशः अधिक चौड़ा हो-जैसे धतूरा तथा शंखपुष्पी में।

(घ) **चक्राकार** (Rotate):—यदि आभ्यन्तर नाल छोटा हो परन्तु दलोत्सर रथ-चक्र की भुजाओं की तरह चारों ओर फैले हुये हों-जैसे बैंगन तथा आलू में।

(च) **व्यस्त छत्राकार** (Salver-shaped):—यदि आभ्यन्तरनाल बहुत लम्बा हो और दलोत्सर बाहर की ओर फैले हुये हों—जैसे चमेली तथा हरसिंगार में।

(छ) **कुम्भाकार** (Urceolate) :—यदि आभ्यन्तर नाल नीचे चौड़े पेट वाला और लगभग गोल हो और सिरेकी ओर बहुत संकड़ा होकर फिर कुछ फैल गया हो।

(४) **अनियताकार संयुक्तदल आभ्यन्तरकोशः—**

(क) **जिह्वाकार** (Ligulate):—जब आभ्यन्तर नाल बहुत छोटा और संकड़ा हो और कोशोत्सर संयुक्त और जिह्वा की तरह सपाट होकर एक ओर हो गया हो–जैसें सूर्यमुखी में मुण्डक के प्रान्तीय पुष्पों में।

(ख) **द्वयोष्ठक** (Bilabiate) :—जब आभ्यन्तर नाल के ऊपर कोशोत्सर के दो ओष्ठ सदृश स्पष्ट विभाग हों–जैसे द्वयोष्ठ-फुल के पुष्पों में। ऐसे आभ्यन्तर कोश में प्रायः दोनों ओष्ठ एक दूसरे से पृथक् रहते हैं और पुष्प का मुख खुला रखते हैं–जैसे तुलसी अथवा वासा में। ऐसें कोश को **अयुक्त** (Ringent) कहते हैं। कहीं २ एक ओष्ठ भीतर की ओर प्रायः उन्नतोदर होकर अथवा एक प्रवर्धन के द्वारा दूसरे ओष्ठ से मिला रहता है जिससें पुष्प-मुख बन्द रहता है–जैसे भीतचट्टी में। ऐसे कोश को **युक्त** (Personate) द्वयोष्ठक कहते हैं। इसमें ओष्ठ के प्रवर्धन या उन्नतोदर भाग को **गलघण्टिका** (Palate) कहते हैं।

आभ्यन्तरकोश के प्रवर्धन (Outgrowth) :—गलघण्टिका के अतिरिक्त आभ्यन्तर कोश से चंचु तथा अन्य प्रकार की मधु की थैलियाँ अर्थात् **मधुकोश** (Nectary) निकले रहते हैं। किसी-किसी पुष्प में आभ्यन्तरनाल प्रायः आधार पर एक ओर विशेषरूप से नतोदर होकर भीतर की ओर गोलाकार और बाहर की ओर तोंद की तरह निकला हुआ रहता है–जैसे नरगिस, पीला-कनेर तथा अमरवेल में। ऐसें कोश को **तुंदिल** (Gibbous) कहते हैं।

कुछ पुष्पों के कण्ठ में शल्क अथवा रोम सदृश प्रवर्धनों की एक संयुक्त अथवा विभक्त सुन्दर और चक्राकार रचना होती है जिसे **कण्ठ-कुड्मल** (Corona) कहते हैं। अमरवेल तथा कनेर में कण्ठ–कुड्मल आभ्यन्तर कोशज और अर्क में पुंकेशरज (Staminal) होता है।

कलिका-दल-विन्यास (Prefloration)

पुष्पकलिका का दल-विन्यास पत्रकलिका के पत्रविन्यास के सदृश होता

है। यहाँ भी **दलाकुञ्चन** (Ptyxis) और दलवन्ध के प्रायः उतने ही और वे ही भेद होते हैं जो पत्राकुञ्चन और पत्र-बन्ध के बतलाये जा चुके हैं। पुष्प-कलिकाओं में दलाकुञ्चन की अपेक्षा दल-बन्ध का और बाह्यकोश के दल-बन्ध की अपेक्षा आभ्यान्तरकोश के दल-बन्ध का ज्ञान कुल तथा जाति विनिश्चय में कहीं २ बहुत उपयोगी होता है। दलबन्ध के—(१) **संश्लिष्टदलक** (२) **नियतारूढ़दलक** और (३) **अनियतारूढ़दलक**—ये तीन मुख्य भेद होते हैं। सर्षप में संश्लिष्टदलक, जपा में नियतारूढ़दलक और करंज तथा कसौंदी में अनियतारूढ़दलक दलवन्ध होता है। प्रजापतिकुल में अनियतारूढ़दलक का एक विशेष भेद होता है जिसका वर्णन पीछे किया जा चुका है।—

पुमंग या पुंकेशरी

पुंकेशरी के तन्तु सदृश अवयवों को **पुंकेशर** (Stamen) कहते हैं। प्रत्येक पुंकेशर के प्रायः तीन भाग होते हैं। नीचे तन्तु सदृश **केशर-सूत्र** (Filament) और ऊपर **परागाशय** (Anther) होता है। परागाशय के प्रायः दो **खंड** (lobe) होते हैं और इन दोनों खण्डों को जोड़ने वाला पुंकेशर का तीसरा भाग होता है जिसे **योजी** (Connective) कहते हैं। केशर-सूत्र से परागाशय कई तरह से जुड़ा रहता है। जब सूत्र परागाशय के मूल से जुड़ा रहता है और सूत्र तथा योजी दोनों एक रेखा में रहते हैं तो उसे **बद्धमूलक** (Basifixed) कहते हैं—जैसे मूली तथा चक्रमर्द में। जब सूत्र परागाशय के पृष्ठ पर मूल से अग्र तक जुड़ा रहता है–जैसे चम्पक में–तो परागाशय को **श्लिष्टपृष्ठक** (Adnate) कहते हैं। यदि सूत्र का अग्र परागाशय के पृष्ठ पर किसी एक विन्दु पर दृढ़ता पूर्वक जुड़ा हो तो उसे **बद्धपृष्ठक** (Dorsifixed) कहते हैं। यदि सूत्राग्र बहुत पतला होकर किसी पृष्ठ-बिन्दु पर इस प्रकार जुड़ा हो की परागाशय आसानी से हिल सके तो उसे **लग्नपृष्ठक** (Versatile) कहते हैं—जैसे शूक-धान्यों में।

परागाशय के दोनों खण्ड योजी के दोनों ओर प्रायः समानान्तर और एक ऊंचाई पर होते हैं पर कहीं २ एक खण्ड नीचे और दूसरा कुछ ऊपर योजी से जुड़ा रहता है। कहीं योजी एक विन्दु सदृश होता है और दोनों खण्ड उस बिन्दु से जुड़े हुये और **अपसारी** (Divergent) होते हैं। कनेर तथा रतनपुरुष

में योजी परागाशय-खण्डों के ऊपर बढ़ा हुआ रहता है। कहीं २ योजी बहुत लम्बा होकर केशरसूत्र के अग्र पर बीचोंबीच **उद्याम** (Lever) की तरह बैठा होता है। इसका एक सिरा ऊपर उठा हुआ रहता है जिस पर एक परागयुक्त खण्ड रहता है और दूसरे सिरे पर परागाशय-खण्ड नहीं रहता अथवा वह परागरहित और अर्धविकसित अवस्था में रहता है। समुद्रशोष (Salvia) में इस प्रकार के पुंकेशर पाये जाते हैं।

परागाशय के पृष्ठ (Back) से योजी जुड़ा रहता है इसलिये पृष्ठ प्रायः समतल या **कूटयुक्त** (Ridged) होता है परन्तु इसके विपरीत परागाशय के उदर भाग पर प्रायः एक **अन्वायाम** (Longitudinal) प्रणाली होती है। पुंकेशर के दोनों भागों में कहीं सूत्र का और कहीं परागाशय का अभाव होता है। परागाशय न होने पर अथवा परागरहित और अर्धविकसित अवस्था में उसके विद्यमान रहने पर भी पुंकेशर को **क्लीबकेशर** (Staminode) कहते हैं–जैसे दुपहरिया (बन्धूक) और बकुल में। सूत्ररहित पुंकेशर को **असूत्र** (Sessile) कहते हैं।

संलाग और अभिलाग (Cohesion & Adhesion):—यदि पुष्प के किसी भाग के अवयव परस्पर संयुत होकर निकलते हैं तो इस अवस्था को **संलाग** कहते हैं। यदि एक भाग के अवयव दूसरे भाग के अवयवों से संयुत होकर निकलते हैं तो उस अवस्था को **अभिलाग** कहते हैं। इन अवस्थाओं को सजातीयायुतसिद्धि और विजातीयायुतसिद्धि भी कह सकते हैं। पुमंग में संलाग दो तरह का होता है। कहीं तो पुंकेशरों के सूत्र परस्पर मिले रहते हैं और उनके परागाशय पृथक् होते हैं–जैसे बला तथा अपराजिता में–और कहीं उनके केवल परागाशय परस्पर मिले रहते हैं–जैसे गेंदा तथा आलू में। प्रथम अवस्था में पुमंग **श्लिष्टसूत्रक** (Adelphous) और दूसरी अवस्था में उसे **श्लिष्टाशय** (Syngenesious) कहते हैं। जब पुंकेशर एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् होते हैं तो पुमंग को **विभक्तकेशर** (Polyandrous) कहते हैं। श्लिष्टसूत्रक पुमंग में केशरसूत्र परस्पर मिलकर एक, दो, तीन अथवा अधिक समुदायों में वर्तमान रहते हैं। इन अवस्थाओं में पुमंग को क्रमशः **एक-सौत्रक** (Monadelphous), **द्वि-सौत्रक** (Diadelphous), **त्रि-सौत्रक** (Triadelphous) अथवा **बहु-सौत्रक** (Polyadelphous) कहते हैं। जपा में एक सौत्रक, अगस्त तथा मटर में द्वि-सौत्रक

और शाल्मली में बहु-सौत्रक पुमंग होता है। पुंकेशरों की विजातीयायुतसिद्धि अर्थात् अभिलाग भी दो प्रकार का होता है। संयुक्तांगक आभ्यन्तरकोश या सवर्णकोश के दोलों से कभी २ पुंकेशर जुड़े हुये और उनसे निकले हुये मालूम होते हैं। ऐसे पुंकेशर **आन्तःकोशभ** (Epipetalous) या **सावर्णकौशभ** (Epiphyllous) कहे जाते हैं। धतूरा और निशोथ में वे आन्तःकोशभ और शतावरी तथा पलाण्डु में सावर्णकोशभ होते हैं। मदार, वंगीय रास्ना तथा ईश्वरमूल में पुंकेशर स्त्रीकेशरी से निकले हुये प्रतीत होते हैं और **स्त्रीकेशरजाभ** (Gynandrous) कहे जाते हैं। किसी पुष्प के पुंकेशर लम्बाई में बराबर भी हो सकते हैं और किसी के छोटे-बड़े भी। विधारा या निशोथ में छोटे-बड़े पाँच पुंकेशर होते हैं। तुलसी में दो बड़े और दो छोटे पुंकेशर होते हैं। यहाँ पुमंग को **विषमयुग्म** (Didynamous) कहते हैं। सर्षप-कुल में पुमंग चार बड़े और दो छोटे पुंकेशरों का होता है इसलिये इसे **चतुष्क-युग्म** (Tetradynamous) कहते हैं। कहीं २ एक ही जाति में दो प्रकार के पुष्प होते हैं। एक में पुंकेशर बड़े और दूसरे में छोटे होते हैं। जब पुंकेशर आभ्यन्तर कोश के बाहर निकले रहते हैं तो उन्हें **बहिर्गत** (Exerted) अन्यथा **अबहिर्गत** (Inserted) कहते हैं।

पुंकेशरों की संख्या में भी बहुत विभिन्नता पाई जाती है। पुष्पों में इनकी संख्या एक से अनेक तक होती है। परन्तु अधिकतर ये अन्तर्दलों के बराबर या उनकी दूनी संख्या में होते हैं। कहीं २ ये बहुत बड़ी और अनिश्चित संख्या में पाये जाते हैं और तब इन्हें **अनियत** (Indefinite) कहते हैं--जैसे नागफनी, देवकांडर तथा स्वर्णक्षीरी में। जब किसी जाति में पुंकेशर किसी निश्चित संख्या में रहते हैं जो प्रायः दस से अधिक नहीं होती तो उन्हें **नियत** (Definite) कहते हैं।

परागाशय

परागाशय साधारणतः दो खण्डों का होता है परन्तु कहीं २-जैसे जपा आदि कार्पास-कुल की वनस्पतिओं में-उसमें एक ही खण्ड होता है। प्रत्येक खण्ड भीतर दो कोठरियों में विभक्त रहता है जिन्हें **पराग-कोश** (Pollen-sac) कहते हैं। इनके अन्दर धूलि के कणों के सदृश **पराग-कण** (Pollen grain) भरे रहते

हैं जो एक-कोश होते हैं। पराग-कण आगे चलकर निषेचन के लिये पुं-कोश उत्पन्न करते हैं। पराग-कोशों में पराग-कण प्रायः अलग २ रहते हैं परन्तु कहीं२ -जैसे अर्क तथा वङ्गीय रास्ना में—वे परस्पर मिलकर पिण्ड बना लेते हैं जिसे **पराग-पिण्ड** (Pollinium) कहते । पराग-पिण्ड प्रायः सनाल होते हैं और दो २ एक साथ निकले रहते हैं। पराग-कोश का स्फुटन होने पर दोनों एक साथ बाहर निकलते हैं।

स्फुटन (Dehiscence) :—पराग के परिपक्व हो जाने पर परागाशय का स्फुटन होता है जिससे परागकण पराग-कोश से मुक्त होकर वायु तथा कीटादि द्वारा स्त्रीकेशर के सम्पर्क में पहुँचाये जा सकें। स्फुटन कई प्रकार से होता है। यदि परागाशय लम्बाई में फटे तो स्फुटन **अन्वायाम** (Longitudinal), चौड़ाई में फटे तो **पारिणाहिक** या **अनुप्रस्थ** (Transverse), परागाशय की भित्ति में छिद्र बन जाँय तो **छिद्रकारी** (Porous) और भित्ति का कुछ भाग कपाट की तरह खुल जाय तो **कपाटकारी** (Valvular) कहा जाता है। धत्तूर तथा सूर्यमुखी में अन्वायाम, तुलसी में अनुप्रस्थ, बैंगन तथा आलू में छिद्रकारी और दारुहलदी तथा तेजपात में कपाटकारी स्फुटन होता है। परागाशय यदि अन्दर अर्थात् स्त्रीकेशरी की ओर फटे तो उसे **अन्तःस्फुट** (Introrse) और बाहर की ओर फटे तो **बहिःस्फुट** (Extrorse) कहते हैं। अन्तःस्फुटन और बहिःस्फुटन के अतिरिक्त स्फुटन **पार्श्विक** (Lateral) भी हो सकता है।

स्त्रीकेशरी अथवा जायांग

स्त्रीकेशरी के अवयव **स्त्रीकेशर** (Carpel) होते हैं। प्रत्येक स्त्रीकेशर के तीन विभाग होते हैं। इसके नीचे का मूल भाग फूला हुआ, चौड़ा और पोला होता है जिसे **अण्डाशय** (Ovary) कहते हैं। मध्य में अर्थात् अण्डाशय के ऊपर प्रायः एक पतले नाल के सदृश वृन्त होता है जिसके अग्र पर **कुक्षि** (Stigma) नाम का तीसरा भाग होता है जो प्रायः गोल या चिपटा रहता है। दूसरे भाग को **कुक्षिवृन्त** (Style) कहते हैं। कहीं २-जैसे स्वर्णक्षीरी में-कुक्षिवृन्त न होने से कुक्षि **अवृन्त** (Sessile) होती है और अण्डाशय के शीर्ष पर टोप की तरह बैठी रहती है।

स्त्रीकेशर की संख्या के अनुसार जायांग को **एक-** (Mono-), **द्वि-**(Bi-) **त्रि-**(Tri-) अथवा **बहु-स्त्रीकेशरक** (Multicarpellary) कहते हैं। स्त्रीकेशरों की संख्या एक से अधिक होने पर जायांग **पृथगांगक** (Apocarpous) अथवा **संयुतांगक** (Syncarpous) होता है। देवकांडर, ममीरी, चम्पा तथा कमल में पृथगांगक और स्वर्णक्षीरी तथा जपा में संयुतांगक जायाङ्ग होता है। संयुताङ्गक अवस्था में स्त्रीकेशर भिन्न भिन्न मात्रा में परस्पर मिले रहते हैं। नीबू में वे पूर्णतः मिले रहते हैं जिससे सम्पूर्ण जायांग में एक अंडाशय, एक कुक्षि-वृन्त और एक कुक्षि दिखाई देती है। जपा में जितने स्त्रीकेशर होते हैं उतनी ही कुक्षियाँ होती हैं परन्तु नीचे प्रत्येक के दोनों भाग परस्पर संयुत होकर केवल एक कुक्षि-वृन्त और एक अण्डाशय के रूप में विद्यमान रहते हैं। चित्रक और अतसी में केवल अण्डाशयों का एकीभाव हुआ रहता है परन्तु प्रत्येक के शेष दोनों भाग अलग २ रहते हैं। अर्क तथा कनेर में इसके विपरीत अण्डाशय पृथक् रहते हैं और शेष दोनों विभाग प्रायः मिले रहते हैं। अपूर्ण एकीभाव की स्थिति में स्त्रीकेशरों की संख्या का निर्णय उनके स्वतंत्र या पृथक् विभागों को गिनकर किया जा सकता है। परन्तु जब जायांग एक-स्त्रीकेशरक प्रतीत हो तो अण्डाशय को काटकर उसके भीतर देखना पड़ता है।

अण्डाशय के भीतर की व्यवस्था समझने के लिये यह ध्यान में रखना चाहिए कि स्त्रीकेशर भी अन्य पुष्पपत्रों की तरह एक सामान्य पत्ती का रूपान्तर मात्र होता है। यदि यह मान लिया जाय कि पत्ती मध्य नाड़ी पर मुड़कर दुहरी हो गई है और उसके दोनों तटों के परस्पर संयुक्त हो जाने से भीतर एक **गह्वर** (Cavity) बन गया है तो मटर आदि के एककेशरक अण्डाशय की भीतरी रचना स्पष्ट हो जाती है। मटर के अण्डाशय या फली में दो संधियाँ होती हैं। एक मोटी और रीढ़ की तरह बाहर निकली रहती है। यह स्त्री-केशरिक पत्र की मध्यनाड़ी है इसलिये इसे **पार्ष्ठिक सन्धि** (Dorsal suture) कहते हैं। दोनों पत्र-तटों की संधि को **औदर्य सन्धि** (Ventral suture) कहते हैं। यह बाहर नाली की तरह होती है और भीतर इससे बीज निकले रहते हैं। सानू में महाबीजाणुपर्ण (Megasporophyll) के तट पर बीज निकलते हैं जिसके उद्विकास से स्त्रीकेशर की उत्पत्ति मानी जाती है इसलिये मटर में पत्रतटों की संधि पर बीजों का निकलना स्वाभाविक है। अब यदि यह मान

लिया जाय कि संयुत अण्डाशय में मटर के अण्डाशय के समान कई संघटक अण्डाशय इस प्रकार मिल गये हैं कि उनकी औदर्य संधियाँ व जपंक्तियाँ के साथ २ एक होकर गर्भाशय के मध्य में आ गई हैं और निकटस्थ अण्डाशयों की पार्श्विक भित्तियाँ मिलकर संयुत अण्डाशय के अन्दर व्यवधानों या परदों के रूप में विद्यमान हैं तो यह मानना पड़ेगा कि भिंडी तथा जपा आदि के संयुक्त अण्डाशय में जितने व्यवधान या गह्वर हैं जायांग में उतने ही स्त्रीकेशर हैं। स्वर्णक्षीरी में संयुत अण्डाशय होने पर भी उसमें एक ही गह्वर होता है। यहाँ स्त्रीकैशरिक पत्र के दोनों तट परस्पर नहीं मिलते बल्कि पार्श्विक पत्र के आसन्न तट से मिले रहते हैं और बीज समूहबद्ध अथवा पंक्तिबद्ध होकर इन्हीं औदर्य संधियों पर निकलते हैं। सारांश यह हुआ कि अण्डाशय को काटकर देखने से उसके अन्दर जितने गह्वर एवं औदर्य संधियाँ मिलें उतने ही स्त्रीकेशर जायांग में होने चाहिये। अण्डाशय के भीतर के व्यवधानों को **अन्तर्भित्ति** या **पटी** (Septum) कहते हैं। अन्तर्भित्तियाँ स्वयं स्त्रीकैशरिक पत्रों के भीतर घुसे हुये अंशो से बनी होती हैं परन्तु कहीं २ इन पत्रों के पृष्ठ से प्रवर्धन निकल कर पटीरूप हो जाते हैं–जैसे सर्षप में। ऐसे व्यवधानों को **मिथ्यापटी** (False septum) अथवा **कूटान्तर्भित्ति** कहते हैं। गह्वरों की संख्या के अनुसार अण्डाशय **एक**-(Uni-), **द्वि**-(Bi-), **त्रि**-(Tri-) अथवा **बहु गह्वर** (Multilocular) होता है। दल्यक्ष के आकार के अनुसार अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ अधःस्थ अथवा अनूर्ध्वाधःस्थ होता है। यह पहले ही बतलाया जा चुका है।

कुक्षि-वृन्त प्रायः अण्डाशय के शीर्ष या अग्र पर(**अग्र्य**–Terminal) होता है पर कहीं २–जैसे तृण-बदर (Straw-berry) में–उसके पार्श्व से निकला हुआ (**पार्श्विक**–Lateral) मालूम होता है। तुलसी-कुल में अण्डाशय के चार खण्ड होते हैं और कुक्षि-वृन्त इन खण्डों के मध्य से होकर अण्डाशय के ऊपर निकला रहता है और ऐसा मालूम होता है कि यह दल्यक्ष से निकला हुआ है। ऐसे कुक्षि-वृन्त को **अधःजायोद्गत** (Gynobasic) कहते हैं। कुक्षि-वृन्त प्रायः पुष्पायुष्क होता है परन्तु कहीं २–जैसे मोरवेल तथा बिछुआ में–यह फलायुष्क होता है और फल के विकिरण में सहायक होता है। **कुक्षि** प्रायः गोल होती है पर यह लम्बी, नोकीली अथवा चिपटी भी हो सकती है। संयुतांगक अवस्था में जब स्त्रीकेशर पूर्णतः मिले रहते हैं तब भी संयुत कुक्षि के खण्ड

कुछ न कुछ स्पष्ट दीख पड़ते हैं और कहीं २-जैसे स्वर्णक्षीरी में-टोपी की तरह अण्डाशय के शीर्ष पर बैठे रहते हैं। यहाँ कुक्षि को **टोपीरूप** (Capitate) कहते हैं। कुक्षि साधारणतः शुष्क रहती है परन्तु परिपक्व होने पर यह गीली और चिपचिपी हो जाती है जिससे उसके संसर्ग में आने पर पराग-कण उससे चिपक जाते हैं। वात-परागित पुष्पों में उड़ते हुये पराग कणों को पकड़ने के लिये कुक्षि प्रायः रोमश और सशाख होती है।

जरायु-न्यास (Placentation):-औदर्य संधियों पर जिस ऊति से बीजीभव (Ovule) संसक्त रहते हैं उसे **गर्भ-पोष** या **जरायु** (Placenta) कहते हैं। जरायु प्रायः एक अन्वायाम कूट (Longitudinal ridge) या गद्दी के सदृश होता है। जरायु समग्र औदर्य संधि पर अथवा उसके केवल एक सिरे पर रहता है। इसी से होकर उत्तरोत्तर वर्धमान बीजीभव एवं बीज को पोषक पदार्थ आते हैं। अण्डाशय के अन्दर जरायु की स्थिति और क्रम को **जरायु-न्यास** (Placentation) कहते हैं। यह निम्नांकित ६ प्रकार का होता है:—

(१) **एक-भित्तिग** या **प्रान्तीय** (Marginal):—जब एक-केशरक अण्डाशय में स्त्रीकैशरिक पत्र के दोनों प्रान्तों की संधि (औदर्य संधि) पर प्रायः एक पंक्ति में बीजीभव निकले रहते हैं-जैसे मटर तथा सिरिस में—

(२) **अभिभित्तिग** या **प्राचीर** (Parietal):—जब अण्डाशय एक-गह्वर हो परन्तु जरायु और बीज-पंक्तियाँ कई हों जो अण्डाशय की भित्ति पर औदर्य संधियों के ऊपर हों-जैसे स्वर्णक्षीरी तथा पपीता में। पोस्ता में स्त्रीकैशरिक पत्रों के संयुक्त प्रान्त भीतर की ओर बढ़े हुये रहते हैं और अपूर्ण अन्तर्भित्तियों के रूप में दिखाई देते हैं। यहाँ जरायु यद्यपि बहिर्भित्ति से दूर रहते हैं तो भी जरायुन्यास को प्रान्तीय और अभिभित्तिग कहते हैं। सर्षप-कुल में दो अभिभित्तिग जरायु होते हैं जिनके बीच में एक पतली आनन्तर्य पटी के बन जाने से अण्डाशय द्वि-गह्वर हो जाता है।

(३) **अक्षलग्न** या **लग्नमध्यग** (Axile):—बहु-गह्वर अण्डाशय में जब प्रत्येक संघटक अण्डाशय के प्रान्तीय जरायु और औदर्य संधि परस्पर संयुक्त होकर एक अक्ष बना लें और बीजीभव उसी अक्ष से निकले हुये मालूम हों-जैसे जपा तथा बैंगन में।

(४) **अलग्न-मध्यग** (Free-Central)-जब केन्द्रस्थ अक्ष का लगाव

भित्ति से न हो और उस अक्ष पर चारों ओर से बीजीभव निकले हुये हों-जैसे साबुनी तथा लोणी में। प्रायः बहु-गह्वर अण्डाशय की अन्तर्भित्तियों के लुप्त हो जाने से यह अवस्था उत्पन्न होती है परन्तु कभी २ एक-गह्वर अण्डाशय के बीचो बीच दल्यक्ष बढ़ा हुआ रहता है और बीजीभव उसी से निकले रहते हैं-जैसे **पीतसेवती** (Prime-rose) में।

(५) **भित्त्यन्तर्व्यापी** अथवा **तललग्न** (Superficial)—जब अण्डाशय बहु-गह्वर हो परन्तु जरायु अण्डाशय की बाह्य तथा अन्तर्भित्तियों पर सर्वत्र फैल गया हो जिससे बीजीभव इन भित्तिओं पर सर्वत्र निकले हों--जैसे नीलोफर में।

(६) **अधोभित्तिग** या **पीठ-लग्न** (Basal)-जब अण्डाशय एक-गह्वर हो और जरायु उसके पीठ (आधार) या पेंदी पर हो जिससे एक या कई बीजीभव पीठ से निकले हों-जैसे सूर्यमुखी में।

बीजीभव (Ovule)

बीजीभव पहले जरायु से एक कोश-पिण्ड के रूप में निकलता है। यह ज्यों ज्यों बढ़ता है इसका आगे का हिस्सा स्थूल और गोल हो जाता है और मूल में यह वृन्त सदृश पतला और कुछ लम्बा हो जाता है। आगे का स्थूलभाग बीजीभव का शरीर या **बीजीभवाशय** (nucellus) और नीचे का भाग **बीजीभव-वृन्त** (Funiculus) कहा जाता है। बीजीभव के जिस स्थान पर वृन्त लगा रहता है उसे **नाभि** या **वृन्तयु** (Hilum) कहते हैं नाभि के पास बीजीभवाशय से प्रायः दो पर्त का एक आवरण बनना प्रारम्भ होता है। जो क्रमशः सम्पूर्ण बीजीभवाशय के ऊपर चढ़ जाता है। केवल शीर्ष पर एक बिन्दु इतना स्थान रह जाता है जहाँ यह आवरण नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि इस स्थान पर आवरण में एक सूक्ष्म छिद्र बन गया है जिसे **अणुद्वार** या **द्वारक** (Micropyle) कहते हैं। जहाँ से आवरण निकलता है उस भाग को **निभाग** या **त्वग्भव** (Chalaza) कहते हैं और आवरण को **ऊर्ध्वत्वक्** (Integuments) कहते हैं। चन्दन तथा वन्दाक में ऊर्ध्वत्वक् नहीं होता और कहीं २ यह केवल एक पर्त का होता है। बीजीभवाशय के अन्दर द्वारक के समीप एक बड़ा, अण्डाकार कोश होता है जिसे **गर्भ-कोश** (Embryo-sac), कहते हैं।

बीजीभव की प्रारम्भिक अवस्था में बीजीभवाशय के अन्दर द्वारक के समीप

एक विशेष प्रकार की मातृ-कोशा का उदय होता है जिसके दो बार लगातार विभक्त होने से एक **पांक्ति-चतुष्क** (Linear tetrad) बन जाता है जिसमें चार कोशायें एक पंक्ति में रहती हैं। इसकी तीन कोशायें तो नष्ट हो जाती हैं परन्तु चौथी क्रमशः बड़ी हो जाती है और इसे ही गर्भ-कोश कहने लगते हैं जो वस्तुतः एक **महा-बीजाणु** (Megaspore) होता है। बीजीभव के साथ २ महा-बीजाणु भी बढ़ता है और क्रमशः बीजीभवाशय के अधिकांश को छेंक लेता है। बीजाणु-वृद्धि के साथ २ बीजाणु के भीतर परिवर्तन होते रहते हैं। बीजाणु-न्यष्टि पहले एक बार विभक्त होकर दो संतति-न्यष्टि उत्पन्न करती है जो बीजाणु के दोनों सिरों पर चली जाती है। यहाँ दोनों न्यष्टियाँ फिर दो २ बार विभक्त होकर दोनों सिरों पर चार २ न्यष्टियाँ उत्पन्न करती हैं। प्रत्येक सिरे से एक २ न्यष्टि आकर बीच में मिल जाती है। इस युत न्यष्टि को **आनन्तर्य-न्यष्टि** (Secondary nucleus) कहते हैं। द्वारक के समीप की तीनों न्यष्टियाँ थोड़े २ प्ररस से परिबद्ध होकर तीन नग्न कोशाओं के रूप में आ जाती हैं। इनमें द्वारक की ओर की दो कोशायें **आपूरक** (Synergidae) और तीसरी **अण्ड-कोशा** (Egg-cell) कही जाती है। विपरीत सिरे की तीनों न्यष्टिओं से तीन आवरण युक्त कोशायें बन जाती हैं जिन्हें **तटस्थत्रयी** अथवा **प्रतिध्रुव-कोशा** (Antipodal cells) कहते हैं। इनका कोई कार्य नहीं होता अतः ये शीघ्र नष्ट हो जाती हैं।

आकार और स्थिति:—बीजीभव अपने वृन्त से कई प्रकार से संसक्त रहता है और संसक्ति-विधि के अनुसार उसका आकार भी चार विभिन्न प्रकार का होता है :—

(१) **ऊर्ध्वद्वारक** या **ऋजु-वपुष्क** (Orthotropous):—जब बीजीभव वृन्ताग्र पर सीधा बैठा हो और वृन्त, निभाग और द्वारक तीनों एक रेखा में हों-जैसे पिप्पली, मिर्च तथा चुक्र में।

(२) **ऊर्ध्वनिभाग या प्रतीप-वपुष्क** (Anatropous):—जब बीजीभव उलटा होकर अपनी पूरी लम्बाई में वृन्त से संसक्त हो जिससे द्वारक और नाभि दोनों सन्निकट हों परन्तु निभाग और नाभि विपरीत सिरों पर हों—जैसे सूर्यमुखी तथा एरण्ड में। ऊर्ध्वनिभाग बीजीभव अधिक पाये जाते हैं।

(३) **पार्श्वनिभाग** या **अनुप्रस्थ-वपुष्क** (Amphitropous):—जब

बीजीभव अपने एक पार्श्व पर कुछ दूर तक वृन्त से संयुत हो जिससे वृन्त से बीजीभव समकोण बनाता हुआ प्रतीत हो–जैसे मूली तथा पपीता में।

(४) **वक्रित-वपुष्क** (Campylotropous):—जब बीजीभव केवल वृन्ताग्र से जुड़ा हो परन्तु उसका शरीर अश्वनाल की तरह वक्रित हो–जैसे गुलाबांस तथा जपा में।

अण्डाशय के अन्दर अपनी स्थिति के अनुसार बीजीभव निम्नांकित चार प्रकार का होता है:—

(१) **तलोत्थ** (Erect)–जब बीजीभव अण्डाशय की पेंदी से निकला हुआ और उर्ध्वमुख हो-जैसे सूर्यमुखी में।

(२) **अधोलम्ब** (Pendulous):—जब वह अण्डाशय के शीर्ष से निकलकर और अधोमुख होकर निदोल की तरह नीचे की ओर लटका हुआ हो।

(३) **पार्श्वलम्ब** (Suspended):—यदि वह अण्डाशय की पार्श्व-भित्ति से निकल कर और किंचित् अधोमुख होकर लटका हुआ हो। यदि ऊर्ध्व-मुख होकर ऊपर की ओर उठा हो तो उसे पार्श्वोत्थ भी कह सकते हैं।

(४) **क्षैतिज** (Horizontal):—यदि वह पार्श्वभित्ति से समकोण बनाता हुआ निकला हो।

पुष्प-संमिति तथा सभाजता

समग्र पुष्प की रचना-विधि अथवा अंग-योजना का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक या अनेक केन्द्रगामी उदग्र (Vertical) समतलों में पुष्प को काट कर उसके दोनों छेदों (Section) की समता-विषमता देखी जाती है। इस विधि से जानी हुई रचना-विधि को पुष्प की **संमिति** (Symmetry) कहते हैं। संमिति भेद से पुष्प–(१) **संमितीय**, (२) **एकसंमितीय** तथा **असंमितीय**-तीन प्रकार के होते हैं। यदि किसी भी केन्द्रगामी उदग्र समतल में काटे हुये पुष्प के दोनों छेद अभिन्न हों तो पुष्प को **नियताकार** (Reg-ular), **समच्छेद, संमितीय** (Symmetrical) अथवा **अर-संमितीय** (Actinmorphic) कहते हैं–जैसे धतूरा तथा कंटकारी के पुष्प। यदि केवल एक ही ऐसा उदग्र समतल हो जिसमें काटने से पुष्प के दोनों छेद समान होते हैं तो पुष्प को **एकसंमितीय** (Monosymmetrical) अथवा

समैकच्छेद (Zygomorphic) कहते हैं। जब पुष्प किसी एक भी उदग्र समतल में दो समान छेदों में न काटा जा सके तो उसे **असंमितीय** (Asymmetrical) अथवा **विषमच्छेद** कहते हैं। एकसंमितीय और असंमितीय दोनों प्रकार के पुष्प प्रायः **अनियताकार** (Irregular) कहे जाते हैं।

पुष्प के विभिन्न भागों के अवयवों की संख्याओं के पारस्परिक सम्बन्ध को सभाजता अथवा भागांगसाम्य कहते हैं। यदि किसी एक भाग की अवयव-संख्या अन्य भागों की अवयव-संख्या के बराबर अथवा तद्गुण हो तो पुष्प को **सभाजिक** (Isomerous) अथवा **समभागांग** कहते हैं। और यदि उनकी संख्यायें समान या बहुगुण न हों तो पुष्प को **विषमभागांग** (Heteromerous) कहते हैं। समभागांग पुष्प में सब भागों की अवयव-संख्या दो २ हो अथवा किसी की तद्गुण भी हो तो पुष्प को **द्व्यंशभागी** (Bimerous) कहते हैं। यदि इसी तरह दो के स्थान में किसी पुष्प में ये संख्यायें तीन, चार अथवा पाँच हों तो पुष्प को क्रमशः **त्र्यंश**-(Tri-), **चतुरंश**-(Tetra-) अथवा **पंचांशभागी** (Pentamerous) कहते हैं। पथरचूर में बाह्यदल, अन्तर्दल तथा स्त्रीकेशर चार २ होते हैं और पुंकेशर आठ-चार २ के दो चक्रों में-होते हैं। परन्तु इस तरह के समांगभागी पुष्प प्रायः द्विबीजपत्रों में बहुत कम होते हैं क्योंकि स्त्रीकेशर प्रायः सर्वदा औरों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम होते हैं। इसीलिये सभाजता का निर्णय करने के लिये स्त्रीकेशरों की संख्या पर ध्यान नहीं दिया जाता। एक बीजपत्रों में त्रयांशभागी और द्विबीजपत्रों में पंचांगभागी पुष्प अधिक मिलते हैं। समांगभागी पुष्प संमितीय होता है।

पुष्प-चित्र और पुष्प-सूत्र

पुष्प के विभिन्न भागांगों की संख्या, संमिति, दलबन्ध आदि जिस चित्र के द्वारा दिखाया जाता है उसे **पुष्प-चित्र** (Floral diagram) कहते हैं। यह चित्र पुष्प-कलिका के अनुप्रस्थ छेदका केवल मानचित्र होता है। इसमें पुष्प के सब भाग सकेन्द्र चक्रों में दिखाये जाते हैं। सबसे बाहर की ओर बाह्यदलों का चक्र और मध्य में स्त्रीकेशरी एवं अण्डाशय के अनुप्रस्थ छेद का चित्र रहता है। बीच में अन्य भागों के चक्र रहते हैं। बाहरी चक्र के बाहर ऊपर की ओर ठीक मध्य मे एक बिन्दु होता है जो व्यूहाक्ष के स्थान में रहता है। पुष्प के जो

अवयव व्यूहाक्ष और पुष्प के बीच में रहते हैं उन्हें **पश्च** (Posterior) **अवयव** कहते हैं और जो उनके विपरीत दूसरी ओर होते हैं उन्हें **अग्र** (Anterior) **अवयव** कहते हैं। जिस समतल में अग्र और पश्च अवयव होते हैं उसे **अग्र-पश्च** (Antero-posterior अथवा Median plane) समतल कहते हैं। इससे समकोण पर **पार्श्विक** (Lateral) समतल और दोनों के बीच में दो **विकर्ण** (Diagonal) समतल होते हैं। पुष्पचित्र बनाने में पहले विभिन्न समतलों में होने वाले पुष्प के अवयवों को यथास्थान दिखाना चाहिये। फिर, अन्य अवयवों को यथास्थान और यथाक्रम दिखाना सरल हो जाता है। पुष्पों में एक पश्च बाह्यदल प्रायः सर्वदा उपस्थित रहता है। व्यूहाक्ष की तरह विपरीत दिशा में कोणपुष्पक भी दिखाया जा सकता है। संलाग और अभिलाग दिखाने के लिये अवयवों के बीच में एक रेखा अथवा बिन्दु-पंक्ति बना दी जाती है। पुष्पचित्र-(१) **सैद्धान्तिक** (Theoretical) और (२) **आनुभविक** (Empirical —दो प्रकार के होते हैं। आनुभविक चित्र में केवल उपस्थित अवयव दिखाये जाते हैं और सैद्धान्तिक चित्र में लुप्त अवयव भी बिन्दु-पंक्तियों के द्वारा प्रदर्शित कर दिये जाते हैं।

पुष्प की जिन बातों का परिचय पुष्प-चित्र से मिलता है प्रायः वे ही बातें **पुष्प-सूत्र** (Floral formula) से जानी जाती हैं। परन्तु दल-बन्ध केवल पुष्प-चित्र में और अण्डाशय की सापेक्ष स्थिति पुष्प-सूत्र में ही दिखाई जा सकती है। पुष्प-सूत्र बनाने में कुछ प्रतीकों का उपयोग होता है। परिपुष्प, बाह्यकोश, आभ्यन्तरकोश, पुमंग तथा जायांग के लिये क्रमशः **प**, **क**, **द**, **पु** तथा **जा** संकेताक्षरों का उपयोग किया जाता है। विभिन्न उपस्थित भागों के संकेताक्षर और प्रत्येक के आगे उनकी अवयव-संख्यायें दी जाती हैं। अनियत संख्या के लिये ∞ चिन्ह होता है। संलाग दिखाने के लिये सम्बन्धित संख्या को अभिवार युग्म ( ) के अन्दर रखते हैं और अभिलाग की अवस्था में सम्बन्धित संकेताक्षरों के ऊपर एक क्षैतिज अभिवार या चाप बनाते हैं। ऊर्ध्वस्थ अण्डाशय के लिये जायांग की संख्या के नीचे और अधस्थ अण्डाशय के लिये उसके ऊपर आड़ी रेखा खींची जाती है। यदि कोई भाग एक या अधिक चक्रों में होता है तो भिन्न २ चक्रों की संख्यायें अलग २ देकर उनके बीच में + का चिन्ह बनाया जाता है।

सर्षप-पुष्प का सूत्र क$_{२+२}$ द$_{४}$ पु$_{२+४}$ जा (२) है क्योंकि वाह्यकोश विभक्तांगक और दो २ दलों के दो चक्रों में, आभ्यन्तरकोश चार दलों का और विभाक्तांगक, पुमंग विभक्तांगक और दो तथा चार पुंकेशरों के दो चक्रों में, जायांग संयुतांगक और द्विकेशरक तथा अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ होता है।

पुष्प की आकारिकीय प्रकृति

पुष्प की मूल-प्रकृति एक पत्र-शाखा जैसी होती है। इस बात का संकेत पुष्प के वर्णन में कई स्थलों पर मिला है। पुष्प-कलिका की रचना-विधि, दल-विन्यास तथा पौष्पिक पत्रों की आकृति आदि पर विचार करने से वह पत्रकलिका का रूपान्तर मात्र प्रतीत होती है। दल्यक्ष काण्ड का, पौष्पिक पत्र सामान्य पत्रों के और सम्पूर्ण पुष्प एक पत्र-शाखा का रूपान्तर मालूम होता है। कोई भी रूपान्तर कार्य के अनुकूल होता है। पुष्प लैंगिकी पुनरुत्पत्ति का साधक अंग होकर उत्पन्न होता है इसलिये पत्र-शाखा को पुष्प के रूप में आने के लिये जितने भी परिवर्तन करने पड़ते हैं वे सब उसके कार्य के अनुकूल होते हैं। यह बात पुष्प की अंग-योजना देखने पर स्पष्ट हो जाती है। निम्नांकित प्रमाणों के आधार पर पुष्प को रूपान्तरित पत्र-शाखा कह सकते हैं:—

(१) **दल्यक्ष** पत्र-कलिका के अक्ष की तरह संक्षिप्त पर्वों का बना होता है। इसके कोई २ पर्व सामान्य पत्र-शाखा के पर्वों की तरह दीर्घीभूत हो जाते हैं-जैसे मुचकुन्द, करीर तथा श्वेत हुरहुर में। कहीं २ दल्यक्ष विकृत वृद्धि के कारण बढ़ कर पुष्प के ऊपर आ जाता है और सामान्य काण्ड की तरह उससे सामान्य पत्तियाँ भी निकल आती हैं।

(२) **पुष्प-कलिका** पत्र-कलिका की तरह अग्रच अथवा पत्रकोणीय होती है। दोनों का दल-विन्यास एक ही तरह का होता है। काण्ड पर जैसे पत्रोद्भव चक्रिक और कुण्डलित क्रम में होता है उसी प्रकार पौष्पिक पत्र भी निकलते हैं। जैसे काण्ड की आसन्न ग्रंथिओं पर पत्रोद्भव में एकान्तरण (Alternation) होता है इसी प्रकार आसन्न चक्रों के पौष्पिक पत्रों में भी एकान्तरिकता देखी जाती है।

(३) **बाह्यदल और अन्तर्दल** पत्राकार होते ही हैं. केवल पुंकेशर और स्त्रीकेशर आकार में सामान्य पत्तियों से भिन्न होते हैं। परन्तु, जैसे स्त्रीकेशर

की एक भंजित पत्र से तुलना की गई है उसी तरह पुंकेशर को भी सामान्य पत्ती का रूपान्तर कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त गुलाब तथा जपा आदि के पुष्पों में जननांगों के पत्राकार परिवर्तन से उनकी मूल प्रकृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

परिच्छेद ५

परागण (Pollination) और निषेचन (Fertilization)

प्रजनन (Reproduction) :--बीजोद्भिजों का प्रजनन दो प्रकार से होता है। अनेक पौधे अक्षिप्ररोह के द्वारा अपनी पुनरुत्पत्ति करते हैं जिसमें उनके शरीर का कोई एक खण्ड स्वाभाविक अथवा आगन्तुक अक्षिओं की वृद्धि से क्रमशः एक स्वावलम्बी उद्भिज का रूप धारण कर लेता है और मातृ-शरीर से पृथक् हो जाता है। मूल, काण्ड तथा पत्र सभी अंग इस विधि से प्रजनन का कार्य सम्पन्न कर सकते हैं-यह पूर्व परिच्छेदों में बतलाया जा चुका है। यह **खण्ड-प्रजनन** (Vegetative reproduction) की विधि है। प्रजनन की दूसरी विधि को **लैंगिक** विधि (Sexual reproduction) कहते हैं जो पुष्प के द्वारा सम्पन्न होती है। इस विधि से **बीज** की उत्पत्ति होती है जो नवजात संतान का शारीरिक विकास की एक अवस्था विशेष का नाम है। बीज की पूर्ण परिपक्वावस्था में ही नवजात संतान मातृ-उद्भिज से पृथक् होती है। पुष्प के जननांगों में परागकण और बीजीभव उत्पन्न होते हैं जो फिर क्रमशः पुं-कोशा तथा स्त्रीकोशा उत्पन्न करते हैं। इन दोनों कोशाओं के एकीभाव से प्रजनन होता है। अतः लैंगिक प्रजनन में पराग का जायांग के आदान-प्रदेश (कुक्षि) में संक्रामण (Transference) और फिर पुं-कोशा तथा स्त्री-कोशा का एकीभाव-ये दो मुख्य क्रियायें है जिन्हें क्रमशः **परागण** (Pollination) और **निषेचन** (Fertilization) की क्रियायें कहते हैं।

परागण:—इसके—(१) स्वयं-परागण (Self-pollination) और (२) **अपर-परागण** (Cross-pollination)-दो भेद हैं। यदि किसी उभयलिङ्ग पुष्प का पराग उसी पुष्प के कुक्षि में जाकर गिरता है तो इस पराग-संक्रमण को स्वयं-परागण कहते हैं। यदि एक पुष्प के पराग का संक्रामण कीटादिकों

के द्वारा उसी जाति के दूसरे पुष्प के कुक्षि में होता है तो इसे अपर-परागण कहते हैं। स्वयं-परागण स्वयं-साध्य क्रिया है और अपर-परागण परापेक्षी है अतः उभयलिङ्ग पुष्पों को स्वयं-परागि होना चाहिये, परन्तु ये पुष्प प्रायः अपर-परागि होते हैं यद्यपि इसके लिये उन्हें अनेक प्रकार की व्यवस्थायें करनी पड़ती हैं। इतना ही नहीं, ये व्यवस्थायें ऐसी होती हैं जिनके कारण स्वयं-परागण कष्ट-साध्य एवं असम्भव हो जाता है और जो अपर-परागण के लिये अत्यन्त सुविधाजनक होती हैं। इसका कारण यह है कि अपर-परागण स्वयं-परागण की अपेक्षा अधिक उपयोगी होता है क्योंकि इस विधि से उत्पन्न संतति संख्या में अधिक, बल और जीवन-शक्ति में श्रेष्ठ तथा जीवन-संग्राम में अधिक सफल होती है। स्वयं-परागण से संतति का विह्रास होता है और संतत स्वयं-परागिता से उसकी प्रजनन-शक्ति भी क्षीण हो जाती है। अपर-परागण से दूसरा लाभ यह है कि इस विधि से संतति-समुदाय में विभिन्नता आती है और जाति के अन्दर अनेक भेद उत्पन्न होते हैं। स्वयं-परागी व्यक्ति की संतति में गुणोत्कर्ष उस श्रेणि का नहीं होता जैसा अपर-परागी व्यक्ति की संतति में संभव है चाहे उसके पुष्पों का स्वयं-परागण हुआ हो अथवा अपर-परागण। इसका कारण यह है कि एक में संतति को मातृ पक्ष और पितृ पक्ष दोनों ओर से समान गुण मिलते हैं और दूसरी विधि में दोनों पक्षों से आये हुये भिन्न २ गुणों का संमिश्रण संतान में रहता है। अपर-परागण में श्रेष्ठता होने पर भी कुछ पौधों के कुछ पुष्प स्वभाव से ही स्वयं-परागण के अनुकूल निर्मित रहते हैं और कुछ तात्कालिक व्यवस्था कर लेते हैं जब कि उनके अधिकांश पुष्प स्वभाव से अपर-परागी ही होते हैं। इसका कारण है अपर-परागण की कष्ट-साध्यता और परापेक्षिता। यदि किसी कारण से अपर-परागण नहीं हो पाता तो वंश-परम्परा की रक्षा के लिये स्वयं-परागण के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं रह जाता और उसका आश्रय लेना ही पड़ता है।

अपर-परागण के साधन (Agencies)—अपर-परागण में पराग का संक्रामण **वात** (Wind), प्राणी तथा जल के द्वारा होता है और इन साधनों से परागित होने वाले पुष्पों को क्रमशः **वात-परागित** (Anemophilous), **प्राणि-परागित** (Zoophilous) अथवा **जल-परागित** (Hydrophilous) कहते हैं। जिस साधन से पुष्प का परागण होता है उसके अनुकूल पुष्प की अनेक विशेषतायें होती हैं।

वात-परागित पुष्प छोटे, अनाकर्षक और सुन्दरता, सुगन्ध एवं मधु से वंचित रहते हैं। पराग अधिक होता है और परागकण चिकने, हल्के तथा शुष्क रहते हैं। केशरसूत्र लम्बे, परागाशय लग्नपृष्ठक और कुक्षि प्रायः रोमश, सपक्ष अथवा सशाख होता है। पुष्पव्यूह प्रायः साधारण अवृन्तकाण्डज अथवा नम्र अवृन्तकाण्डज होता है। शाकीय उद्भिज्जों में पुष्प-व्यूह प्रायः अत्यधिक ऊपर निकला रहता है और अनेक वात-परागी वृक्षों में पुष्पोद्भव वसन्त में पतझड़ के बाद और नवीन पत्तियों के आने के पहले होता है। इस विधि से पराग का अपव्यय अधिक होता है अतः अधिक पराग का होना आवश्यक है। अन्य विशेषतायें ऐसी हैं जो वात-संक्रामण की बाधाओं का अतिक्रमण करने में सहायक होती हैं। शूकधान्य-कुल (मक्का तथा बाजरा), भूर्ज-कुल तथा वट-कुल के पौधों में इस विधि से परागण अधिक होता है।

प्राणि-परागित पुष्पों का परागण अधिकतर कीट-पतङ्गों से होता है और उन्हें **कीट-परागित** (Entomophilous) कहते हैं। अन्य प्राणिओं में पक्षी, चमगादड़, गिलहरी तथा घोंघी आदि कुछ जन्तु पराग-संक्रामण में भाग लेते हैं। पारिभद्र और शाल्मली में पक्षियों और गिलहरिओं द्वारा, कदम्ब में चमगादड़ द्वारा और सर्पा में घोंघीं (Snails) द्वारा आंशिक परागण होता है। संवृतबीज पौधे अधिकतर कीट-परागी होते हैं। इनके पुष्प प्रायः बड़े, आकर्षक और सुन्दर वर्ण, मधु तथा गन्ध से सम्पन्न रहते हैं। पराग थोड़ा होता है और उसके कण कंटकित अथवा चिपचिपे होते हैं। इनके पुष्प-व्यूह भी प्रायः आकर्षक होते हैं। कीटादिकों के आकर्षण के लिये कहीं २ कोणपुष्पक भी रङ्गीन और बड़े हो जाते हैं। समस्थकाण्डज, पत्रावृत-काण्डज, उत्छत्र तथा मुण्डक आदि पुष्प-व्यूह कीट-परागण के अनुरूप होते हैं। किसी २ कीट-परागित पुष्प में पराग अधिक होता है क्योंकि कोई २ कीड़े पराग खाते भी हैं। जब कीड़े पुष्प की सुगन्ध तथा सौन्दर्य आदि से आकर्षित होकर अथवा पराग या मधु के लोभ से उस पर पहुंचते हैं तो पुष्प अपनी अनेक रचनात्मक विशेषताओं के द्वारा उनकी गति-विधि पर ऐसा नियन्त्रण रखता है कि वे अपनी इष्ट-सिद्धि के साथ पराग-संक्रामण का कार्य भी पूरा करते हैं।

समुद्रशोष (Salvia) के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसमें

आभ्यन्तरकोश द्वयोष्ठ होता है। ऊर्ध्वोष्ठ ऊपर की ओर उठा हुआ और अग्र पर भीतर की ओर कुछ मुड़ा हुआ रहता है। पुंकेशर और जायांग इसी के अंदर छिपे रहते हैं। परागयुक्त पुंकेशर केवल दो होते हैं। इनके केशरसूत्र छोटे होते हैं परन्तु योजी टेढ़ा और लम्बा होता है और केशरसूत्र के ऊपर ढेकी (उद्दाम) की तरह बैठा होता है। दोनों योजी निचले सिरे पर परस्पर मिले रहते हैं परन्तु उनके ऊपरी सिरे पृथक् और परागयुक्त होते हैं। अधोष्ठ प्रायः बड़ा और इस प्रकार फैला हुआ रहता है कि कीड़े आकर पहले इसी पर बैठते हैं। आभ्यन्तरकोश के भीतर आधार भाग में मधु होता है। जब कीड़े इसे लेने के लिये अपनी चोंच बढ़ाते हैं तो मधुकोश के पहले योजी का संयुक्त भाग बीच में पड़ता है जो चोंच के दबाव से ऊपर उठ जाता है। उसके ऊपर जाने से उनका दूसरा सिरा–जिस पर पराग होता है– कीड़ों की पीठ पर आकर टक्कर लेता है और पराग उनकी पीठ पर गिर जाता है। चोंच खींच लेने पर पुंकेशर फिर अपने स्थान पर चले जाते हैं। स्त्रीकेशर कुछ समय के बाद परिपक्व होते हैं और नीचे की ओर लटक जाते हैं। दूसरे पुष्पों से होकर कीड़े जब फिर आते हैं तो उनके पीठ पर लगा हुआ पराग लटके हुए कुक्षि पर पहुँच जाता है। इस प्रकार की रचनात्मक अङ्ग-योजनायें पुष्पों को प्रायः अनियताकार बना देती हैं और विशेष प्रकार से कीट-परागण कराने में सहायक होती हैं। प्रजापति-रूप पुष्पों का परागण भी इसी तरह बहुत रोचक ढङ्ग से होता है।

जल-परागित पुष्प बहुत कम होते हैं। जलवासी वनस्पतिओं का परागण भी प्रायः कीटादिकों के द्वारा होता है। थोड़े से जलमग्न पौधों के परागण में जल सहायक होता है जैसे वैलिस्नेरिया (Vallisneria) तथा हाइड्रिला प्रजातिओं में। वैलिस्नेरिया में एकलिंगी उद्भिज होते हैं। पुंपुष्प छोटे पत्रावृत व्यूह में होते हैं और बहुत छोटे तथा बड़ी संख्या में रहते हैं। परिपक्व होने पर वे व्यूह से पृथक् होकर पानी के ऊपर आ जाते हैं और खिल जाते हैं। इसी समय स्त्रीपुष्प परिपक्व होते हैं। ये एकिल और लम्बे कुण्डलित वृन्तों से सम्बद्ध रहते हैं। पुष्प के परिपक्व होने पर वृन्त-कुण्डल फैल जाते हैं और पुष्प पानी की सतह पर आ जाता है। परागाशय का स्फुटन होता है और पराग का कुक्षि पर संक्रामण हो जाता है। स्त्रीपुष्प के वृन्त का फिर कुण्डलन

होता है और पुष्प नीचे खिंच जाता है। जल-परागित पुष्प प्राय बहुत छोटे और अनाकर्षक होते हैं।

अपर-परागण के अनुकूल व्यवस्थायें--पुष्पों में कुछ ऐसी अवस्थायें होती हैं जो अपर-परागण के अनुकूल और स्वयं-परागण के प्रतिकूल होती हैं। इनका वर्णन नीचे किया जाता है :—

(१) **एक-लिंगता** (Unisexualiy)—एक-लिंग पुष्प अपर-परागण के लिये बाध्य होते हैं। इनमें स्वयं-परागण का प्रश्न ही नहीं उठता। **द्विधैक-लिंगता और अद्विधैकलिंगता**—इसके दो भेद हैं। एरंड, मकई तथा ककड़ी आदि में द्विधैकलिंगता और पपीता तथा तूत में अद्विधैकलिंगता पाई जाती है।

(२) **स्वयं-वन्ध्यता** (Self-sterility)—कामपुष्प तथा अतिवला प्रजाति में कभी २ स्वयं-परागित पुष्प प्रजनन में सफल नहीं होते। रास्ना (वंगीय) कुल के पुष्प प्रायः स्वयं-परागण से शीघ्र मुरझा जाते हैं। अतः यह अवस्था भी पुष्पों को अपर-परागण के लिये विवश करती है।

(३) **पृथक्पक्वता** (Dichogamy)--अनेक उभयलिंग पुष्पों के परागाशय और कुक्षि एक समय में परिपक्व नहीं होते। कहीं वे **प्राक्पुंपाकी** (Protandrous) और कहीं **प्राक्स्त्रीपाकी** (Protogynous) होते हैं। प्राक्पुंपाक की अवस्था में पहले परागाशय परिपक्व होते हैं इसलिये जब उनका पराग निषेचन के योग्य होता है तो उसके कुक्षि अपरिपक्व होने के कारण उसे ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं और पराग यदि उन पर पहुंचाया भी जाता है तो उसकी अभिवृद्धि नहीं होती, क्योंकि प्रायः परिपक्व होने पर ही कुक्षि से पोषक-रस का स्राव होता है जिसमें परागकण अपनी वृद्धि करते हैं और निषेचन के लिये पुंकोशा उत्पन्न करते हैं। प्राक्स्त्रीपाकी पुष्पों में पहले कुक्षि परिपक्व होकर रस-स्रवण करते हैं जब उनका पराग परागाशय में बन्द रहता है। चम्पा, सीताफल तथा ईश्वरमूल के पुष्प प्राक्स्त्रीपाकी होते हैं और सुंडी-कुल, तुलसी-कुल, गर्जर-कुल तथा कंटकारी-कुल में प्राक्पुंपाकी पुष्प अधिक मिलते हैं। यदि दोनों के परिपक्व होने में अधिक समय का अन्तर पड़ता है तो अपर-परागण अनिवार्य हो जाता है अन्यथा स्वयं-परागण की भी सम्भावन रहती है।

(४) विषमकेशरता या कुक्षि-वृन्तभिन्नता (Heterostyly)—कुछ पौधों में दो या तीन प्रकार के पुष्प पाये जाते हैं। एक में पुंकेशर सूत्र बड़े होते हैं और कुक्षि-वृन्त छोटे होते हैं और दूसरे में इसके विपरीत होता है। अर्थात् कुक्षिवृन्त बड़े और पुंकेशर सूत्र छोटे हैं। दोनों भिन्न प्रकार के पुष्पों के बीच पराग-संक्रामण सरल हो जाता है और प्रत्येक में आत्म-परागण के लिये कठिनाई पैदा हो जाती है। अतः यह अवस्था भी अपर-परागण के अनुकूल मानी जा सक्ती है यद्यपि इसमें स्वयं-परागण सर्वथा असम्भव नहीं होता। चांगेरी, धातकी तथा अतसी में इसके उदाहरण मिलते हैं।

(५) सान्तर-केशरता (Herkogamy)—युगपत्पाकी उभयलिंग पुष्पों में कहीं २ दोनों जननांगों की स्थिति ही स्वयं-परागण के लिये बाधक हो जाती है और कहीं दोनों के बीच कोई व्यवधान आ जाता है। अर्क ईश्वरमूल तथा रास्ना-कुल के पुष्पों में इसके उदाहरण मिलते हैं।

कीट परागण के निमित्त अन्य युक्तियाँ:—समुद्रशोष के उदाहरण के द्वारा पहले बतलाया गया है कि अनेक पुष्पों की अंग-योजना इस प्रकार की होती है कि कीटादिकों की गतिविधि पर उनका पूर्ण नियन्त्रण रहता है। उन्हें मधु आदि लेने में इस प्रकार से पुष्प पर बैठना और चोंच को ले जाना पड़ता है कि पराग का उनके शरीर के एक विशेष भाग पर गिरना अनिवार्य हो जाता है। इसी नियंत्रण को सफल करने के लिये वे प्रायः मधु का निर्माण व संचय पुष्प के विशेष भागों में और विशेष प्रकार के मधु-कोषों में करते हैं। बहुत से पुष्पों में पुंकेशर तथा कुक्षि स्पर्शग्राही होते हैं जिससे कीटादिकों के आते ही उनमें गति पैदा होती है और वे स्वयं कीड़ों से पराग का आदान-प्रदान कर लेते हैं। अनेक पुष्पों में मधु-दर्शक चिन्ह (Honey-guides) होते हैं जो मधुकोषों का मार्ग दिखाते हैं।

पराग-वाहक कीट—भृङ्ग, पतङ्ग, चित्रपतङ्ग तथा मधुमक्षी आदि विशेष रूप से पराग-संक्रामण में भाग लेती हैं। जिस प्रकार पुष्प की अंग-योजना में बाहुल्य होता है उसी तरह इनमें भी रचना-बाहुल्य होता है इसी लिये प्रायः भिन्न २ जाति के कीट भिन्न २ प्रकार के पुष्पों पर ही जाते हैं। दोनों की शारीरिक रचना का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह बतलाया जा सकता है कि अमुक जाति के कीट अमुक प्रकार के पुष्पों पर जाते होंगे। पुष्प के आभ्यन्तर-नाल और कीट-

चंचु की दीर्घता, पुष्प के पैदा होने और खिलने के समय तथा कीड़ों के पैदा होने और बाहर निकलने के समय तथा अन्य ऐसी ही बातों पर तुलानात्मक विचार किया जा सकता है। इस प्रकार के विचारों से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि पुष्प और कीट-शरीर का विकास एक साथ हुआ है और विकास की दृष्टि से दोनों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।

स्वयं-परागण

स्वयं-परागण के लिये पुष्पों की उभयलिंगता और उनका **युगपत्पाक** (Homogamy) अनिवार्य अवस्थायें हैं। जिन पौधों में स्वयं-परागण से ही सामान्यतः बीजोत्पत्ति होती है उनके पुष्प प्रायः छोटे और अनाकर्षक होते हैं। मधु, गंध तथा सौंदर्य उनमें प्रायः नहीं होता। इनका पराग भी प्रायः चिपचिपा होता है। वास्तूक आदि कुछ शाकीय एकवर्षायु उद्भिज्जों में स्वयं-परागण से ही सामान्यतः बीजोत्पत्ति होती है। इसलिये जाति की जीवन-शक्ति और जनन-शक्ति इस विधि से क्रमशः क्षीण होकर नष्ट न हो जाय-यह आवश्यक होता है कि उनमें कभी २ अपर-परागण भी होता रहे और इसी लिये अपर-परागण के लिये उनमें कोई बाधक अवस्था नहीं होती। जिन पौधों में अपर-परागण नियमित रूप से होता है उनमें यदि एकलिंगता, स्वयं-वन्ध्यता अथवा पूर्ण पृथक्पक्वता आदि की अवस्थायें बाधक नहीं होतीं तो उनके कुछ पुष्पों में भी संयोगात् स्वयं-परागण हो ही जाता है। इनके अतिरिक्त जिन पुष्पों में अपर-परागण के निमित्त अनेक व्यवस्थायें होतीं हैं उनमें भी प्रायः स्वयं-परागण की सम्भावना रहती है। इतना ही नहीं, अपर-परागण के न होने पर उनमें पूर्व-योजित अथवा तात्कालिक ऐसी व्यवस्थायें होती हैं जिनसे स्वयं-परागण हो जाता है।

किसी २ पौधे में सामान्य कीट-परागित पुष्पों के अतिरिक्त थोड़े से भिन्न प्रकार के पुष्प निकलते हैं जो कभी खिलते नहीं और सर्वदा बन्द रहते हैं। इन्हें **संवृत पुष्प** (Cleistogamous) कहते हैं। इनमें न तो पराग बाहर से आ सकता और न इनका पराग बाहर जा सकता। बनफशा, कंशीर तथा बड़ी चांगेरी में ऐसे पुष्प होते हैं। कंशीर में ये पुष्प निष्पत्र भौमिक शाखाओं में निकलते हैं। गुलाबाँस, नीलपुष्पी तथा मुंडी और कार्पास-कुल की वनस्पतिओं में प्रायः

अपर-परागण न होने पर कुक्षि का परागाशय से किसी एक के बढ़ या झुक जाने से संस्पर्श हो जाता है और स्वयं-परागण हो जाता है।

निषेचन

स्त्री-कोशा और पुं-कोशा के मिलकर एकी-भाव होने को निषेचन कहते हैं। गर्भ-कोष के अन्दर स्त्री-कोशा की उत्पत्ति का वर्णन किया जा चुका है। पुं-कोशायें परागकण के अन्दर उत्पन्न होती हैं और उन्हें स्त्री-कोशा के पास लाने के लिये पराग-कण का उद्भेदन (Germination) होता है। परागण की क्रिया में पराग-कण कुक्षि तक पहुंच जाते हैं। इसके बाद परागोद्भेदन प्रारम्भ होता है।

परागकण की रचना और उद्भेदन—परागकोष के अन्दर मध्य में जिन मातृ-कोशाओं से परागकण उत्पन्न होते हैं उन्हें **अणुबीज-मातृकोशा** (Spore mother call) कहते हैं। प्रत्येक मातृ-कोशा का दो बार विभाजन होता है और उससे चार परागकण उत्पन्न होते हैं। इन दोनों विभाजनों में पहले विभाजन को **प्रह्रास-विभाजन** (Reduction division) कहते हैं क्योंकि इसमें **पित्र्यसूत्रों** (Chromosome) का विभाजन नहीं होता और आधे पित्र्यसूत्र एक संतति-न्यष्टि में और आधे दूसरी संतति-न्यष्टि में चले जाते हैं। इसी लिये संतति-कोशाओं में पित्र्यसूत्रों की संख्या आधी हो जाती है। इसी प्रकार का विभाजन महाबीजाणु-मातृकोशा में होता है जिससे गर्भ-कोश अर्थात् महाबीजाणु की उत्पत्ति होती है—इसीलिये पराग-कण और गर्भ-कोश के विभाजनों से जितनी न्यष्टियाँ उत्पन्न होती हैं वे **अर्ध-न्यष्टि** (Haploid) होती हैं। निषेचन के समय जब स्त्रीकोशा और पुं-कोशा की अर्ध-न्यष्टियों का एकीभाव होता है तब युक्ता-कोशा (Zygote) में फिर पूर्ण **द्विगुण न्यष्टि** (Diploid) की उत्पत्ति होती है।

परागकण एक-कोशा होते हैं और उनके ऊपर दो आवरण होते हैं जिन्हें **बाह्यचोल** (Exine) और **आन्तर-चोल** (Intine) कहते हैं। बाह्यचोल कड़ा और **उच्चर्म सदृश** (Cutinized) होता है और उसका पृष्ठ प्रायः कण्टकित अथवा जालिका सदृश होता है। एक या अधिक स्थानों पर बाह्य-चोल नहीं होता जो छिद्र सदृश होते हैं और **पराग-द्वार** या **रोहि-द्वार**

(Germ pore) कहे जाते हैं। आन्तर चोल पतला, मुलायम और कोशाधु का होता है। विभिन्न पौधों में परागकणों के आकार, परिमाण और रंग आदि में बड़ी भिन्नता होती है। उनकी आन्तरिक रचना में अधिक अन्तर नहीं होता। पहले प्रत्येक परागकण में एक न्यष्टि होती है जो विभक्त होकर दो न्यष्टियाँ या नग्न कोशायें उत्पन्न करती हैं। बड़ी को **नालन्यष्टि** (Tube nucleus) और छोटी और किंचित् लम्बीभूत न्यष्टि को **जनन-न्यष्टि** (Generative nucleus) कहते हैं। जनन-न्यष्टि का फिर विभाजन होता है और दो **पुं-जन्यु** (Male gametes) अर्थात् पुं-कोशायें उत्पन्न होती हैं। जनन-न्यष्टि परागण के पूर्व परागाशय में और पुं-जन्यु कभी पहले और कभी परागण के पश्चात् अर्थात्–कुक्षि पर आने के पश्चात्- उत्पन्न होते हैं।

परिपक्व कुक्षि से एक पोषक द्रव निकलता है जिसमें परागकण अपनी अभिवृद्धि करते हैं। किसी रोहि-द्वार पर उन का कोशा-रस एक नाल के रूप में बाहर निकलता है और कुक्षि तथा कुक्षि-वृन्त की ऊतिओं के बीच से क्रमशः आगे बढ़ता है। अण्डाशय में पहुंच जाने पर यह **पराग-नाल** (Pollen-tube) किसी बीजाभव की ओर अग्रसर होता है और प्रायः द्वारक से उसके अन्दर प्रविष्ट होकर बीजीभवाशय और फिर आपूरकों के पास पहुंचता है। अभी तक केवल नाल-न्यष्टि नाल के अग्र पर आकर स्थित थी परन्तु अब दोनों जनन-न्यष्टिओं के आ जाने पर या कुछ पूर्व नाल न्यष्टि का विघटन हो जाता है। नाल का अग्र फूलकर फट जाता है और दोनों न्यष्टियाँ गर्भकोश में प्रविष्ट हो जाती हैं। एक पुं-जन्यु स्त्रीकोशा अर्थात् स्त्रीजन्यु से मिलता है और निषेचन की क्रिया समाप्त होती है। इस क्रिया में आपूरकों की भी कुछ सहायता मिलती है। निषेचन में केवल दोनों न्यष्टियों का एकीभाव होता है। **युक्ता-न्यष्टि** (Zygote) शीघ्र एक कोशाधु-भित्ति से घिर जाती है और उसे **अण्ड-बीजाणु** (Oospore) कहने लगते हैं। दूसरा पुं-जन्यु आनन्तर्य न्यष्टि से जाकर मिलता है और दोनों के एकीभाव से गर्भ-पोष न्यष्टि की उत्पत्ति होती है। इन दोनों के एकीभाव को **द्वि-निषेचन** (Double fertilization) कहते हैं। जैसा ऊपर बतलाया गया है परागनाल प्रायः द्वारक से ही प्रवेश करता है और निषेचन को **द्वारोद्वाह** (Porogamy) अथवा **द्वारसम्भूत** (Poro-gamic) निषेचन कहते हैं। परन्तु कहीं २—जैसे भोजपत्र में- परागनाल निभाग

को फाड़कर प्रविष्ट होता है और निषेचन को **निभागोद्वाह** (Chalazogamy) अथवा **निभाग-सम्भूत** (Chalazogamic) निषेचन कहते हैं।

निषेचन-प्रेरित परिवर्तन :--निषेचन एक उद्दीपक क्रिया है जिससे प्रायः सभी सम्बन्धित अवयवों को बढ़ने की प्रेरणा मिलती है और उनकी रचना तथा परिमाण में जितने परिवर्तन होते हैं उनके फलस्वरूप बीज और फल की उत्पत्ति होती है। सबसे अधिक रचनात्मक परिवर्तन बीजीभव में होते हैं जो क्रमशः बीज में रूपान्तरित हो जाता है। निषेचन के बाद आपूरक और तटस्थत्रयी नष्ट हो जाते हैं। अण्ड-बीजाणु के पहिली बार विभक्त होने से दो कोशायें उत्पन्न होती हैं। इनमें अग्र-कोशा के कई बार फिर विभक्त होने से एक कोशा-पंक्ति बन जाती है जिसे **निलम्ब** (Suspensor) कहते हैं। पश्च-कोशा तीन बार परस्पर लम्बकोणीय समतलों में विभक्त होकर आठ कोशाओं का समूह बनाती है। इसके चार **अग्र** (Anterior) कोशाओं से **भ्रूणाग्र** (Plumule) और दोनों बीजपत्र तथा चार पश्च-कोशाओं से **मूलभ्रूण** (Radical) का अधिकांश और **अधो-बीजपत्र** (Hypocotyl) बनते हैं। मूलभ्रूण का वर्धन-शील अग्र निलम्ब के अवसान कोशा से बनता है जिसे **अधोवर्ध्य कोशा** (Hypophysis cell) कहते हैं। द्वि-बीजपत्रों में प्रायः इसी क्रम से भ्रूण-वृद्धि होती है। इनमें भ्रूणाग्र अग्र्य होता है और बीजपत्र पार्श्विक। इसके विपरीत एक-बीजपत्रों में एकाकी बीजपत्र प्रायः अग्र्य और भ्रूणाग्र पार्श्विक होता है। एक-बीजपत्रों में भ्रूण-वृद्धि एक तरह से नहीं होती। निलम्ब का कार्य प्रायः वर्धमान भ्रूण को आगे बढ़ाना और बीजीभवाशय से पोषक पदार्थों को लेकर उसे पहुँचाना होता है।

गर्भपोष-न्यष्टि का भी साथ २ द्रुत विभाजन प्रारम्भ होता है जिससे शीघ्र एक कोशासमुदाय बन जाता है जिसे गर्भपोष या भ्रूणपोष कहते हैं। इसकी कोशायें मंड, तैल तथा **समिताया-कण** (Aleurone grains) आदि खाद्य पदार्थों से क्रमशः परिपूर्ण हो जाती हैं जो जरायु तथा बीजीभवाशय से आते हैं। वर्धमान भ्रूण-पोष प्रायः सम्पूर्ण बीजीभवाशय को समाप्त कर देता है और बढ़कर उसके सम्पूर्ण स्थान को छेंक लेता है। परन्तु कहीं २ इसका कुछ अंश अवशिष्ट रह जाता है जो खाद्यपदार्थों से परिपूर्ण होकर भ्रूण एवं भ्रूणपोष के चारों ओर उ

स्थित रहता है। इसे परिभ्रूण (Perisperm) कहते हैं। मिर्च, इलायची, गुलाबाँस तथा वाग-विलास में परिभ्रूण पाया जाता है। कहीं २-जैसे जायफल और सुपारी में-परिभ्रूण या बीज-त्वक भ्रूणपोष के अन्दर अंतर्भंजित रहता है। बहुत से बीजों में गर्भपोष नहीं होता क्योंकि वर्धमान गर्भ उसे प्रारम्भ में ही समाप्त कर देता है अर्थात् उसका विघटन करके उसके अन्दर संचित खाद्य-पदार्थों से बीजपत्रों को परिपूर्ण कर लेता है। ऐसे बीज अभ्रूण-भ्रूणपोष (Non-endospermic) अथवा **अश्वितिमान्** (Exalbuminous) कहे जाते हैं। जिन बीजों में भ्रूणपोष होते हैं उन्हें **भ्रूण-पोषी** (Endospermic) अथवा **श्वितिमान्** (Albuminous) कहते हैं।

बीजीभववृन्त बीजवृन्त में और ऊर्ध्वत्वक् के दोनों पर्त **बीजचोल** (Seed-coat) के दो पर्तों में बदल जाते हैं। नाभि और द्वारक ज्यों के त्यों रह जाते हैं। निषेचन के बाद प्रायः जरायु, बीजीभववृन्त अथवा द्वारक से निकलकर बीज-चोल के ऊपर एक पतला अथवा मांसल आवरण चढ़ जाता है जिसे **बाह्यप्रसरी** (Aril अथवा Arillus) कहते हैं। जावित्री और लीची का खाद्य-भाग बाह्य-प्रसरी ही होता है। धत्तूर, सुरंजान, एरण्ड तथा दुग्धीति में छोटी और मांसल बाह्यवृद्धियाँ पाई जाती हैं जिन्हें **बीजोपांग** (Caruncle) कहते हैं।

अनाधान-प्रजनन (Parthenogenesis)—ममीरी तथा दुग्धफेनी में कभी २ बिना निषेचन के ही स्त्रीकोशा से भ्रूणोत्पत्ति हो जाती है। इसे अनाधान प्रजनन कहते हैं। यहाँ स्त्री-कोशायें **द्विगुण** Diploid) होती हैं। कहीं २ बीजीभवाशय, तटस्थत्रयी तथा आपूरक की कोशायें बिना निषेचन के भ्रूण उत्पन्न कर बैठती हैं। इसे **अनुद्वाह-प्रजनन** (Apogamy) कहते हैं। कभी २ ऊर्ध्वत्वक की कोशायें अत्यधिक बड़ी होकर वास्तविक भ्रूण का स्थान ले लेती हैं। इस विधि को **अबीजाणुता** (Apospory) कहते हैं। कुछ पौधों में एक बीजीभव के अन्दर अनेक भ्रूण बन जाते हैं और इसके कई कारण होते हैं। इस अवस्था को **बहु-भ्रूणता** (Polyembryony) कहते हैं।

निषेचन की प्रेरणा से अण्डाशय की भित्ति में भी परिमाण तथा रचना सम्बन्धी परिवर्तन होते हैं जिनसे फल बनता है। प्रायः परिपक्व अण्डाशय को ही हम फल कहते हैं जिसका बीज को सुरक्षित रखना और उपयुक्त समय पर उसका अपकिरण करा देना मुख्य कार्य होता है।

परिच्छेद ६

फल (Fruit)

पौधों के जिस अंग को फल कहा जाता है वह प्रायः परिपक्व अण्डाशय ही होता है। कहीं२ पुष्प के अन्य भाग भी फल के अंग हो जाते हैं। पहले प्रकार के फलों को **सत्य फल** (True fruit) और दूसरे प्रकार के फलों को **कूट फल** (False fruit) कहते हैं। नासपाती, सेव तथा कर्कटी आदि में दल्यक्ष, तुलसी-कुल, भव्य, सागौन, मकोय तथा बैंगन में बाह्यकोश, भल्लातक में पुष्प-वृन्त, बरगद, गूलर, तूल तथा अनानास में सम्पूर्ण व्यूह रूपान्तरित होकर फल का अंग बन जाता है। इन सब फलों को कूट फल कहते हैं।

फल-भित्ति (Pericarp):—अण्डाशय की भित्ति से फल-भित्ति बनती है। कहीं तो यह पतली और नीरस हो जाती है और कहीं सरस तथा मांसल होती है। कुछ फलों में इसके तीन स्पष्ट विभाग हो जाते हैं जिन्हें **बहिर्भित्ति** (Epicarp), **मध्यभित्ति** (Mesocarp) और **अन्तर्भित्ति** (Endocarp) कहते हैं। आम तथा बेर में बहिर्भित्ति चर्मसदृश, मध्यभित्ति मांसल और अन्तर्भित्ति अश्म-सदृश **कठोर** (Stony) होती है। अन्य कुछ फलों में तीनों विभाग होते हैं परन्तु अन्तर्भित्ति पतली और मुलायम होती है।

स्फुटन या स्फोटना (Dehiscence):—कुछ परिपक्व फलों के सूख जाने पर उनकी भित्ति इस लिये फट जाती है कि उनके बीज मुक्त होकर अंकुरित हो सकें। जिन फलों में अपकिरण की सुविधायें रहती हैं वे प्रायः नहीं फटते। बीजांकुरण के समय उनकी फलभित्ति प्रायः सड़ जाती है। फटने वाले फलों को **स्फोटी या स्फुटनार** (Dehiscent) और न फटने वाले फलों को **अस्फोटी या अस्फुटनार** (Indehiscent) कहते हैं। स्फोटी फलों में बीज के द्वारा अपकिरण होता है जिसके लिये उनमें अनेक आकृतिक सुविधायें होती हैं। अस्फोटी फलों में बीजापकिरण स्वयं फलों द्वारा होता है।

स्फुटन कई प्रकार का होता है। लोणी तथा पारसीक यवानी में फल का अग्र-भाग आधार-भाग से टोपी की तरह फटकर अलग हो जाता है। यह **अनुप्रस्थ** (Transverse) अथवा **टोपी-स्फुटन** है। नेनुआ तथा पोस्त में

अग्र पर चारों ओर कई छिद्र बन जाते हैं जिनसे बीज बाहर निकलते हैं। यह **रन्ध्र-स्फुटन** (Porous) कहा जाता है। रन्ध्र कहीं २ आधार पर भी बनते हैं।

अधिकतर फलों का स्फुटन **लम्बानुग** (Longitudinal) अर्थात् **अन्यायाम** (लम्बाई में) होता है। इस विधि से जब आंशिक स्फुटन होता है तो फल के अग्र भाग में कई खण्ड या दाँत बन जाते हैं। यह **दन्त-स्फुटन** कहा जाता है। बहु-गह्वर स्फोटी फलों के पूर्ण लम्बानुग स्फुटन के तीन भेद होते हैं :--

(१) **गह्वर-स्फुटन** (Loculicidal) :--जब स्फुटन पार्ष्ठिक संधिओं पर हो जिससे फल-गह्वर बीचोंबीच फट जाँय-जैसे कपास तथा अडूसा में।

(२) **पटी-स्फुटन** (Septicidal) :—जब स्फुटन औदर्य संधिओं पर हो जिससे अन्तर्भित्तियाँ या पटी बीचोबीच अलग हो जाँय—जैसे बुराँस तथा उलट-कम्बल में।

(३) **जरायु-भित्ति भेदक स्फुटन** (Septifragal) :--जब स्फुटन पार्ष्ठिक अथवा औदर्य संधिओं पर हो परन्तु जरायु तथा बीज अक्ष के साथ अंत-र्भित्तियों से पृथक् हो जाँय-जैसे धत्तूर, तून तथा मुचकुन्द में।

एक-गह्वर फलों में पूर्ण लम्बानुग स्फुटन को **संधिग** (Sutural) कह सकते हैं।

फलों का वर्गीकरण

फलों के पहले – (१) **एकि** या **एकज** (Simple), (२) **पृथगानेकज** (Aggregate) और (३) **बहुपुष्पज** अथवा **संग्रथित** (Composite)-तीन वर्ग किये जाते हैं। ऐसे पुष्प से बने हुये फल को, जिसमें अण्डाशय एक-केशरक अथवा बहु-केशरक और संयुत हो, **एकज** कहते हैं—जैसे मटर तथा पोस्त के फल। पृथगानेकज फल भी एक ही पुष्प से बनता है पर इसमें अण्डाशय बहुकेशरक और विभक्तांगक होता है – जैसे मदार का युग्मफल। यहाँ फल कई छोटे २ फलों का समूह होता है। बहुपुष्पज फल अनेक पुष्पों अर्थात् सम्पूर्ण पुष्पव्यूह से तैयार होता है—जैसे तूत तथा कटहल। इन तीनों वर्गों के भेदोपभेदों का वर्णन नीचे किया गया है।

अ-एकज फल

इसके भी (१) शुष्क या नीरस (Dry) और (२) सरस या मांसल (Succulent)—दो भेद होते हैं। एक में फल-भित्ति शुष्क और दृढ़ होती है और दूसरे में वह सरस एवं मांसल होती है। शुष्क फल— (१) अस्फुटैकबीजक (Achenial), (२) फलबीजभेदक (Capsular) अथवा (३) बद्धविदारी (Schizocarpic)—तीन प्रकार के होते हैं।

अस्फुटैकबीजक फल शुष्क, अस्फोटी और एक-बीज (One-seeded) होते हैं। इनके निम्नांकित पाँच भेद हैं :--

(१) **चर्मलफल** या **युतोत्फल** (Achene) :--जहां फल-भित्ति पतली अथवा चर्मल होती है और बीज-चोल से पृथक् रहती है और फल ऊर्ध्वस्थ अण्डाशय से बनता है--जैसे सर्पाक्षी आदि चुक्र-कुलीय वनस्पतिओं में।

(२) **युताधःफल** (Cyp ela) :--यह युतोत्फल से केवल इस बात में भिन्न होता है कि अधःस्थ अण्डाशय से इसकी उत्पत्ति होती है। मुण्डी-कुल का यह लाक्षणिक फल है।

(३) **संचोलभित्ति** (Caryopsis) :—इसमें बीज-चोल और फलभित्ति मिलकर एक हो जाती है जिससे फल भ्रम से बीज कहा जाने लगता है--जैसे गोधूम-कुल के शूक धान्य।

(४) **काष्ठफल** या **कठिन-कोश** (Nut) :--जिसकी फल-भित्ति कठोर और काष्ठीय (woody) हो--जैसे शाल तथा चेस्टनट के फल। अंग्रेज़ी भाषा में सुपारी, अखरोट तथा नारियल आदि के नामों में 'नट' लगा रहता है परन्तु वे वस्तुतः 'नट' नहीं होते क्योंकि उनका कठोर कवच सम्पूर्ण फल-भित्ति से नहीं बना होता बल्कि वह कहीं केवल अन्तर्भित्ति से और कहीं अन्य भागों से बना होता है।

(५) **सपक्षफल या वितत-कोश** (Samara) :--इसमें फलभित्ति पक्षवत् फैली रहती है जिससे फल हवा में आसानी से उड़ जाता है--जैसे चिर-बिल्व का फल।

फलबीजभेदक फल :-यह शुष्क, स्फोटी और बहु-बीज होता है और फल

इस प्रकार फटता है कि उसके बीज फल-भित्ति से मुक्त हो जाते हैं। इसके भी निम्नांकित पाँच भेद हैं :--

(१) **भग्नैकसन्धिक** या **एक-सेवनीक** (Follicle) :-- यह एक-केशरक अण्डाशय से बनता है और किसी एक ही सन्धि पर फटता है-जैसे भारद्वाज-चंचु (Larkspur) में।

(२) **भग्नोभयसन्धिक** या **शिम्बि** (Legume अथवा Pod):—यह भी एक-केशरक अण्डाशय से बनता है परन्तु इसका स्फुटन दोनों सन्धिओं पर होता है—जैसे शरपुंखा तथा मटर आदि शिम्बि-कुल के फल।

(३) **कूटपटीक** (Siliqua) :--यह लम्बा, पतला तथा बहु-बीज फल है जो द्वि-केशरक अण्डाशय से प्राप्त होता है। दो अभिभित्तिग जरायु होते हैं जिनके बीच एक कूटपटी (False septum) निषेचन के बाद बन जाती है। यह नीचे से ऊपर की ओर दोनों संधिओं से फटता है। फटने पर दोनों ओर की भित्तियाँ कूटपटी, बीज तथा जरायु को बीच में छोड़कर पृथक् हो जाती हैं। सर्षप-कुल में ऐसा फल होता है।

(४) **कूटपटीका** (Silicula):—यह कूटपटीक जैसा परन्तु छोटा और चिपटा होता है—जैसे चन्द्रशूर में।

(५) **सामान्य स्फोटी फल** (Capsule):—शेष सभी फलबीजभेदक इस भेद के अन्तर्गत होते हैं-जैसे भिण्डी, कपास, पोस्त आदि के फल। ये बहु-केशरक तथा बहु-गह्वर या एक-गह्वर संयुत अण्डाशय से बनते और विविध प्रकार से अपना स्फुटन करते हैं।

बद्धविदारी फल (Schizocarpic fruit :—ये भी शुष्क, बहु-बीज और स्फोटी फल होते हैं परन्तु इनका स्फुटन ऐसा नहीं होता कि बीज फल से पृथक् हो जाँय बल्कि सम्पूर्ण फल कई एक-बीज और प्रायः अस्फोटी खण्डों में टूट जाता है जिन्हें **एकबीजिवेश्म** (Mericarp) कहते हैं। इसके भी निम्नलिखित पाँच भेद हैं :—

(१) **अनुप्रस्थपटीक** (Lomentum):—यह वस्तुतः शिम्बि अथवा कूटपटीक होता है परन्तु बाहर से देखने में एक-बीज खंडों के बीच २ में उपसंकोच होता है और भीतर उन स्थानों पर अनुप्रस्थ कूटपटी बनी रहती है। शालपर्णी, बबूल, मूंगफली, मूली तथा अमलतास के फल इस श्रेणी के होते हैं।

(२) **युग्मवेश्म** (Cremocarp):—यह द्वि-गह्वर और द्वि-बीज होता है और द्वि-केशरक अधःस्थ अण्डाशय से बनता है। प्रत्येक गह्वर में एक अधोलम्ब बीज होता है। लम्बानुग स्फुटन होने पर दोनों खण्ड कुछ समय तक शीर्ष पर अण्डाशयोर्ध्वग (Carpophore) से जुड़े रहते हैं। गर्जर-कुल का यह लाक्षणिक फल है।

(३) **चतुर्वेश्म** (Carcerulus):—यह तुलसी-कुल का लक्षण-फल है। यहाँ अण्डाशय द्वि-केशरक, संयुत और ऊर्ध्वस्थ होता है परन्तु दो कूटपटियों के बन जाने से फल चार गह्वरों का हो जाता है। परिपक्व होने पर फल के चारों एक-बीज खण्ड बीच से अलग हो जाते हैं। सोंचल तथा कंघी में फल का इसी तरह से स्फुटन होता है परन्तु उनमें एक-बीज खण्ड चार से अधिक होते हैं।

(४) **पुनर्विदारी** (Regma):—इसके एक-बीज खण्ड स्फोटी या विदारी होते हैं और सूखने पर फट कर बीज को बाहर निकाल देते हैं-जैसे एरण्ड में।

(५) **बहुततकोश** अथवा **संयुत सपक्ष** (Compound samara):-इसके प्रत्येक खण्ड विततकोश होते हैं। इनकी संख्या दो अथवा दो से अधिक हो सकती है।

मांसलफलः—एकज मांसल फल में गह्वर एक या अधिक, बीज संख्या में एक या अनेक और जरायु प्रायः अभिभित्तिग अथवा लम्नमध्यग होते हैं। फलों का विकिरण प्रायः प्राणियों द्वारा होता है और वे स्फोटी होते हैं। इनके निम्नांकित पाँच भेद होते हैं:-

(१) **अष्ठिफल** (Drupe):—ये एक-केशरक अथवा संयुत और बहु-केशरक अण्डाशय से प्राप्त होते हैं जिसमें अन्तर्भित्ति पाषाणवत् कठोर होती है और **अष्ठि** या **गुठली** (Stone) कही जाती है। बाह्य और मध्य भित्तियाँ भी प्रायः स्पष्ट होती हैं जिनमें मध्यभित्ति से मांसल भाग बना होता है। फल का पतला चर्म बाह्यभित्ति का होता है। आम, बेर नारियल, आखरोट ताल, तथा बादाम अष्ठि फल के उदाहरण हैं। आम का फल एक-केशरक और नारियल तथा आखरोट संयुत बहु-केशरक अण्डाशय से बनते हैं। आखरोट में बाह्य और अंतर्भित्तियां पहले ही छूट कर निकल जाती हैं और अष्ठिल एकाकी बीज दिखाई देने लगता है। अंतर्भित्ति के कास्थि प्रवर्धन बीज के भीतर अन्तर्भंजित रहते हैं। नारियल में बाह्यभित्ति से फल-चर्म और मध्यभित्ति से

सौत्रिक (Fibrous) भाग बना होता है। अष्ठि के भीतर एक किनारे भ्रूण होता है और शेष खाद्य भाग गर्भपोष का बना होता है जो बीच में एक पेय द्रव से भरा रहता है। अष्ठिफल में जब बीज एक से अधिक होते हैं तो वे सब एक अष्ठि के भीतर (बेर) होते हैं अथवा प्रत्येक बीज के लिये अलग २ गुठलियाँ होती हैं।

(२) **बीजिमांसल फल** (Berry):--इसमें फलभित्ति का कोई भी भाग गुठली की तरह कठोर नहीं होता और फल का मांसल भाग प्रायः फलभित्ति एवं जरायु से बना होता है। मांसल भाग प्रायः **गोर्द सदृश** (Pulpy) होता है और बीज इसमें बिखरे रहते हैं क्योंकि बीज प्रायः जरायु से कुछ समय के बाद पृथक् हो जाते हैं। बीज संख्या में प्रायः बहुत अधिक और कड़े होते हैं। कहीं २ फल एक-बीज भी होता है–जैसे खजूर में। खजूर में अष्ठि बीज से बनी होती है और अन्तर्भित्ति अष्ठि के ऊपर एक पतले परदे के रूप में रहती है। अमरूद, अनार तथा केला अधःस्थ गर्भाशय से और अंगूर, पपीता, बैंगन, तथा नीबू आदि ऊर्ध्वस्थ गर्भाशय से बनते हैं। कूष्मांड-कुल के फलों में बीज जरायु से पृथक् नहीं होते और जरायु-न्यास अभिभित्तिग होता है। इन्हें प्रायः **कूष्माण्ड-सम** (Pepo) कहते हैं। इसी प्रकार निम्बु-कुल के फल भी विशेष प्रकार के बीजिमांसल होते हैं और **नारंग-सम** (Hesperidium) कहे जाते हैं। इनमें बाह्यभित्ति और मध्यभित्ति दोनों मिलकर एक हो गई रहती हैं और फल-त्वक् बनाती हैं जो आसानी से पृथक् हो जाता है। इसमें भी मोटा और चर्मल बाहरी भाग बाह्यभित्ति से और नीचे का श्वेत छिद्रिष्ठ सदृश भाग मध्य-भित्ति से बना होता है। अन्तर्भित्ति गह्वरों के ऊपर पतले परदों के रूप में रहती है। गह्वर-भित्तियों से बहु-कोश रोमश रचनायें निकली रहती हैं जो रस से परिपूर्ण रहती हैं।

(३) **अन्तर्वस्तुफल** (Pome):--इसमें खाद्य भाग मांसल दल्यक्ष से बना होता है और अण्डाशय से बना हुआ वास्तविक फल मध्य में होता है जो कड़ा और बीजयुक्त होता है। सेब, नासपाती तथा पाटल-कुल के कुछ फल इस श्रेणी के होते हैं।

ब--**पृथगानेकज फल** (Aggregate fruits):--यह संहत-फल होता है जिसके संघटक फल एकज फलों की तरह होते हैं, और प्रायः युतोत्फल,

भग्नैकसन्धिक, अष्ठिफल अथवा बीजिमांसल होते हैं। देवकांडर, मोरवेल, ममीरी, कमल तथा तृण-बदर में **युतोत्फल संहत** (Etaerio of achenes) होता है। इनमें दल्यक्ष उन्नतोदर, चिपटा अथवा कुम्भाकार और प्रायः मांसल होता है। अर्क, निर्विषी तथा चम्पक में **भग्नैकसंधिक-संहत** (Etaerio of follicles) होता है। हिंसालू (Rubus) में **अष्ठिफल-संहत** (Etaerio of drupes) होता है और सीताफल तथा नकली अशोक में **बीजिमांसल-संहत** (Etaerio of Berries)। सीताफल में संघटक फल और मांसल दल्यक्ष परस्पर मिले रहते हैं और सम्पूर्ण रचना एक संयुत फल मालूम होती है।

स—**बहुपुष्पज या संग्रथित फल** (Composite):—इसके सरसाक्ष या अखिलमांसल, कुम्भव्यूहोद्भव तथा शंकु-फल—तीन भेद होते हैं।

(१) **सरसाक्ष या अखिलमांसल** (Sorosis):—यह सामान्य अवृन्त काण्डज अथवा पत्रावृत अवृन्त-काण्डज व्यूह से बनता है। तूत, अनानास तथा कटहल के फल इस श्रेणी के होते हैं। अनानास तथा कटहल में व्यूहाक्ष (Rachis) और पुष्प के कुछ भाग मांसल होते हैं और पुष्प तथा व्यूहाक्ष परस्पर एकीभाव होकर एक फल तैयार करते हैं। कटहल का फल स्त्री-पुष्पों के व्यूह से बनता है। जो कोये खाये जाते हैं वे वस्तुतः स्त्री-पुष्प होते हैं, मधुर खाद्य भाग परिसवर्ण का होता है और वास्तविक फलभित्ति बीजों के ऊपर पतले पर्दे के रूप में रहती है। तूत में सभी स्त्री-पुष्पों के सवर्ण कोश मांसल होकर एक में मिले रहते हैं।

(२) **कुम्भव्यूहोद्भव** (Syconus):—वटादि क्षीरी वृक्षों के कुम्भाभ-व्यूह का दल्यक्ष मोटा और मांसल हो जाता है। उसके अन्तःपृष्ठ पर पुंपुष्प और स्त्रीपुष्प होते हैं। प्रत्येक स्त्री-पुष्प से एक वास्तविक फल बनता है जो युतोत्फल (Achene) अथवा अष्ठिफल होता है। इसे ही हम भ्रम से बीज मानते हैं। वट, गूलर, अंजीर तथा पीपल आदि में ऐसा फल होता है।

(३) **शङ्कुफल** (Strobilus):—जिन फलों को **हाप** (Hop) कहा जाता है वे इस श्रेणी के होते हैं। यहाँ व्यूहाक्ष पर पतले शल्क होते हैं जो लुप्त कोणपुष्पकों के संयुत उपपत्र होते हैं। प्रत्येक शल्क-कोण में दो या तीन स्त्रीपुष्प होते हैं जो उपपत्रों से ढके रहते हैं। निषेचन के पश्चात् उपपत्रक बढ़कर

शल्कों के ऊपर आ जाते हैं। सम्पूर्ण व्यूह से एक शंकुरूप फल बनता है जिसके वास्तविक संघटक फल युतोत्फल होते हैं। नग्नबीज वनस्पतियों के शंकुरूप स्त्री-व्यूहों को भी निषेचन के पश्चात् शंकु-फल कह सकते हैं।

फल तथा बीज का अपकिरण

अपकिरण की आवश्यकताः—समुचित शारीरिक विकास, जाति-रक्षा और जाति-प्रसार के लिए बीजापकिरण होता है। बीजों के अत्युत्पादन के कारण नवजात सन्तानों में गहरा जीवन-संघर्ष अनिवार्य है। इससे बचने के लिये बीजापकिरण ही एक ऐसा उपाय है जिससे नवजात संतानों की अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक कल्याण हो सकता है। इसके अतिरिक्त जितनी ही अधिक दूरी में बीजों का अपकिरण होता है उतनी ही अधिक इस बात की सम्भावना बढ़ जाती है कि पौधों को नवीन स्थान आबाद करने को मिलेंगे। सम्भव है इस कार्य से उन्हें अनेक ऐसी नई परिस्थितियाँ मिल जाँय जो उनके लिये अधिक अनुकूल हों। दूर २ स्थानों में बिखेर दिये जाने के कारण फल तथा बीज उन प्राणियों की तीक्ष्ण दृष्टि से भी बच सकते हैं जो अपने जीवन-निर्वाह के लिये इनकी तलाश में सर्वदा घूमा करते हैं। अपकिरण कहीं बीज का होता है और कहीं फल का; परन्तु दोनों में बीजापकिरण ही अभीष्ट होता है। कहीं २ सम्पूर्ण वनस्पति अथवा **फल-व्यूह** (Infructescence) के विकिरण से भी बीजविकिरण सम्पन्न होता है। बीजापकिरण की आवश्यकता को ध्यान में रखकर यदि फल और बीजों की रचनात्मक विशेषताओं पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि उनकी उपस्थिति केवल बीज प्रसार के निमित्त होती है। बीजों के अतिरिक्त फल के जितने अवयव होते हैं और भ्रूण तथा भ्रूणपोष के अतिरिक्त बीज के सभी बाह्य अवयव बीज रक्षा और बीजापकिरण के निमित्त बने हुये प्रतीत होते हैं। जहाँ स्फोटी फल बीजों को मुक्त करके अपकिरण के उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं वहाँ केवल बीजों का अपकिरण होता है और अपकिर रचनायें केवल बीजों में रहती हैं। परन्तु स्फोटी फल स्वयं अपना अपकिरण करते हैं और अनेक अपकिर रचनाओं से सुसज्जित रहते हैं। कुछ पौधों को छोड़कर प्रायः सभी पौधे अपकिरण के लिये बाह्य साधनों की सहायता लेते हैं। कहीं २ स्वयं पौधों को यह कार्य करना पड़ता है।

फल द्वारा बीजापकिरण—कुछ पौधों में फल इस प्रकार जोर से फटता

है कि उसके बीज दूर २ जाकर गिरते हैं। अनेक शिम्बि-फल—जैसे माष तथा गुंजा के फल-सूखने पर चिटख़ कर फूटते हैं और उनकी फल-भित्ति के दोनों खण्ड मुरेड़ उठते हैं। मालभन की लम्बी फलियाँ भी बड़े ज़ोर से फटती हैं। चांगेरी में बाह्य प्रसरी मांसल और प्रत्यास्थ (Elastic) होता है। स्पर्श करते ही वह उलट जाता है और बीज बाहर फेंका जाते हैं। **जिरेनियम** (Geranium) में कुक्षि-वृन्त पहले एक शूक के रूप में दिखाई देता है। इसके पाँच हिस्से हो जाते हैं जिनके मूल में फल के एक-बीज खण्ड लगे रहते हैं। सूखने पर शूक कुण्डलित हो जाता है और भीगने पर फैल जाता है। वायुमंडल की आर्द्रता या शुष्कता के अनुसार वह गति किया करता है जिससे फल-खण्ड रेंगते २ बहुत दूर तक चले जाते हैं। कालमेघ तथा सैरेयक आदि अनेक वासक-कुल के फल भी आर्द्र होने पर ज़ोर से फटकर बीजों को बाहर फेंक देते हैं। ज़ोर से फटने वाले फलों को **विस्फोटक** (Explosive) फल कहते हैं। एरण्ड तथा शेफालिका भी विस्फोटक फलों के उदाहरण हैं।

बाह्य साधनों द्वारा अपकिरणः—वात, जल तथा जन्तु—अपकिरण के तीन साधन हैं।

वात द्वारा अपकिरणः—वातापकीर्ण बीज तथा फलों में रचनात्मक एवं अन्य प्रकार की ऐसी सुविधायें होती हैं जिनके कारण वे हवा में उड़कर दूर तक जा सकते हैं। स्वर्ण-जीवन्ती कुल के बीज प्रायः इतने सूक्ष्म और हल्के होते हैं कि हवा में आसानी से उड़ सकते हैं। कुछ बीज तथा फल सपक्ष होते हैं-जैसे शिग्रु, तून, मुचकुन्द और श्योनाक के बीज तथा चिरबिल्व के फल। शाल और गर्जन में स्थायी बाह्यदल पक्ष सदृश होते हैं। सपक्ष बीज तथा फल प्रायः ऊँचे वृक्षों या दीर्घ लताओं में ही होते हैं क्योंकि ये अधिक देर तक वायु में नहीं ठहर सकते। ऊँचाई पर हवा तेज़ होने के कारण नीचे आते २ वे प्रायः बहुत दूर निकल जाते हैं। वातापकिरण के लिये रोमगुच्छ एवं रुई अधिक उपयोगी होती है। अर्क, कनेर, शाल्मली तथा कुटज के बीजों के एक सिरे पर रोम-गुच्छ होता है जिससे वे हवा में उड़ते रहते हैं। मुंडी-कुल के अनेक फल रोम-कंटक के द्वारा हवा में उड़ा करते हैं। इन फलों या बीजों को **शिखि-फल** (Plumed fruits) या **शिखि-बीज** कहते हैं। मोरवेल के स्थायी कुक्षि-वृन्त पक्षवत् (Feathery) होते हैं। रोमगुच्छ, पक्ष तथा पक्षवत् रचनाओं

की सहायता से वायु में फलों और बीजों का उड़ना **छत्र-प्लवन** और इस प्रकार की योजना को **छत्र-प्लवन योजना** (Parachute mechanism) कहते हैं।

पोस्त तथा स्वर्णक्षीरी में फल का क्रमशः रन्ध्र-स्फुटन और दन्त-स्फुटन होता है परन्तु केवल स्फुटन से ही बीज अलग नहीं होते। जब हवा चलती है तब पौधा हिलता है और बीज एक २ करके बाहर निकलते हैं। यह **स्फुटन-कम्पन योजना** (Censer mechanism) है जिससे बीजों का कुछ न कुछ अपकिरण हो ही जाता है। अतीस और सूर्यमुखी में भी अपकिरण की यही व्यवस्था होती है।

प्राणियों द्वारा अपकिरणः—प्राणियों द्वारा दो तरह से बीज तथा फल का अपकिरण होता है। मांसल फलों का प्राणी भक्षण करते हैं और अनजान में उनके बीजों का अपकिरण भी करते हैं। शुष्क फलों में अनेक ऐसे होते हैं जो जन्तुओं के शरीर में चिपक कर या उलझ कर दूर २ चले जाते हैं। मांसल और स्वादिष्ट फलों की खोज में जन्तु घूमा करते हैं। अधिकतर वे फलों को खा कर बीज छोड़ देते हैं। कहीं २ वे बीजों को भी खा जाते हैं जो प्रायः मल के साथ फिर बाहर आ जाते हैं क्योंकि इनका प्रायः पाचन नहीं होने पाता। इस तरह बीजों की उद्भेदन-शक्ति में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता बल्कि कहीं २ तो वह और सुधर जाती है। अनेक फल खाने में रेचक होते हैं जिससे बीज अवश्य ही बाहर आ जाते हैं। मांसल फलों के बीजों की रक्षा के लिये प्रायः बीज-चोल (बीजिमांसल फलों में), सम्पूर्ण फलभित्ति अथवा केवल अन्तर्भित्ति बहुत कठोर और प्रतिरोधक होती है। चूंकि परिपक्व फलों का ही अपकिरण होना चाहिये इसलिये परिपक्व होने पर ही वे अधिक आकर्षक और स्वादिष्ट होते हैं।

अनेक शुष्क फल तथा बीज **अंकुश** (Hook), कंटक, कठोर रोम तथा श्लेष्मोत्पादक ग्रंथियों से सम्पन्न रहते हैं जिससे वे प्राणियों के रोमादि एवं मनुष्यों के कपड़ों में फँस जाते हैं। **आर्तगल** (Xanthium) तथा झिंझिरीटा की फलभित्ति अंकुश सदृश रचनाओं से ढकी रहती है। **नागदमनी** (Pupalia) में पुष्प-गुच्छ के बाहरी पुष्पों के तथा अपामार्ग के सवर्ण-कोश के दल कांटेदार होते हैं। बिछुआ में स्थायी कुक्षिवृन्त कठोर और अंकुश को

तरह होते हैं। शूकधान्य-कुल के शूक, गोन्तुर के काँटे तथा शालपर्णी जाति के फलों के ऊपर के सूक्ष्म कंटक सदृश अवयव भी अपकिरण के ही निमित्त होते हैं। मुंडी-कुल के कुछ फलों में रोमकण्टक भी तीक्ष्ण अथवा सूक्ष्म और पीछे की ओर मुड़े हुये काँटों से सम्पन्न होते हैं। पुनर्नवा, चित्रक तथा समुद्रशोष के फलों का चिपचिपा होने के कारण प्राणिओं द्वारा अपकिरण होता है। जलाशयों में अथवा उनके किनारे होने वाले अनेक पौधों के बीज प्रायः पक्षिओं के शरीर में लग कर एक जलाशय से दूसरे जलाशय में पहुंच जाते हैं।

बीज और फल के अपकिरण में मनुष्य भी विशेष रूप से भाग लेता है। वह अपने विभिन्न व्यावसायिक जीवन में जानते हुये अथवा अनजान में कितने ही पौधों को नये प्रान्तों में फैला देता है। आज इस देश में कितने पौधे कसरत से पैदा हो रहे हैं जो कुछ समय पहले यहाँ देखने को भी नहीं मिलते थे। पपीता, आलू, मकई, लालमिर्च, अनानास, सिनकोना तथा तम्बाखू के पौधे इस देश के न होने पर भी आज दिन कसरत से पैदा किये जा रहे हैं। ये हमारे लिये उपयोगी हैं और जान-बूझ कर दूसरे देशों से लाये गये हैं। परन्तु अनेक ऐसे पौधे भी समय २ पर इस देश में आ गये हैं जिन्हें कभी लाया नहीं गया। इनके बीज तथा फल प्रायः खाद्यान्नों के साथ बाहर से आये हैं।

जल द्वारा अपकिरणः—जलापकीर्ण बीज तथा फल की रचना ऐसी होती है कि वे पानी के ऊपर तैर सकते हैं। प्रायः इनके आवरण छिद्रिष्ठ सदृश अथवा सूत्रमय होते हैं। नारियल के फल की रचना ऐसी होती है कि सूत्रमय मध्यभित्ति के कारण वह पानी में चाहें जब तक तैरता रहे जलावेध्य कठोर अन्तर्भित्ति के कारण जल भीतर प्रवेश नहीं कर सकता अन्यथा बीज की उद्भेदन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है। कमल में भी फलापकिरण जल द्वारा होता है। इसका दल्यक्ष बहुत बड़ा और छिद्रिष्ठ सदृश होता है और वास्तविक फल इसके गोलार्ध सदृश शीर्ष पर रहते हैं। कुछ समय के बाद दल्यक्ष सड़ जाता है और फल पानी के भीतर ज़मीन पर पहुंच जाते हैं। बहुत सी जलवासी वनस्पतिओं के बीज बहुत छोटे और हल्के होने के कारण पानी के ऊपर बहते हुये दूर २ चले जाते हैं। कुमुदिनी के बीज छोटे और हल्के होने के अतिरिक्त वातपूरित बाह्यप्रसरी से युक्त होते हैं।

समुद्र प्रवाह के द्वारा अपकिरण करने वाले पौधों में **मानग्रोव** (Man-

grove) का उदाहरण बहुत ही विचित्र और मनोरञ्जक है। इनके बीज वृक्ष से पृथक् होने के पहले ही अंकुरित हो जाते हैं। इनका मूल-भ्रूण फल को छेदकर बाहर आ जाता है और बढ़कर भाले के आकार का हो जाता है। कुछ दिनों के बाद शिशु-वनस्पति वृक्ष से अलग होकर और तीर की तरह ऊपर से आकर नीचे दलदल ज़मीन में धंस जाती है और सीधी खड़ी रहती है। फिर उसके पार्श्व से जड़ें निकल कर ज़मीन में उसे सुदृढ़ कर देती हैं। यद्यपि उपर्युक्त बातें प्रसार-विरोधी हैं परन्तु जब इन वृक्षों के भौगोलिक वितरण पर विचार किया जाता है तो मालूम होता है कि समुद्र प्रवाह के द्वारा इनका प्रसार अवश्य होता होगा। ये शिशु-वनस्पतियाँ दो २ महीने पानी में तैरा करती हैं और ज़मीन पाते ही फिर स्थिर होकर बढ़ने लगती हैं। ऐसा होना असङ्गत भी नहीं है क्योंकि दलदल की अस्थिर मिट्टी में यदि ऊपर से गिरी हुई शिशु-वनस्पति का किसी कारण से पैर उखड़ गया अथवा पानी अधिक होने से वे ज़मीन तक पहुँच न सकीं तो उनका नाश ही हो जाय यदि कुछ समय तक पानी में तैरते रहने की व्यवस्था न हो। अतः कहा जा सकता है कि परिस्थिति की विचित्रता से पहले इन्हें प्रसार-विरोधी और फिर आवश्यकता पड़ने पर प्रसार-सहायक व्यापार करने पड़ते हैं। जाति रक्षा के लिये दोनों ही आवश्यक है।

परिच्छेद ७

बीज-रचना तथा बीजोद्भेदन

बीजोद्भिदों का जीवन-चक्र निषेचन से प्रारम्भ होता है। उनके शारीरिक विकास का प्रथम अध्याय मातृ-शरीर के अन्दर पूरा होता है और नवजात शिशु स्वतंत्र जीवन-यापन के लिये बीज के रूप में मातृ-शरीर से पृथक् होता है। फल की सहायता से अथवा स्वयं यह अपने लिये अनुकूल स्थान भी ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। इन्हीं प्रयत्नों की चर्चा बीजापकिरण के नाम से पिछले परिच्छेद में की गई है। अनुकूल स्थान मिल जाने के पश्चात् भी उन्हें शारीरिक विकास के लिये अनुकूल समय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। ऐसा देखा गया है कि जब उनका अपकिरण होता है उस समय प्रायः अभीष्ट अवस्थायें

उपलब्ध नहीं होती और यदि वे हों भी तो बीज प्रायः उनका उपयोग नहीं करते और कुछ न कुछ समय तक वे प्रसुप्त अवस्था में पड़े रहते हैं। यही उनका **विश्राम-काल** (Resting period) होता है। बीज जितना ही अपरिपक्व होता है उतना ही अधिक उसमें जल का अंश होता है अर्थात्, बीज के परिपाक में बीज का अधिकाधिक शुष्क होना भी आवश्यक होता है। अपकिरण के समय अथवा विश्रामकाल में बीज को अनेक प्रतिकूल एवं हानिकारक अवस्थाओं का सामना करना पड़ सकता है इसीलिये शुष्क होकर प्रसुप्तावस्था में रहना उसके लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। विश्रामकाल में बीजों का पूर्ण शोषण हो जाता है और साथ ही खाद्य पदार्थों का रासायनिक परिवर्तन जो शोषण के साथ प्रारम्भ हुआ था पूर्ण हो जाता है और वे संचय के योग्य स्थायी पदार्थों में पूर्णतः बदल जाते हैं। इन्हीं कारणों से प्रायः सभी बीजों का कुछ न कुछ विश्राम-काल होता है। इसकी अवधि कुछ हफ्तों से लेकर वर्षों तक की हो सकती है। विश्राम-काल में बीज प्रायः मिट्टी तथा पत्तिओं के नीचे पड़े रहते हैं।

विश्राम-काल के बीत जाने पर और अनुकूल अवस्थाओं के उपलब्ध होने पर उनका उद्भेदन प्रारम्भ हो जाता है। इस अध्याय में हमें यही देखना है कि बीजोद्भेदन के समय उनकी आन्तरिक रचना कैसी होती है और उद्भेदन होने पर उनमें कौन २ परिवर्तन होते हैं जिससे सर्वाङ्गसम्पन्न और स्वतंत्र जीवन के योग्य एक नये पौधे की उत्पत्ति हो जाती है। इसी अभिप्राय से भिन्न २ प्रकार के बीजों की रचना और उद्भेदन का वर्णन नीचे किया गया है।

चने का बीजः—परीक्षा करने के पहले बीज को पानी में भिगो देना चाहिये। बीज का एक सिरा कुछ नोकीला और मुड़ा हुआ रहता है और दूसरा सिरा गोल होता है। यह एक तल पर कुछ नतोदर मालूम होता है। इसी तल पर एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक रेखा रहती है। नोक के पास इसी रेखा पर **द्वारक** होता है और समीप में ही काला **वृन्तयु** होता है। बीज का भूरा छिलका **बीजचोल** होता है जिसके दोनों स्तर संयुत रहते हैं। इसे निकाल देने पर शेष सम्पूर्ण भाग गर्भ का होता है। इसे यदि दबाया जाय तो यह दो स्थूल और मांसल भागों में अलग हो जाता है जो **बीज-पत्र** होते हैं। एक बीज-पत्र के भीतरी तल पर नोकीले सिरे के समीप एक पीली रचना दिखाई पड़ती है जो भ्रूणाक्ष होती है। इस अक्ष से दोनों बीज-पत्र एक स्थान पर जुड़े रहते हैं। उस

स्थान के एक ओर के भाग को जो नोकीले सिरे की ओर रहता है **मूल-भ्रूण** और दूसरे भाग को **भ्रूणाग्र** कहते हैं। शिम्बि-कुल के प्रायः सभी पौधों में इसी प्रकार के बीज होते हैं।

सेम का बीजः—इसका बीज-चोल कृष्णाभ अथवा रक्ताभ और कड़ा होता है। इसके ऊपर एक सफेद, रेखाकार और छिद्रिष्ट सदृश भाग होता है जिसके एक सिरे पर द्वारक और दूसरे सिरे पर वृन्तयु होता है। बीजचोल के भीतर दो चिपटे बीजपत्र और भ्रूणाग्र तथा मूलभ्रूण से बना हुआ अक्ष होता है जो कुछ टेढ़ा रहता है। भ्रूणाग्र दोनों बीज-पत्रों के बीच में और मूल-भ्रूण बीज-पत्रों के बाहर बीजचोल निर्मित एक गोह में स्थित रहता है। बीज का भीतरी स्तर पतला और मुलायम होता है और भ्रूणाग्र पर पत्रसदृश रचनायें उपस्थित रहती हैं।

एरण्ड का बीज—बीज चोल का बाहरी स्तर अर्थात् बाह्यत्वक् (Testa) कठोर और अन्तस्त्वक् (Tegmen) पतला और मुलायम होता है। बीजचोल के ऊपर द्वारक के समीप एक सफेद बाह्यवृद्धि होती है जिससे कुछ २ ढका हुआ वृन्तयु होता है। बीजचोल को हटा देने पर स्थूल **भ्रूण-पोष** दिखाई देता है जिसके अन्दर तैलीय खाद्य पदार्थ संचित रहता है। वास्तविक गर्भ इसके भीतर मध्य में होता है जिसमें दो पतले पत्र-सदृश बीजपत्र और उनके बीच छोटा णाक्ष होता है। एरण्ड तथा चने आदि के बीजों में यही मुख्य अन्तर है कि एरण्ड बीज **भ्रूण-पोषी** और दूसरे **भुक्त-भ्रूणपोष** होते हैं।

उद्भेदन (Germination):—जिस क्रिया में भ्रूण अपनी प्रसुप्तावस्था को छोड़कर पुनर्वृद्धि प्रारम्भ करता है और शीघ्र मूल तथा पत्रादि का निर्माण करके आत्मनिर्भर हो जाता है उसे बीजोद्भेदन कहते हैं। प्रारम्भ में वह मातृ-संचित भोज्य पदार्थों पर निर्भर करता है परन्तु मूल-पत्रादि के बन जाने पर वह स्वनिर्मित खाद्य-पदार्थों का उपयोग करने लगता है। इतने समय के अन्दर बीज में जितने भी रचनात्मक एवं रासायनिक परिवर्तन होते हैं उन सबको उद्भेदन की संज्ञा दी जाती है। बीजोद्भेदन के लिये **आर्द्रता, ताप** और **जारक** की उपस्थिति आवश्यक होती है। प्ररस को पुनः क्रियाशील बनाने के लिये जल के द्वारा उसका अनुवेधन (Saturation) आवश्यक होता है। जलानुविद्ध बीज का छिलका भी मुलायम हो जाता है और बीजांकुर उसे फाड़ कर बाहर निकल सकता है। संचित खाद्य-पदार्थों में इस समय जो अनेक रासायनिक परिवर्तन

होते हैं उनके लिये जल आवश्यक होता है। उपयोग के लिये पहले खाद्यपदार्थों का जल में विलयन आवश्यक होता है क्योंकि विलयन के रूप में ही वे वर्धनशील भागों में पहुँचते हैं। प्ररस को क्रियाशील बनाये रखने एवं रासायनिक परिवर्तनों के लिये कुछ न कुछ ताप की आवश्यकता होती है। बीजांकुरण के समय श्वसन बड़े वेग से होता है जिसमें जारक (वायु) की आवश्यकता होती है।

उपर्युक्त तीनों दशायें बीजोद्भेदन के लिये अनिवार्य होती हैं–यह निम्नलिखित सामान्य प्रयोग से सिद्ध किया जा सकता है। एक लम्बी लकड़ी के दोनों सिरों पर और मध्य में एक २ सेम के बीज आलपीन द्वारा लगा दिये जाँय और लकड़ी को उबाले हुये पानी से आधी भरी हुई चंचुकी (Beaker) में इस तरह खड़ी कर दें कि बीच का बीज आधा पानी में और आधा बाहर हो। कुछ समय के बाद बीच का बीज पूर्णतः अंकुरित हो जाता है पर अन्य दोनों बीज पूर्णतः अंकुरित नहीं होते। इसका कारण यह है कि बीच वाले बीज को जल, वायु और ताप तीनों मिलता है परन्तु पानी के अन्दर वाले बीज को वायु और बाहर वाले बीज को जल नहीं मिलता। इस प्रयोग में वायु और जल की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। यदि चंचुकी को श्यान-मिश्र (Freezing mixture) और स्थिर चण्डतापनपात्र में बारी बारी से रख कर देखा जाय तो कोई भी बीज अंकुरित होते दिखाई नहीं देते। इससे यह सिद्ध होता है कि बीजोद्भेदन के लिये केवल अनति अर्थात् मध्यम ताप आवश्यक होता है।

बीजोद्भेदन में सबसे पहले बीज जलानुविद्ध होकर फूल जाता है। सेम के बीज में जल जब द्वारक से प्रवेश करने लगता है तो द्वारक के समीप स्थित छिद्रिष्ट सदृश बाह्यवृद्धि उसे सोख लेती है और जल धीरे २ द्वारक से प्रविष्ट होता है। द्वारक के पास भीतर की ओर स्थित उस गोह में जल धीरे २ एकत्र होता है जिसमें मूलभ्रूण रहता है। मूलभ्रूण को सर्व प्रथम जल मिलता है अतः वह फूल जाता है और बीजचोल वहाँ फट जाता है। फिर मूलभ्रूण बढ़कर बाहर निकल आता है और वेग से नीचे की ओर बढ़ता हुआ ज़मीन में प्रविष्ट हो जाता है और क्रमशः शाखामूल बन कर उसके कार्यों में योग देने लगते हैं। मूल-भ्रूण का ऊपरी हिस्सा जिसे **अधोबीजपत्र** (Hypocotyl) कहते हैं धीरे २ बढ़ कर लम्बा होने लगता है और ज़मीन के बाहर

पाशी (Loop) के रूप में प्रकट होता है। इसके बढ़ने से दोनों बीजपत्र और भ्रूणाग्र भी धीरे २ बीजचोल को प्रायः पीछे छोड़कर बाहर निकलने लगते हैं। बाहर आते ही पाशी सीधी हो जाती है और दोनों बीजपत्र तथा भ्रूणाग्र ऊर्ध्व-मुख हो जाते हैं। दोनों बीजपत्र जो पहले बहुत स्थूल और मांसल थे अब अधिकांश खाद्य-पदार्थों के निकल जाने से संकुचित हो जाते हैं। ऐसे बीजोद्भेदन को जिसमें बीजपत्र पृथ्वी के बाहर निकल आते हैं **उपरिभूमिक** (Epigeal) कहते हैं। इसमें ऊपर आने पर बीजपत्र अधिकतर चिपटे, हरे और पत्रसम हो जाते हैं। परन्तु कभी २ जब वे बहुत स्थूल रहते हैं तो बाहर आने पर क्रमशः संकुचित होकर और मुरझा कर गिर जाते हैं।

चना, मटर आम तथा मूंगफली में बीजपत्र जमीन के बाहर नहीं निकलते। अतः यहाँ बीजोद्भेदन को **अधोभूमिक** (Hypogeal) कहते हैं। चने तथा अन्य द्वि-बीजपत्रों में मूलभ्रूण की वृद्धि में कोई अन्तर नही होता। भ्रूणाग्र का बीज के बाहर निकलने का तरीक़ा अलग २ होता है। चने में मूलभ्रूण की वृद्धि के साथ २ भ्रूणाक्ष का वह भाग जो बीज पत्रों के ऊपर होता है अर्थात् भ्रूणाग्र का निचला भाग जिसे **उपरि-बीजपत्र** (Epicotyl) कहते हैं बढ़ता रहता है। यह धीरे २ पाशी के रूप में ज़मीन के ऊपर आ जाता है और साथ २ भ्रूणाग्र भी ऊपर आ जाता है। इसके बाहर आते ही उपरि-बीजपत्र सीधा हो जाता है और भ्रूणाग्र ऊर्ध्वमुख होकर बढ़ने लगता है।

एरण्ड का बीजोद्भेदन सेम जैसा होता है परन्तु यहाँ खाद्य-पदार्थों का संचय भ्रूणपोष में रहता है और बीजपत्र पतले तथा पत्रसदृश होते हैं इसलिये जब तक भ्रूणपोष निःशेष नहीं हो जाता तब तक बीजपत्र उसके अन्दर संचित पदार्थों का प्रचूषण करता और वर्धनशील भागों को पहुंचाता रहता है। भ्रूणपोष के समाप्त हो जाने पर दोनों बीजपत्र जो अब स्थूल हो गये रहते हैं फैल कर हरे हो जाते हैं और पत्रवत् कार्य करने लगते हैं। कूष्माण्ड बीज का उद्भेदन भी सेम बीज की तरह होता है परन्तु कुछ विशेषता होती है। पृथ्वी में प्रविष्ट होकर मूल के दृढ़ और भूमिबद्ध हो जाने पर अधोबीजपत्र एवं दोनों बीजपत्र बढ़ कर द्वारक या बीज-कवच के खुले हुये मुख को फैलाने लगते हैं। इसके अतिरिक्त अधोबीजपत्र के मूलभाग में एक खूंटी जैसा प्रवर्धन निकलकर बीजचोल के अधर भाग को ऊपर उठने से रोक

लेता है और वर्धमान बीजपत्र तथा भ्रूणाग्र बाहर निकल आते हैं। उपर्युक्त सभी बीजों में भ्रूणाग्र के बाहर निकलते ही उसमें नवीन पत्र निकलने लगते हैं।

एक-बीजपत्र बीजों की रचना और उद्भेदन—

मक्का (Maize):—जिन मक्का के दानों को हम बीज समझते हैं वे वस्तुतः संचोलभित्ति फल होते हैं। फलभित्ति और बीजचोल दोनों परस्पर मिलकर एक पतले परदे के रूप में फल के ऊपर रहते हैं। दाने के एक सिरे पर थोड़ा सा अण्डाकार दबा हुआ स्थान होता है जिसके नीचे भ्रूण रहता है। यदि दाने को लम्बाई में और इस स्थान के बीचोबीच काट कर दो भागों में अलग कर दिया जाय तो सब अवयव स्पष्ट दिखाई देते हैं। यदि दाने के कटे हुए तल पर जम्बुकी विलयन (Iodine solution) छोड़ा जाय तो उसका अधिकांश नीला हो जाता है। यह मंडपरिपूर्ण भ्रूणपोष होता है। भ्रूणपोष का बाह्य कोशास्तर उपर्युक्त विलयन से पीला हो जाता है क्योंकि इसके अन्दर समिताया कण होते हैं। इसी लिए इसे **समिताया स्तर** कहते हैं। भ्रूणपोष से लगा हुआ दूसरी ओर ढाल के आकार का एक बीजपत्र होता है जिसे यहाँ **वरूथिका** (Scutellum) कहते हैं। भ्रूणाक्ष में मूल-भ्रूण और भ्रूणाग्र होते हैं जिनके ऊपर वरूथिका भुंजित (folded) रहती है। जम्बुकी विलयन में सम्पूर्ण भ्रूण भूरा हो जाता है। भ्रूणाग्र में सूक्ष्म पत्तियाँ रहती हैं जो वर्धनशील अग्र को ढके रहती हैं और वह पूर्णतः एक पत्र-कंचुक (Leaf sheath) में बन्द रहता है जिसे **भ्रूणाग्र-कंचुक** (Coleoptile) कहते हैं। मूल-भ्रूण भी अग्र की ओर मूलाग्रगोप तथा एक आवरण से ढका रहता है जिसे **मूल-भ्रूण-कंचुक** (Coleorhiza) कहते हैं। भ्रूणपोष से संलग्न वरूथिका के प्रचूषक बाह्य स्तर को **अधिच्छदीय स्तर** (Epithelial layer) कहते हैं। उद्भेदन प्रारम्भ होते ही इस स्तर में **मंड-विकर** (Diastase) का निर्माण होता है जिससे भ्रूणपोष के अन्दर संचित मंड शर्करा में परिवर्तित होकर वरूथिका में पहुंचता है और वरूथिका उसे वर्धनशील भ्रूण तक पहुंचाती है। सबसे पहले मूलभ्रूण कंचुक को फाड़कर बाहर आता है और पृथ्वी में प्रविष्ट होता है। परन्तु यह अधिक नहीं बढ़ता अतः अक्ष से अन्य आगन्तुक मूल निकल कर और कंचुक को फाड़ कर बढ़ जाते हैं। आगन्तुक मूलों के निकलने के स्थान भ्रूणाक्ष में पहले से ही स्पष्ट दिखाई देते हैं। भ्रूणाग्र का वर्धन-

शील अवसान भाग नोकीला और दृढ़ होता है अतः मिट्टी में घुस कर बढ़ता है। बाहर आने पर भ्रूणाग्र-कंचुक को फाड़कर पहली पत्ती बाहर निकलती है और फिर अन्य अनुगामी पत्तियाँ क्रमशः निकलती जाती हैं। एक-बीजपत्रों में प्रायः सर्वदा अधोभूमिक उद्भेदन होता है। केवल प्याज में बीजपत्र जमीन के ऊपर आते हैं अतः यहाँ बीजोद्भेदन उपरि-भूमिक होता है। खजूर, ताड़, नारियल तथा मानग्रोव के बीजोद्भेदन में कुछ विशेषतायें होती हैं।

खर्जूरबीज—यह लम्बगोल और दोनों सिरों पर कुछ नोकीला होता है। इसके एक ओर मध्य में एक नत स्थान होता है जिसके नीचे भ्रूण रहता है। दूसरी ओर दोनों सिरों के बीच एक नाली होती है। बीजचोल बहुत पतला परन्तु कठोर होता है और भ्रूणपोष भी बहुत कड़ा होता है। इसमें संचित भोज्य पदार्थ कोशाधु का होता है इसीलिये बीजचोल एवं भ्रूणपोष बहुत कठोर होते हैं। बीजोद्भेदन के प्रारम्भ होते ही एकाकी बीजपत्र संचित भोजन का उपयोग करके बढ़ने लगता है। बीजपत्र का कुछ भाग एक कंचुक के रूप में जिसके अन्दर भ्रूणाक्ष बन्द रहता है बाहर निकल आता है और ज़मीन में घुस जाता है फिर, पहले मूलभ्रूण और पीछे भ्रूणाग्र अपने २ कंचुकों को फाड़कर बाहर निकलते हैं। **तालबीज** की गुठली अन्तर्भित्ति से बनी होती है। इसके भीतर पतला बीजचोल होता है। भीतर एक सिरे पर छोटा भ्रूण होता है, बीच में गोह और गोह के चारों ओर भ्रूणपोष होता है। बीजोद्भेदन के समय बीजपत्र का एक भाग अत्यधिक बढ़कर भ्रूणपोष के अन्तस्तल पर क्रमशः फैल जाता है और संचित खाद्य-पदार्थ का प्रचूषण करके उसे वर्धनशील भागों में पहुंचाता है। बीजपत्र का दूसरा भाग एक कंचुक के रूप में बाहर निकलता है जिसके अन्दर भ्रूण बन्द रहता है। फिर, खजूर की तरह यहाँ भी भ्रूणाग्र और मूलभ्रूण की वृद्धि होती है।

नारियल की अष्ठि भी अन्तर्भित्ति की होती है। इसमें तीन गोले स्थान होते हैं जहाँ मुलायम ऊति होती है। बीजोद्भेद के समय इन्हीं में किसी एक स्थान पर अंकुर निकलता है। भीतर की रचना लगभग तालबीज के समान होती है। भ्रूण अविविक्तांग (undifferentiated) होता है अर्थात् उसमें बीज-पत्रादि पृथक् २ नहीं बने होते। उद्भेदन प्रारम्भ होते ही भ्रूण का अधर भाग क्रमशः बढ़ता हुआ गोलाकार हो जाता है और बीज-गोह को छेंक लेता है। ज्यों २ यह

बढ़ता है भ्रूणपोष निःशेष होने लगता है। भ्रूण का उत्तर भाग कंचुक के रूप में भ्रूणाक्ष के साथ अष्ठि के बाहर निकल आता है। अक्ष से मूल निकल कर सूत्रस मध्यभित्ति को छेदते हुये बाहर आते हैं और पृथ्वी में प्रविष्ट हो जाते हैं। भ्रूणाग्र भी ऊपर की ओर बढ़कर मध्यभित्ति को पार कर के बाहर निकल आता है और ज़मीन के बाहर आने पर उससे पत्तियाँ निकलने लगती हैं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सम्पूर्ण फल को मिट्टी में बैठाने से ही बीजोद्भेदन होता है। मानग्रोव श्रेणी के वृक्षों में परिस्थिति की विचित्रता के कारण फल के वृक्ष से लगे रहने पर ही बीजोद्भेदन हो जाता है। ऐसे बीजोद्भेदन को **यौनबीजक** (Vivipaious) कहते हैं। इसका उपयोग बीजापकिरण के प्रकरण में बतलाया जा चुका है।

द्वितीय भाग

औतिकी (Histology)

परिच्छेद ८

कोशा (Cell)

उद्भिज-शरीर अण्डबीजाणु के रूप में प्रगट होता है। यह केवल एक आण्वीक्ष प्रस-पुंज होता है जिसका अंतरङ्ग (न्यष्टि) विशिष्ट प्रस का और प्रान्तीय भाग सामान्य प्रस का बना होता है। प्रान्तीय प्रस की चेष्टा से यह अणु-शरीर अपनी सुरक्षा के लिये शीघ्र एक आवरण बना लेता है। प्रायः आवरण और न्यष्टि से सम्पन्न ऐसे आण्वीक्ष प्रस-पिंड को **कोशा** (Cell) की संज्ञा दी जाती है। अतः अण्ड-बीजाणु उद्भिज शरीर का आदिकोशा होता है। अस्तित्व में आते ही द्रुतगति से इसका संवर्धन और विभाजन होने लगता है। इन दोनों क्रियाओं की संतत पुनरावृत्ति से शीघ्र बहुकोशा भ्रूण-शरीर बन जाता है जिसकी संघटक कोशायें प्रायः एक ही प्रकार की होती हैं। भ्रूण-शरीर कुछ समय तक प्रसुप्त एवं अकर्मण्य रहने के बाद बीजोद्भेदन के साथ फिर कर्मण्य होता है और इसकी वृद्धि एवं विकास पुनः आरम्भ हो जाता है। बीजोद्भेदन से जैसे मूल, काण्ड तथा पत्र विभिन्न आकार-प्रकार के अङ्ग बनकर विशिष्ट कार्यों में संलग्न हो जाते हैं उसी प्रकार शरीर के भीतर भी **रचना-भिन्नन** (Differentiation of structure) प्रारम्भ हो जाता है। बीजोद्भेदन के बाद की नवसृष्ट कोशायें मातृ-कोशाओं से आकृति तथा परिमाण में क्रमशः भिन्न हो जाती हैं। समान आकार-प्रकार की कोशायें समूह-बद्ध होकर किसी एक कार्य में विशेष रूप से संलग्न हो जाती हैं। विभिन्न कार्यों के लिए भिन्न २ कोशा-समूहों का निर्माण हो जाता है जिन्हें **ऊति** (Tissue) कहते हैं। प्रत्येक ऊति की कोशायें आकारादि में अपने २ कार्य के अनुरूप होती हैं। इस तरह सर्वांगपूर्ण शरीर में बाहर विभिन्न अंगों का और प्रत्येक अंग के भीतर विभिन्न ऊतिओं का निर्माण होता है। जीवन पर्यन्त इन ऊतिओं तथा अङ्गों का क्षय और पुनर्निर्माण होता रहता है।

जिस प्रकार व्यक्तिगत शारीरिक विकास में पहले **एक-कोशा** (Unicellular), फिर **बहु-कोशा** (Multicellular) और **समांग**

(Homogeneous) और अन्त में बहु-कोशा परन्तु **विषमांग** शरी बनता है उसी प्रकार उद्भिज्ज संसार के सृष्टि-क्रम में पहले एक-कोशा फि बहु-कोशा एवं समांग और अन्त में बहु-कोशा और विषमांग उद्भिज्जों का प्रा भाव हुआ है। एक-कोशा वनस्पतिओं में समस्त शारीरिक व्यापार एक ही कोशा के द्वारा सम्पन्न होते हैं। समांग और बहु-कोशा उद्भिज्जों में भी प्रायः सम कोशायें सभी व्यापारों को करती हैं परन्तु उनमें **कार्य-बंटन** (Distri bution of functions) के लक्षण भी क्रमशः प्रगट होने लगते हैं। विष मांग और बहुकोशा उद्भिज्जों में विभिन्न कार्यों के निमित्त विभिन्न ऊतियों क निर्माण हुआ रहता है। प्रत्येक ऊति की कोशायें कार्य के अनुरूप और निश्चि आकार प्रकार की होती हैं।

अविविक्ताङ्ग श्रेणी में एक-कोशा एवं बहु-कोशा और प्रायः समांग वनस्पति होती हैं। अमूलकव्यक्तांग तथा अन्य उच्च श्रेणी की वनस्पतियाँ बहु-कोश और विषमांग होती हैं। अविविक्तांग और अमूलकव्यक्तांग की विभिन्न ऊति की कोशायें प्रसयुत होती हैं परन्तु पूर्णोपचितांग और बीजोद्भिदों में एक विशे प्रकार की ऊति का आविर्भाव हो जाता है जिसे वाहिनी-ऊति (Vascular tissue) कहते हैं और जिसके निर्माण में प्रसहीन निर्जीव कोशाओं क प्राधान्य रहता है।

नवीन कोशा और उसके विभागः—सभी बहु-कोशा उद्भिज्ज एक कोशा शरीर से अपना जीवन प्रारम्भ करते हैं। सतत कोशा-विभाजन से बहुकोशा हो जाते हैं परन्तु कोशायें पृथक् २ आवरणों में बन्द रहने पर प्रस-सूत्रों से परस्पर सम्बन्धित रहती हैं जो कोशा-भित्ति के सूक्ष्म छिद्रों होकर आसन्न कोशाओं के प्रस को मिलाते हैं। इसी कारण शरीर की संघट कोशाओं में अन्योन्याश्रय और सहकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं।

जैसे २ हम उच्च श्रेणी की वनस्पतिओं में आते हैं कोशा-निर्माण का क्षे अलग होता जाता है। यद्यपि विशेष दशाओं में किसी भी भाग की कोशायें विभा जन-कार्य में प्रवृत्त हो जाती हैं परन्तु प्रविभाजि-कोशा अथवा ऊतिओं का, जो प्रकृति से ही वर्धनशील होती हैं, निश्चित स्थानों में पृथक्करण हो जाता है। उच्च कोटि के उद्भिज्जों में मूल तथा काण्ड के अग्रों पर नवकोशाओं का निर्माण होता है अत

वे उनके वर्धनशील भाग कहे जाते हैं। बीजोद्भिदों में वर्धनशील प्रान्त में प्रविभाजि कोशाओं के दो या तीन स्तर होते हैं और अमूलकव्यक्तांग तथा पूर्णाप्रचितांग श्रेणिओं में केवल एक अवसान-कोशा के विभाजन से कोशा-निर्माण होता है। सभी नवसृष्ट कोशायें एक ही प्रकार की होती हैं। परन्तु शीघ्र संवर्धन और भिन्न २ प्रकार के आकृतिक परिवर्तनों द्वारा उनमें रचना-भिन्नन होकर उनसे क्रमशः विभिन्न ऊतिओं का निर्माण हो जाता है। इस तरह एक स्थायी आकार-प्रकार की होकर वे किसी निश्चित कार्य में संलग्न हो जाती हैं।

नवसृष्ट कोशाओं का अन्वायाम छेद प्रायः आयताकार और अनुप्रस्थ छेद आयताकार या बहुभुजाकार होता है जिससे सम्पूर्ण कोशा एक संक्षेत्र (Prism) अथवा चार या अधिक पार्श्वों से युक्त एक रुण्डित स्तूप के आकार की होती है। **कोशा-भित्ति** (Cell-wall) पतली होती है और कोशा-गह्वर प्रसस-पुंज से भरा रहता है जो उद्भिज शरीर का व्यापारिकीय एकक कहा जा सक्ता है। प्रसस-पुंज के मध्य में एक बड़ी और प्रायः गोल **न्यष्टि** नामक विशिष्ट प्रससीय रचना होती है और कोशा-भित्ति तथा न्यष्टि के बीच का अवकाश सामान्य प्रसस से भरा रहता है जिसे **कोशा-प्रसस** (Cytoplasm) कहते हैं। कोशा-प्रसस के अन्दर विशिष्ट प्रसस-काय, जिन्हें **वर्ण-घटन** (Plastids अथवा Chromatophores) कहते हैं, और अनेक निर्जीव अन्तराविष्ट पदार्थों की सूक्ष्म कणिकायें और बिन्दु (बूंद) बिखरे रहते हैं। अतः नवसृष्ट कोशा में साधारणतः (१) **कोशा-भित्ति** (२) **प्रससीय कोशा-काय** और (३) **कोशा-काय के निर्जीव अन्तरावेश**—ये तीन भाग होते हैं। उद्भिज-शरीर के अ कारिकीय एकक को कोशा की संज्ञा दी गई है जो अनुपयुक्त होने पर भी ऐतिहासिक महत्व रखती है। सबसे पहले बोतल के काग की परीक्षा अण्वीक्ष के द्वारा की गई और वह मधुमक्षी के छत्ते की तरह सूक्ष्म कोशों (Cell) का बना हुआ दिखाई दिया—तभी से कोश अथवा कोशा संज्ञा प्रचलित हो गई है। परन्तु बाद की खोजों से यह निर्णय हुआ कि तथाकथित कोशा का प्रधान अङ्ग केवल उसका प्रससीय अंश होता है जो कहीं २ कोशा-भित्ति से रहित होता है। अतः कोशा-वर्णन में पहले प्रसस का ज्ञान होना चाहिये जो कोशा के समस्त व्यापारों एवं जीवन का एक मात्र भौतिक आधार होता है।

प्रसस (Protoplasm):—यह स्वच्छ, न्यूनाधिक पारदर्श, किंचित

कणमय और आश्लेष्मल अर्धतरल पदार्थ होता है। इसकी भौतिक प्रकृति श्लेष्मा-भीय (Colloidal) होती है। कर्मण्य अवस्था में इसमें लगभग ६० प्रतिशत जल का अंश होता है। इसके गुण अधिकांश में द्रव के सदृश होते हैं परन्तु विशुद्ध द्रव न होकर इसमें अनेक सान्द्र या तरल रसायनिक पदार्थों की कणिकायें एवं बूंदें अपकीर्ण रहती हैं जो केवल उच्चतम विशालन शक्ति के अण्वीक्ष द्वारा देखी जा सकती हैं। ये कणिकायें और बूंदें प्रोभूजिन, प्रांगोदीय, स्ने तथा किन्व आदि रसायनिक पदार्थों की होती हैं जो प्ररस के निर्माण में भा लेते हैं अथवा प्ररस के विश्लेषण से प्राप्त होते हैं। रसायनिक दृष्टि से यह को एक पदार्थ नहीं मालूम होता बल्कि अनेक संयुक्त रासायनिक पदार्थों का ब हुआ एक संकर पदार्थ होता है जो निरन्तर रसायनिक परिवर्तन किया करते और इन्हीं रसायनिक परिवर्तनों के फल स्वरूप इसमें अनेक जीवन-व्यापार हो रहते हैं।

एक तो प्ररस के अन्दर अन्तरावेश (Inclusions) के रूप में अने प्रांगारिक और अप्रांगारिक पदार्थ उपस्थित रहते हैं और दूसरे, रसायनि विश्लेषण के समय इसकी प्राकृतावस्था ही नष्ट हो जाती है अतः विशुद्ध प्र का रसायनिक संघटन मालूम करना सम्भव नहीं है। शुष्क प्ररस में मुख्य अं प्रोभूजिन श्रेणी के पदार्थों का होता है जो प्रांगार, उदजन (Hydrogen जारक (Oxygen), भूयाति (Nitrogen), भास्वर (Phosphorus और कभी २ गन्धक से बने होते हैं। इनके पश्चात् प्रांगोदीय तथा स्नेहीय पदा का आधिक्य होता है। शेष पदार्थों में कुछ प्रांगारिक और कुछ अप्रांग रिक होते हैं। प्ररस के भौतिक गुणों एवं विश्लेषणात्मक परीक्षाओं के आधार इसे कम से कम ऐसा श्लेष्माभीय पदार्थ माना जा सकता है जिसमें प्रो जिन और स्नेहीय पदार्थ जल में प्रविलीन होकर संतत घटक (Continuo Phase) और अन्य पदार्थों से संयुत अथवा विशुद्ध प्रोभूजिन की सान्द्र एवं त कणिकायें अपकीर्ण घटक (Dispersed Phase) का निर्माण करती हैं किसी प्ररस-पुंज-जैसे कोशा-प्ररस-के प्रान्तीय स्तरों की जटिलता और उन व्यापारिकीय महत्व को समझने में प्ररस का उपर्युक्त संघटन बहुत सहायक हो है। प्रान्तीय स्तरों में स्नेहीय पदार्थों का संकेन्द्रण और प्ररस-पुंज में अन्य पदा के आयात-निर्यात पर इनका जैसा नियंत्रण रहता है-वह तभी सम्भव होगा

प्रस का उपर्युक्त प्रकार का भौतिक संघटन होगा।

सजीव पदार्थ के लक्षणों में (देखो पृष्ठ १-३) प्रस के विभिन्न व्यापारों एवं लक्षणों का वर्णन किया गया है जिनमें श्वसन, पोषण, वृद्धि, प्रजनन, रासायनिक परिवर्तनशीलता और संज्ञान सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त प्रस में गति-शीलता, संकोचिता (Contractility) तथा अर्धवेध्यता (Semi-permeability) के गुण भी होते हैं। मुक्त प्रस-पुंज पक्ष्म (Cilia) अथवा कशा (Flagella) आदि गतिशील प्रवर्धनों द्वारा अथवा कूट पाद (Pseudopodium) नामक प्रवर्धनों द्वारा अपना स्थानान्तरण करता है। कोशा-बद्ध प्रस में भी (१) **परिवाह-गति** (Circulation) और (२) **परिभ्रम-गति** (Rotation)-ये दो प्रकार की गतियाँ देखी जाती हैं। जब कोशा-भित्ति के किनारे किनारे एक निश्चित दिशा में प्रस चक्कर लगाया करता है तो उसकी इस गति को परिभ्रम-गति कहते हैं। इलोडिया तथा वैलिस्नीरिया नामक जल-वनस्पतियों में जहाँ प्रस पूर्णतः प्रान्तस्थ होता है ऐसी गति देखी जाती है। न्यष्टि तथा वर्णि-घटकों के स्थानान्तरण से इसका ज्ञान होता है। परिवाह-गति में धारा प्रवाह की दिशा बदलती रहती है और उसका निश्चित मार्ग भी नहीं होता। इसमें प्रसीय-सूत्रों की स्थिति में प्राय परिवर्तन हुआ करता है जिससे इस गति का ज्ञान होता है।

प्रस प्रायः ५० तापांश के ऊपर जीवित नहीं रह सकता। सुषव (Alcohol) तथा अम्लीय विलयनों में भी यह निर्जीव हो जाता है और रसायनिक क्रियाओं में यह क्षारिय अथवा उदासीन होता है अम्लीय कभी नहीं होता। निर्जीवावस्था में इसका आतंचन (Coagulation) हो जाता है।

कोशा-प्रस (Cytoplasm):-नवसृष्ट कोशाओं में न्यष्टि और कोशा-भित्ति के बीच का स्थान प्रस से पूर्णतः भरा रहता है परन्तु जब कोशा का परिमाण बहुत अधिक बढ़ जाता है तो उसके भीतर एक अथवा अनेक **कूप** (Cavities) बन जाते हैं जिनमें कोशा-रस भरा रहता है और इसलिये इन्हें **रसधानी** (Vacuoles) कहते हैं। पहले कोशा-रस बहुत कम होता है और छोटी२ कणिकाओं के रूप में प्रस में बिखरा रहता है। कोशा वृद्धि के साथ २ ये कणिकायें (बूंदें) संख्या में और परिमाण में अधिक होती जाती हैं और अन्त में परस्पर मिलकर रस-धानियों का निर्माण करती हैं। कहीं २ रसधानी एक ही होती है जो मध्य

में रहती है और प्रस तथा न्यष्टि आदि प्रान्तस्थ हो जाती हैं। अधिकतर कुछ प्रस से घिरी हुई न्यष्टि रसधानी के मध्य में रहती है और प्रान्तस्थ प्रस से अनेक प्रसीय सूत्रों द्वारा सम्बन्धित रहती है जिससे रसधानी भी अनेक कोष्ठों में विभक्त रहती है।

कोशा-प्रस कोशा के अन्दर भी सर्वत्र समान नहीं होता। कोशा-भित्ति तथा रसधानी के निकट प्रस के प्रान्तीय स्तर अधिक दृढ़ और प्रायः कणहीन होते हैं। इनमें स्नेहीय पदार्थों का संकेन्द्रण होता है और अन्य पदार्थों के आयात-निर्यात पर यह नियन्त्रण रखता है। इसे **बहिः प्रस** (Ectoplasm) कहते हैं। प्रान्तीय प्रस-स्तरों के बीच में कणमय **अन्तः-प्रस** (Endoplasm) होता है जिसमें वर्णि-घटन तथा अन्य निर्जीव अन्तरावेश पाये जाते हैं। उपर्युक्त प्रस-भिन्नन प्राणि-कोशा में बहुत स्पष्ट होता है परन्तु उद्भिज्ज-कोशा में ऐसा भेद कम दिखाई देता है यद्यपि दोनों के व्यवहार में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

न्यष्टि (Nucleus):—सजीवावस्था में यह कोशा-प्रस के सदृश एक द्रव (न्यष्टि-रस–Nuclear sap) से भरी हुई और एक मृदु आवरण (न्यष्टि कला-Nuclear membrane) से घिरी रहती है और अण्वीक्ष से देखने पर इसका बिन्दुकित स्वरूप मालूम होता है। परन्तु जब इसका अभिरंजन हो जाता है तो इसके भीतर जालिका सदृश एक रचना दिखाई होती है जिसे **अभिवर्णि-जालिका** (Chromatin network) कहते हैं। इस जालिका के सूत्रों को **न्यष्टि-सूत्र** (Linin thread) कहते हैं। अभिरंजक से सम्पूर्ण सूत्र का नहीं वरन् इसमें अन्तर्विष्ट केवल एक कणात्मक पदार्थ का गाढ़ अभिरंजन होता है जिसे **अभिवर्णि** (Chromatin) कहते हैं। अभिवर्णि मुख्यतः भास्वरयुक्त प्रोभूजिनों का बना होता है। अभिवर्णि-जालिका के अन्तराल सामान्यतः न्यष्टि-रस से भरे रहते हैं और एक या कभी २ दो सघन सूक्ष्म रचनायें होती हैं जिन्हें **न्यष्टिका** (Nucleolus) कहते हैं। प्राणि–न्यष्टिओं में प्रायः एक या अधिक अन्य अभिरंज्य रचनायें भी रहती हैं जिन्हें **तारा-नाभि** (Centrosphere) कहते हैं। किसी २ उद्भिज्ज में न्यष्टि-रस नहीं होता और जालिका बहुत सघन होती है। इसे **सान्द्र न्यष्टि** (Solid nucleus) कहते हैं। विभाजन के समय न्यष्टि में अनेक शृंखलाबद्ध परिवर्तन होते हैं जिनका वर्णन आगे किया गया है। नवीन कोशाओं की न्यष्टियाँ बड़ी और प्रायः गोली

होती हैं परन्तु पुरानी कोशाओं में छोटी और अंडाकार, अर्धचन्द्राकार या लम्बीभूत होती हैं। कोशा के चयापचय सम्बन्धी व्यापारों के नियन्त्रण में न्यष्टि का बहुत हाथ होता है जिससे कोशा-विभाजन, वृद्धि और भिन्नन आदि में इसका मुख्य काम रहता है। पित्रागत गुणों के संक्रामण का भौतिक आधार न्यष्टिओं के ही अन्दर होता है जिसे **पित्र्य-सूत्र** (Chromosome) कहते हैं।

वर्णि-घटन (Plastids) :—नवसृष्ट कोशाओं में वर्णि-घटन बहुत सूक्ष्म और वर्णहीन होते हैं परन्तु पुरानी कोशाओं में प्रायः वे भिन्न २ वर्ण के और बड़े हो जाते हैं। आकार में ये प्रायः गोल या अण्डाकार होते हैं। ये भी प्ररसीय रचनायें हैं और अन्य प्ररसीय रचनाओं की तरह इनकी उत्पत्ति भी आत्मभाजन से होती है। निम्नांकित तीन प्रकार के वर्णि-घटन होते हैं:—

(१) **शादि-घटन** (Chloroplast)– इनमें **शाद** (Chlorophyll) नामक हरा रंजक पदार्थ होता है। प्रकाश में होने वाले अंगों-विशेषतः पत्तिओं या नवीन काण्ड में ये पाये जाते हैं। भौमिक भागों में अथवा अन्तरूतिओं में ये नहीं होते। उच्च श्रेणी के उद्भिजों में ये प्रायः गोल या अण्डाकार होते हैं प्रांगार-द्विजारेय और जल से प्रकाश की उपस्थिति में शर्करा उत्पन्न करना और उसे मंड में परिवर्त्तित करना इनका मुख्य कार्य है। पर्ण-शाद चार भिन्न २ रंजक पदार्थों का मिश्रण होता है जिन्हें शाद अ, शाद ब, गर्जरि (Carotin) और पर्ण-पीतक (Xanthophyll) कहते हैं–ये क्रमशः नील-कृष्ण, हरित-कृष्ण, नारंग-रक्त और पीत वर्ण के होते हैं।

(२) **सित-घटन** (Leucoplast) :—प्रकाश की अनुपस्थिति में जहाँ शादि-घटन नहीं बन सकते वहाँ सितघटन पाये जाते हैं। कन्द आदि भागों में जहाँ मंड का संचय होता है ये रहते हैं और शर्करा को मंड में तथा मंड को शर्करा में बदलने का कार्य करते हैं। प्रकाश पाने पर ये शादि-घटन में बदल जाते हैं। शादि–घटन भी अधिक समय तक अंधकार में रहने पर सित-घटन में परिवर्तित हो जाते हैं।

(३) **अन्य वर्णि-घटन** (Chromoplast) :—ये पीत, नारङ्ग, रक्त तथा मिश्रित वर्णों के होते हैं और प्रायः पुष्प-दल तथा फलों में पाये जाते हैं। गर्जर आदि भौमिक भागों में भी कभी २ ये उपस्थित रहते हैं। इनके वर्ण गर्जरि पर्ण-पीतक अथवा इनके मिश्रणों के कारण होते हैं। शादि-घटन भी कभी २ अन्य

वर्णि-घटनों में परिवर्तित हो जाते हैं। पतझड़ के समय पत्तियों में पीलापन इसी तरह आता है।

कई रंजक पदार्थ कोशा-रस में प्रविलीन होकर उपस्थित रहते हैं जिनके कारण नीललोहित (Violet), नीलारुण (Purple), रक्त तथा नील वर्ण उत्पन्न होते हैं और जिन्हें **पुष्पश्यामि** (Anthocyanin) कहते हैं। पुष्प-दल, नवीनपत्र तथा पालंक-मूल (Beet root) के वर्ण कभी २ इन्हीं रंजक पदार्थों के कारण होते हैं।

कोशा के निर्जीव अन्तरावेश

ऊपर बतलाया जा चुका है कि कोशा-प्ररस में अनेक प्राङ्गारिक एवं अप्राङ्गारिक रासायनिक पदार्थ पहले कणिकाओं के रूप में बिखरे रहते हैं फिर ये कणिकायें मिलकर एक या कई रसधानियों का निर्माण करती हैं। अतः रसधानियों में उन्हीं रासायनिक पदार्थों के विलयन भरे रहते हैं। अविलेय पदार्थ भी सान्द्र अथवा तरल रूप में प्ररस या कोशा-रस में रहते हैं। विविध प्रकार के इन रासायनिक पदार्थों में अधिक मात्रा उनकी होती है जो भविष्य में पोषण और वृद्धि के लिये **संचिति** (Reserve) के रूप में होते हैं। इन्हें **अभिघट्य पदार्थ** (Plastic substances) भी कह सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनकी उत्पत्ति विविध प्रकार की रासायनिक क्रियाओं में होती हैं पर उनका कोई उपयोग नहीं होता अतः वे त्याज्य द्रव्य (Waste products) अथवा वहिः स्रुत (Excreted) पदार्थ कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्ररस के द्वारा थोड़े से ऐसे पदार्थों का उत्पादन होता है जो किसी न किसी रूप में, उद्भिज के लिये उपयोगी होते हैं, और जिन्हें अन्तः स्रुत (secreted) पदार्थ कहते हैं। शर्करा, मंड, अनेक प्रकार के प्रोभूजिन, वसा और स्नेह अभिघट्य पदार्थों के अनेक प्रकार के विकर (Enzyme), पुष्पश्यामि, मधु तथा कोशाधु आदि अन्तः स्रुत द्रव्यों के और निर्यास तथा उत्पत तैल आदि वहिःस्रुत पदार्थों के उदाहरण हैं।

सान्द्र अन्तरावेश (Solid inclusions) :—संचित और त्याज्य पदार्थों में अनेक सान्द्र अवस्था में कोशा के अन्दर पाये जाते हैं। इनमें कुछ पदार्थ निश्चित आकार के एकलित अथवा समूहबद्ध कणों या स्फटों के रूप में रहते हैं और कहीं २ जाति विनिश्चय में बहुत सहायक होते हैं। इनमें चूर्णातु तिग्मीय (Calcium oxalate) तथा चूर्णातु प्रांगारीय (Calcium

carbonate) के स्फट और समितायां (Aleurone) तथा मण्ड के कण मुख्य हैं जिनका वर्णन नीचे किया गया है।

चूर्णातु तिग्मीय के स्फट उद्भिज-कोशाओं में बहुत कसरत से पाये जाते हैं। कई रासायनिक क्रियाओं में तिग्मिक अम्ल की उत्पत्ति होती है जो जल में प्रविलेय होता है और अधिक होने पर प्ररस के लिये घातक हो जाता है। इसलिये यह चूर्णातु तिग्मीय में बदल कर प्ररस के संसर्ग से पृथक् हो जाता है। यह अविलेय और सान्द्र होता है और भिन्न २ आकार के स्फटों में पाया जाता है। जिन कोशाओं में इसका पृथक्करण होता है उनमें प्रायः प्ररस नहीं रह जाता। तिग्मीय-स्फट कोशा के अन्दर अकेला या समूहबद्ध होकर रहता है। इसके स्फट कहीं २ सूचीवत् (Acicular) होते हैं और **सूची-स्फट** (Raphide) कहे जाते हैं।

समूहबद्ध होने पर कोशाओं के अन्दर इनकी पूलिकायें बनी रहती हैं जिन्हें स्फट-पूलिका कहते हैं। आलुक (अरुई), जलकुम्भी तथा सूरण आदि एक बीज-पत्र उद्भिज्जों में स्फट-पूलिकायें पाई जाती हैं। रेवन्द, जलकुम्भी तथा अरुई में प्रायः चतुर्भुजाकार स्फटों का आरीय संगोलन (Radial Conglomeration) हुआ रहता है। ऐसे स्फट समूह को **स्फट संगोल** (Sphaeraphide अथवा Sphaero-crystals) कहते हैं। बेलाडोना की पत्ती तथा जड़ में इसके स्फट सिकता कणों के सदृश होते हैं और कोशाओं में भरे रहते हैं। इन्हें **स्फट-सिकता** (Sand crystals) कहतेहैं। कहीं २ स्फट सांक्षेत्रिक (Prismatic), घनाकार या बहुभुजाकार होते हैं और एक ही स्फट से सम्पूर्ण कोशा घिरी रहती है। ऐसी कोशायें कासियाकाष्ठ में इतस्ततः बिखरी हुई और स्वर्णपत्री (Senna) तथा मधुयष्टी में स्तरबद्ध रहती हैं।

चूर्णातु प्रांगारीय उद्भिज-कोशा में अधिक नहीं मिलता। वासा-कुल तथा वट-कुल के अनेक उद्भिज्जों में प्रायः अधि-स्तर-कोशा की अंतर्भित्ति किसी एक स्थल पर अन्तर्वृद्ध हो जाती है और उसके अन्दर तथा ऊपर चूर्णातु प्रांगारीय के स्फट एकत्र होकर सम्पूर्ण रचना को अंगूर के गुच्छे के सदृश बना देते हैं। यह सवृन्त या अवृन्त दोनों प्रकार की हो सकती है। इसे **कोशा-पाषाण** (Cystolith) कहते हैं।

समितायां कण:—अनेक अपरिपक्व तैल-बीजों में प्रोभूजिन प्रायः प्रचुर

मात्रा में कोशा-रस में प्रविलीन रहते हैं। ज्यों २ बीज परिपक्व और शुष्क होता है ये प्रोभूजिन सान्द्र समिताया कणों में बदल जाते हैं। प्रत्येक कण एक कला में बन्द रहता है जिसके अन्दर प्रायः दो भाग होते हैं। एक भाग बड़ा और प्रोभूजिन का बना होता है और उसे **स्फटाभ** (Crystalloid) कहते हैं। दूसरा भाग बहुत छोटा और एक किनारे रहता है जिसमें खनिज भास्वीय (Phosphate) के योग होते हैं। इसे **गोलकाभ** (Globoid) कहते हैं। समिताया कण प्रायः गोल या अण्डाकार होते हैं और बीजपत्र या भ्रूण-पोष में पाये जाते हैं। शूक-धान्यों में भ्रूण-पोष के प्रान्तीय स्तर में और शमीधान्यों के बीजपत्रों में ये अधिक पाये जाते हैं। मण्ड-बीजों की अपेक्षा तैल-बीजों में इनकी मात्रा अधिक होती है।

मण्ड कणः – संचिति श्रेणी के पदार्थों में मण्ड मुख्य पदार्थ है जिसके विभिन्न आकार तथा परिमाण के कण पौधों के बीज, मूल तथा भौमिक एवं वायव्य काण्ड में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। विभिन्न उद्भिज्जों के मण्ड-कण प्रायः निश्चित आकार-प्रकार के होते हैं और मण्डयुत खाद्यान्नों तथा औषधद्रव्यों की पहचान में बहुत सहायक होते हैं। शादि-घटन के अन्दर बहुत छोटे कण तैयार होते हैं क्योंकि उनका शीघ्र शर्करा में परिवर्तन होकर स्थानान्तरण हो जाता है। संचित मण्ड के कण बड़े होते हैं और सित-घटन के अन्दर तैयार होते हैं। प्रत्येक कण में एक **नाभि** (Hilum) होती हैं जो केन्द्रीय अथवा उत्केन्द्र (Eccentric) होती है। यह कण का निर्माण-केन्द्र है। केन्द्रीय नाभि के चारों ओर अनेक संकेन्द्र चक्र होते हैं जो निर्माण-काल में बने हुये मण्ड के स्तर होते हैं। उत्केन्द्र कण में इन स्तरों का अधिकांश नाभि के एक ओर होता है। मण्ड-कण एकाकी, संयुत अथवा अर्ध-संयुत तीनों प्रकार के होते हैं। गेहूं और मटर के कण केन्द्रीय और आलू के कण संयुत, अर्ध-संयुत और उत्केन्द्र होते हैं।

कोशा-भित्ति (CELL-WALL)

कोशा-काय का आधार कोशा भित्ति ही होती है जो उसकी रक्षा करती एवं उसके आकार को बनाये रखती है। समस्त उद्भिज्ज-शरीर का पंजर केवल कोशा-भित्तियों से बना होता है जो उसे दृढ़ता एवं बल देता है। नव-निर्मित कोशाओं की भित्ति पहले बहुत पतली और मृदु होती है और कैल्शियम पेक्टेट

(एक चूर्णतु योग) की बनी होती है। इसे **आदि-भित्ति** (Middle lamella) कहते हैं। कोशा-वृद्धि के साथ पहले भित्ति का तल-विस्तरण होता है और फिर अन्त में उसका स्थौल्य-वर्धन होता है। तल-विस्तरण से भित्ति का क्षेत्रफल बढ़ता है। प्रसनिर्मित कणों का आदि-भित्ति के कणों के बीच २ अन्तर्वेश होने से भित्ति-तल फैलता है। इस प्रकार की वृद्धि को **अधिवृद्धि** (Growth by intussusception) कहते हैं। यदि यह वृद्धि सार्वदैशिक (Uniform) होती है तो कोशा के आकार में परिवर्तन नहीं होता। परन्तु जब केवल प्रादेशिक (Localised) वृद्धि होती है तो भिन्न २ आकार प्रकार की कोशाओं की उत्पत्ति होती है। केवल दो विपरीत दिशाओं में वृद्धि होने से कोशायें बहुत लम्बी हो जाती हैं और यदि चारों ओर केवल नियत स्थलों पर वृद्धि होती है तो उसका रूप तारकाकार (Stellate) हो जाता है। सार्वदैशिक वृद्धि में भी समीप की कोशाओं के बाधक हो जाने से बहुभुजाकार कोशायें बनती हैं।

तल-विस्तरण के साथ २ प्रायः भित्ति की स्थूलता भी कुछ न कुछ बढ़ती रहती है। आदि-भित्ति के ऊपर पहले पेक्टीन और कोशाधु के कण आकर जमा होने लगते हैं और फिर, शुद्ध कोशाधु के स्तर बनते हैं। इस प्रकार की वृद्धि को **उपरि-वृद्धि** (Growth by apposition) कहते हैं। ज्यों २ भित्ति की स्थूलता बढ़ती है उसमें तल-विस्तरण की क्षमता कम होती जाती है और कुछ समय के बाद उसका तल-विस्तरण बन्द हो जाता है। परन्तु इस समय भी भित्ति में इतनी प्रत्यास्थता होती है कि आवश्यकता पड़ने पर उसका विस्तारण और संकोचन हो सकता है।

कोशा-भित्ति की रसायनिक प्रकृतिः—जब आदि-भित्ति के ऊपर केवल कोशाधु-स्तर बनते हैं तो स्थूल भित्ति के भौतिक एवं रसायनिक गुणों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। कोशाधु मृदु, प्रत्यास्थ, पारदर्श और जलबेध्य होता है। यह प्रांगोदीय पदार्थ होता है। बहुत से बीजों में कोशाधु खाद्य-संचिति के रूप में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। कोशाधु-भित्ति प्रायः अधिक स्थूल नहीं होती। उद्भिज-शरीर के मृदुल भागों में कोशाधु-भित्ति ही होती है। भित्ति की स्थूलता प्रायः अन्य कई पदार्थों के कारण बढ़ती है जो भित्ति में व्याप्त होकर भित्ति का रसायनिक परिवर्तन भी कर देते हैं। इनमें **लगुड़ि** (Lignin) **त्वचा-भित्तिक** (Suberin), **उच्चर्मक** (Cutin), **निर्यासोद** (Mus-

cilage), **सिक्थ** (Wax) तथा **सैकजा** (Silica) आदि कुछ खनिज पदार्थ होते हैं।

लगुड़ि-व्यापन (Lignification) :—लगुड़ि एक संकर पदार्थ है जिसमें कई रसायनिक पदार्थों का मिश्रण होता है। यह कोशाधु भित्ति में पूर्णतः व्याप्त होकर उसे बहुत कठोर बना देती है। काष्ठीय ऊतिओं मे यह अधिक पाई जाती है। लगुड़ि-व्यापन के प्रारम्भ होते ही कोशा-प्ररस लुप्त होने लगता है। इसीलिये लगुड़ि-व्याप्त ऊतिओं की कोशायें प्रायः निर्जीव होती हैं। यह अत्यन्त कठोर होने पर भी जल-वेध्य होती है। उद्भिज-शरीर की कठोरता अधिकतर इसी पदार्थ के कारण होती है। ऊर्ध्ववाहिनिओं तथा सूत्रों में प्रायः लगुड़ि-व्याप्त भित्तियाँ होती हैं।

उच्चर्मक-व्यापन (Cutinization) :—उच्चर्मक सिक्थ सदृश एक पदार्थ होता है जो प्रायः अधिस्तर के ऊपर एक स्तर बना लेता है। इस स्तर को **उचर्म** (Cuticle) कहते हैं। यह जलावेध्य होता है और काण्ड तथा पत्र-पृष्ठ से उद्वाष्पन (Evaporation) नहीं होने देता। इसीलिये प्रायः प्रकाश-प्रेमी और शुष्कोद्भिजों में इसका अधिक विकास हुआ रहता है। उचर्म के ऊपर कहीं २ एक क्षोद-स्तर भी होता है जो सिक्थ का बना होता है।

त्वचा-भित्तिक-व्यापन (Suberisation) :—त्वक्षा-भित्तिओं में व्याप्त पदार्थ को **त्वचा भित्तिक** (Suberin) कहते हैं। यह एक वसा तुल्य पदार्थ है जो उच्चर्मक की तरह जलावेध्य होता है।

निर्यासोद-भित्ति (Mucilaginous wall) :—निर्यासोद ऐसा पदार्थ है जो शुष्क होने पर अत्यन्त कठोर और शृंगवत् होता है परन्तु जलानुविद्ध होने पर यह आश्लेष्मल (Slimy) हो जाता है और एक आलग (Viscid) पुंज बन जाता है। इसमें जल-शोषकता और जल-ग्राहकता की अजीब क्षमता होती है। इसलिये घृतकुमारी सदृश शुष्कोद्भिजों की पत्तिओं में यह विशेष रूपसे पाया जाता है। भिंडी के फल, जपा-पुष्प तथा कार्पास-कुल के अन्य उद्भिजों में निर्यासोद अधिक पाया जाता है। अतसी, इसबगोल तथा समुद्रशोष आदि के बीज-कवच में इसका आधिक्य होता है।

खनिज-व्यापन (Mineralisation) :—सैकजा, चूर्णातु प्रांगारीय और चुर्णातु तिग्मीय मुख्य खनिज पदार्थ हैं जो कहीं २ कोशा-भित्तिओं में पा

जाते हैं। गोधूम-कुल की पत्तिओं में अधिस्तर की भित्तिआँ सैकजा-व्याप्त होती है और इसीलिये वे कठोर होती हैं। चूर्णातु तिग्मीय के स्फट भी कहीं २ कोशा-भित्तिओं में पाये जाते हैं। कोशाश्माषाण नामक रचनाओं का, जो चूर्णातु-प्रांगारीय से बनती हैं, पहले ही वर्णन किया जा चुका है।

कोशा-भित्ति का स्थौल्य-वर्धन :—स्थौल्य-वर्धन भी प्रादेशिक अथवा सार्वदैशिक दोनों प्रकार का होता है। परन्तु प्रादेशिक स्थौल्य-वर्धन अधिक होता है। जब कभी स्थूलता में सार्वदैशिक वृद्धि होती है तो भित्ति के अन्तस्तल पर स्थौल्यवर्धक पदार्थ के स्तर बनते जाते हैं और भित्ति स्तरित (Stratified) हो जाती है। परन्तु इस विधि में भी अनेक बिन्दुओं पर भित्ति ज्यों की त्यों रह जा सकती है। ऐसी अवस्था में भित्ति में अनेक नालाकार गर्त (Pits) दिखाई देते हैं। दृढभित्तिक में ऐसी गर्तमय (Pitted) भित्तियाँ पाई जाती हैं।

प्रादेशिक स्थूलता-वृद्धि कई प्रकार की होती है। कहीं तो भित्ति के अन्तस्तल पर स्थूलता-वर्धक पदार्थ की अनेक वलयाकर (Annular) और कहीं कुन्तल-वलयाकार (Spiral) पट्टियाँ बन जाती हैं और कहीं कुन्तल-वलयाकार पट्टिओं की अधिकता से सम्पूर्ण अन्तस्तल पर एक जालिनी रचना बन जाता है। प्रादेशिक स्थौल्य की अन्तिम अवस्था सार्वदैशिक स्थौल्य के समान हो जाती है। सम्पूर्ण अन्तस्तल पर स्थौल्य-वर्धक पदार्थ जमा रहता है, केवल बीच २ में अनेक बिन्दुओं पर भित्ति ज्यों की त्यों रह जाती है। इन बिन्दुओं पर गर्त होते हैं। उपर्युक्त अवस्थाओं में स्थौल्य को क्रमशः **वलयक** (Annular) **कुन्तल-वलयक** (Spiral), **जालिकामय** (Reticulate) अथवा **गर्तमय** (Pitted) कहते हैं।

गर्त (Pits) :—प्रायः निर्जीव कोशाओं की स्थूल एकरूप भित्तिओं में छिद्र बने होते हैं जिन्हें गर्त कहते हैं। ये गर्त **नालाकार** (Simple) अथवा **गुम्बजाकार** (Bordered) होते हैं। मध्यभित्ति का जितना अंश गर्त के नीचे रहता है उसे **पिधान कला** (Closing membrane) कहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर यह कोशा-गह्वर में खुलनेवाले गर्त के मुँह को बन्द कर देता है। गुम्बजाकार गर्त में गर्तपिधान बड़ा और गर्त-मुख छोटा होता है इसलिये गर्तपिधान का जितना अंश गर्त-मुख को बन्द कर सकता है उतना कुछ मोटा होता है। इस

भाग को **गर्तपिधान** (Torus) कहते हैं। जब गर्त अपनी पूरी लम्बाई में एक ही चौड़ाई का होता है तो उसे **नालाकार** या **सामान्य** गर्त कहते हैं। दृढ़भित्तिकऊति में ऐसे ही गर्त पाये जाते हैं। परन्तु, जब गर्त का मुख बहुत छोटा और नीचे उसका उदर क्रमशः अधिक चौड़ा होता है तो सम्पूर्ण गर्त निवाप (Funnel) अथवा गुम्बज के आकार का मालूम होता है और उसे गुम्बजाकार कहते हैं। वाहिनीयुत अबीजोद्भिदों में गर्त अनुप्रस्थ दिशा में दीर्घित होते हैं जिससे आसन्न गर्तों के बीच में स्थौल्य-वर्धक पदार्थ की अनुप्रस्थ पट्टियाँ बनी होती हैं और भित्ति के अन्तस्तल पर ये पट्टियाँ सीढ़ी के डण्डों की तरह दिखाई देती हैं। ऐसे स्थौल्य को **अनुप्रस्थपट्टीक** (Scalariform) कहते हैं। नग्नबीज वनस्पतिओं में प्रायः बड़े और गोल मुखवाले गर्त अन्वर भित्तिओं पर पंक्तिवद्ध होकर रहते हैं। संवृतबीज वनस्पतिओं में महावाहिनिओं और लघुवाहिनिओं की भित्तिओं पर छोटे मुख वाले गुम्बजाकार गर्त पाये जाते हैं।

कोशा-विभाजन और कोशा-निर्माण

वनस्पतिओं की काय-वृद्धि प्रायः नवीन कोशाओं के कारण होती है जो सर्वदा उपस्थित कोशाओं के विभाजन से उत्पन्न होती हैं। मूल तथा काण्ड के वर्धनशील अग्रों पर उन मातृकोशाओं के स्तर होते हैं जिनका संवर्धन और विभाजन बराबर हुआ करता है। यह विभाजन कोई सामान्य खण्डीभाव की क्रिया नहीं वरन् इसे पूर्ण सांगज विभाजन कहना चाहिये। न्यष्टि के बिना कोई नवीन कोशा जीवित नहीं रह सकती, इसलिये मातृ-न्यष्टि का विभाजन भी आवश्यक होता है। कोशा-विभाजन के लक्षण सबसे पहले न्यष्टि में ही प्रगट होते हैं। न्यष्टि-विभाजन के बाद कोशा-काय का विभाजन होता है। सामान्य काय-कोशा के न्यष्टि-भाजन को **सूत्रिभाजन** (Karyokinetic अथवा Mitotic division) कहते हैं। इसमें न्यष्टि के अन्दर उसके अवयवों में अनेक शृङ्खलाबद्ध परिवर्तन होते हैं जिनका वर्णन नीचे किया गया है।

सूत्रिभाजनः—इस विधि में मातृ-न्यष्टि को दो संतति-न्यष्टिओं में विभक्त होने के लिए चार अवस्थाओं में जाना पड़ता है जिन्हें क्रमशः (१) **भाजनपूर्वा** (Prophase), (२) **भाजना** (Metaphase), (३) **भाजनोत्तरा** (Anaphase) और (४) **भाजनान्तिमा** (Telophase) की अवस्थायें कहते हैं। भाजनपूर्वा अवस्था के प्रारम्भ में न्यष्टि की अभिवर्णि-जालिका का

सूत्र स्पष्ट और स्थूल होकर कई खण्डों में टूट जाता है। इन खण्डों को **पितृसूत्र** (Chromosome) कहते हैं। प्रत्येक जाति के पितृ-सूत्रों की संख्या निश्चित होती है और प्रत्येक पितृ-सूत्र के अपने २ आकार भी निश्चित होते हैं। पितृ-सूत्र प्रगट होने के कुछ समय बाद धीरे २ अपने २ आकार में आ जाते हैं। प्रत्येक पितृ-सूत्र दो खण्डों के बने हुए मालूम होते हैं। इनके दोनों खण्ड परस्पर लिपटे हुए रहते हैं। इसी बीच में न्यष्टि-कला और न्यष्टिका का लोप हो जाता है और कोशा के दो विपरीत सिरों के बीच अनेक मृदु तन्तुक बन जाते हैं। ये तन्तुक दोनों सिरों की ओर अभिसरण करते हुए और मध्य की ओर अपसरण करते हुए पाये जाते हैं जिससे उनके द्वारा महाद्रोणी (Barrel) जैसी रचना तैयार हो जाते हैं। इन तन्तुओं में कुछ ऐसे होते हैं जिनसे पितृ-सूत्र अपने किसी एक स्थल पर जुड़े हुये प्रतीत होते हैं। अब भाजना अवस्था प्रारम्भ होती है। प्रत्येक पितृ-सूत्र के दोनों खण्ड क्रमशः पृथक् होने लगते हैं और साथ ही पितृ-सूत्र कोशा के विषुवत् समतल में आकर स्थान ले लेते हैं। इस समय तक प्रत्येक सूत्र का दो सर्वथा समान संतति पितृ-सूत्रों में विभाजन भी पूर्ण हो जाता है। यहाँ भाजना अवस्था का अन्त और भाजनोत्तरा अवस्था का प्रारम्भ होता है। अब ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक सूत्र के दोनों खण्ड विपरीत सिरों के तन्तुकों से बँधे हुए हैं और इन तन्तुकों के संकोचन से विपरीत सिरों की ओर जा रहे हैं। दोनों सिरों पर इन खण्डों के पहुँच जाने पर भाजनान्तिमा अवस्था प्रारम्भ होती है। प्रत्येक सिरे के खण्ड-सूत्र परस्पर मिलकर क्रमशः फिर पहले जैसी अभिवर्णि-जालिक बना लेते हैं। न्यष्टि-कला, न्यष्टि-रस तथा न्यष्टिका फिर प्रगट हो जाती हैं और दोनों सिरों पर दो संतति-न्यष्टियाँ बन जाती हैं। संतति न्यष्टियों के संघटन के साथ २ कोशा-काय के विषुवत् प्रदेश में धीरे २ एक मृदु कला प्रगट हो जाती है जिससे कोशा-काय के भी दो विभाग हो जाते हैं। यहाँ जो आदि-भित्ति तैयार होती है वह सम्भवतः दो स्तरों की होती है। दोनों नवीन कोशाओं की नवीन भित्तियाँ इन्हीं स्तरों से बनती हैं। जिस समय आदिभित्ति का निर्माण होता रहता है उस समय बाहर की ओर और अधिक तन्तुक बन जाते हैं और महाद्रोणी कोशा-भित्ति को मध्य में स्पर्श करने लगती है। जबतक पूर्ण विभाजन समाप्त होता है तबतक मातृ-कोशा का परिमाण प्रायः इतना अधिक बढ़ जाता है

कि दोनों नवीन कोशायें मातृ-कोशा के बराबर होती हैं। प्रविभाजि कोशाओं में बड़ी तीव्र गति से प्ररस-निर्माण होता है इसलिये मातृ-कोशाओं से दो मातृ-समान कोशाओं की उत्पत्ति सम्भव होती है।

प्रह्रास-भाजन (Reduction division अथवा Meiosis):—यह न्यष्टि विभाजन की दूसरी विधि है। ऊपर बतलाया गया है कि प्रत्येक जाति में पितृ-सूत्रों की संख्या निश्चित होती है। हम यह भी जानते हैं कि लैंगिक प्रजनन में निषेचन के समय पुं-जन्यु और स्त्री-जन्यु के एकीभाव से संतति के आदि-काय कोशा की उत्पत्ति होती है इसलिये इसमें पितृ-सूत्रों की संख्या द्विगुण हो जाती है। यही द्विगुण संख्या जाति विशेष की निश्चित संख्या मानी जाती है। अब, यदि संतति के जीवन काल में फिर निषेचन होने के पूर्व इन पितृ-सूत्रों की संख्या किसी तरह घट कर आधी न हो जाय तो इस बार के निषेचन से उनकी संख्या द्विगुण के स्थान में चतुर्गुण हो जायगी। इसलिये प्रत्येक पीढ़ी में यह संख्या एक-सी बनी रहे यह आवश्यक है कि दोनों जन्युओं की न्यष्टियों में यह संख्या आधी कर दी जाय। न्यष्टि-भाजन की जिस विधि से यह कार्य होता है उसे प्रह्रास-भाजन या अर्धसूत्रणा कहते हैं। परागकण और गर्भ-कोश की उत्पत्ति जिन मातृ-कोशाओं से होती है वे दो २ वार विभक्त होती हैं। उनमें प्रथम विभाजन वस्तुतः प्रह्रास-भाजन और द्वितीय विभाजन सामान्य सूत्रि-भाजन होता है।

यहाँ हमें इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि मातृ-कोशाओं की द्विगुण न्यष्टिओं में आधे पितृ-सूत्र पितृ-पक्ष के और आधे मातृ-पक्ष के होते हैं। पितृ-पक्षीय सूत्र जितने और जिस २ आकृति के होते हैं उतने ही और उन्हीं २ आकृतिओं के मातृ-पक्षीय सूत्र भी होते हैं। सामान्य सूत्रि-भाजन में प्रत्येक पितृ-सूत्र का चाहे वह मातृ-पक्षीय हो या पितृ-पक्षीय, दो सर्वथा समान खण्डों में विभाजन होता है परन्तु यहाँ सूत्रों का विभाजन नहीं होता और पूरे सूत्र संतति-न्यष्टिओं में पहुंचते हैं। पहले समान आकृति वाले दो २ सूत्रों के जोड़े बनते हैं। प्रत्येक जोड़े के दोनों सूत्र परस्पर लिपट कर एक या कई स्थलों पर परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। प्रत्येक सूत्र-युग्म के प्रत्येक सूत्र का अन्वायाम विभाजन भी प्रारम्भ हो जाता है। इनके खण्ड तो पृथक् नहीं होते परन्तु प्रत्येक युग्म के दोनों सूत्र क्रमशः पृथक् हो जाते हैं और दो विपरीत सिरों पर

क्रमशः चले जाते हैं। बीच की आद्य भित्ति नहीं बनी रहती तभी दोनों सिरों पर सामान्य सूत्रि-भाजन प्रारम्भ हो जाता है और प्रत्येक पितृ-सूत्र के दोनों अन्वायाम खण्ड अब एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। इस तरह मातृ-कोशा के अन्दर पितृ-सूत्रों के चार समुदाय हो जाते हैं और प्रत्येक से एक २ संतति-न्यष्टि तैयार होती है। प्रत्येक न्यष्टि थोड़े २ प्रर्स से और प्रर्सनिर्मित एक कोशा-भित्ति से घिर जाती है। परागाशय में प्रत्येक संतति-कोशा से एक परागकण बनता है परन्तु बीजीभव में तीन नष्ट हो जाती हैं और केवल एक रह जाती है जिसे गर्भ-कोश कहते हैं। परागकण की न्यष्टि के दो बार विभक्त होने से पुं-जन्तुओं की और गर्भ-कोष की न्यष्टि के चार बार विभक्त होने से स्त्री-जन्तु की उत्पत्ति होती है। प्रहास-भाजन के पश्चात् हर बार सामान्य न्यष्टि-भाजन होता है जिससे हर बार अर्धन्यष्टिओं की ही उत्पत्ति होती है। निषेचन के समय दो जन्तुओं की दो अर्ध-न्यष्टिओं के मिलने से संतति की आद्य काय-कोशा में फिर सामान्य पूर्ण-न्यष्टि का संघटन हो जाता है। यहाँ एक बात का स्मरण रखना चाहिये कि प्रहास-भाजन के समय कभी २ किसी सूत्र-युग्म के दोनों सूत्रों में खण्ड-विनिमय हो जाता है। पित्रागत गुणों के संक्रामण में इसका विशेष महत्व होता है जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

न्यष्टि-विखण्डन (Amitosis) :—निम्नकोटि के उद्भिज्जों में कहीं २ न्यष्टि का सरल रीति से विभाजन होता है। इस विधि में न्यष्टि का उसके दो विपरीत स्थलों पर उपसंकोच प्रारम्भ होता है और वह धीरे २ प्रायः दो समान खण्डों में विभक्त हो जाती है। न्यष्टि-भाजन के बाद कभी कोशा-विभाजन भी हो जाता है और कभी न्यष्टि के अनेक बार विभक्त हो जाने पर ही कोशा-निर्माण होता है।

कोशा-निर्माण :—नई कोशाओं की उत्पत्ति अधिकतर उपस्थित कोशाओं के विभाजन से होती है। सामान्य काय-कोशाओं की उत्पत्ति का वर्णन पहले किया जा चुका है। इस विधि में न्यष्टि की भाजनान्तिमा अवस्था में एक **कोशा पट्ट** (Cell-plate) बनकर कोशा-काय को दो भागों में विभक्त कर देता है। यहाँ प्रत्येक न्यष्टि-भाजन के बाद कोशा-काय का भी विभाजन हो जाता है। कोशा-निर्माण की दूसरी विधि यह है कि पहले न्यष्टि का अनेक बार विभाजन होता है और मातृ-कोशा के भीतर अनेक संतति-न्यष्टियाँ तैयार हो जाती हैं। फिर,

प्रत्येक न्यष्टि कुछ प्ररस से घिर जाती है और प्ररस एक कोशा-भित्ति बना लेता है। इस तरह एक साथ अनेक कोशायें तैयार हो जाती हैं। इस विधि में भी कभी तो नवीन कोशायें परस्पर सम्बद्ध रहती हैं—जैसे भ्रूणपोष के विकास में—और कभी मातृ-कोशा के अन्दर अनेक स्वतंत्र कोशायें बन जाती हैं—जैसी गर्भ-कोष के अन्दर अण्ड-साधित्र और तटस्थत्रयी की कोशायें होती हैं। कभी २ मातृ-कोशा के अन्दर अनेक संतति-न्यष्टिओं की उत्पत्ति तो हो जाती है परन्तु कोशायें नहीं बनतीं। न्यष्टियाँ प्ररस में इतस्ततः बिखरी रहती हैं। यहाँ मातृ-कोशा को **बहु-न्यष्टि कोशा** (Coenocyte) कहते हैं। आक्षीर-कोशायें इसी प्रकार की होती हैं।

प्रकिण्व प्रजाति के एक-कोशा क्षुद्र उद्भिज्जों में तीसरे प्रकार से नई कोशाओं की उत्पत्ति होती है जिसे **बहिरुद्भेदन** (Budding) की विधि कहते हैं। इसमें मातृ-कोशा के एक स्थल पर एक बहिरुद्भेद निकलता है जिसके मूल में उपसंकोच होने लगता है और वह क्रमशः मातृ-कोशा से पृथक् हो जाता है।

कोशा-निर्माण की उपर्युक्त विधिओं में एक से अनेक कोशाओं की उत्पत्ति होती है परन्तु दो ऐसी विधियाँ भी हैं जिनमें एक से एक ही कोशा अथवा दो कोशाओं के मिलने से एक कोशा की उत्पत्ति होती है। निम्नकोटि के उद्भिज्जों में लैंगिक प्रजनन के लिये दो सर्वथा समान जन्युओं के मिलने से सन्तति की आद्य काय-कोशा की उत्पत्ति होती है और उच्चश्रेणी के उद्भिज्जों में दोनों जन्यु-स्त्रीजन्यु और पुं-जन्यु-परिमाण आदि में भिन्न होते हैं। पहली विधि को **संयुग्मन** (Conjugation) और दूसरी विधि को **निषेचन** (Fertilization) कहते हैं। क्षुद्र कोटि के उद्भिज्जों में कहीं २ वयस्क और शिथिल हो जाने पर कोशाओं का प्ररस भित्ति से पृथक् होकर बीच में संघनित हो जाता है और फिर मातृ-कोशाओं की भित्ति को फाड़कर बाहर निकल आता है। इस प्रकार जो नवीन कोशायें बनती हैं उनमें अधिक स्फूर्ति और चञ्चलता आ जाती है। इसे **काया-कल्प** (Rejuvescence) की विधि कह सकते हैं।

परिच्छेद ९

ऊति (Tissue) और ऊति-संहत (Tissue-systems)

ऊति ऐसे कोशा-समुदाय को कहते हैं जिसकी संघटक कोशायें उत्पत्ति, विस्तार-वृद्धि तथा विकास में समान होने के कारण एक ही आकार-प्रकार की होती हैं और एक ही कार्य भी करती हैं। विभिन्न ऊतियों की कोशायें उत्पन्न होने पर एक ही तरह की होती हैं (नवनिर्मित कोशा का वर्णन पहले किया जा चुका है) परन्तु ज्यों २ वे प्रौढ़ होती है उनमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। भिन्न २ प्रकार के परिवर्तनों से भिन्न २ प्रकार की प्रौढ़ कोशायें तैयार होती हैं। प्रायः भिन्न २ प्रदेशों के कोशा-समुदायों में भिन्न २ प्रकार के परिवर्तन होते हैं और प्रत्येक कोशा-समुदाय का संघटक कोशायें एक ही प्रकार के परिवर्तनों से समान आकार-प्रकार की हो जाते हैं। कोशाओं को प्रौढ़ बनाने वाले परिवर्तन पाँच प्रकार के होते हैं—(१) कोशाभित्ति का तल-विस्तरण, (२) भित्ति का स्थौल्य-वर्धन, (३) भित्ति का रासायनिक परिवर्तन, (४) कोशा-काय के निर्जीव और सजीव पदार्थों में परिवर्तन तथा (५) कोशा तथा कोशा-भित्ति का लोपन (विघटन) और विपाटन। इनमें प्रथम चार प्रकार के परिवर्तनों की चर्चा पीछे की जा चुकी है। पाँचवें प्रकार के परिवर्तनों से अन्तराकोश अवकाश, कूप, प्रणालियाँ तथा नाल बनते हैं जो विभिन्न प्रकार की ऊतियों के निर्माण में भाग लेते हैं। उनकी उत्पत्ति का वर्णन नीचे किया जाता है।

बहुत से पौधों में काण्ड पोले हो जाते हैं क्योंकि काण्ड के भीतर मज्जक की कोशाओं का विघटन होकर कोशा-भित्तिओं और कोशा-काय का लोप हो जाता है। कहीं २ कई स्तर क कोशायें एक साथ विघटित हो जाती हैं और लम्बी प्रणालियां बन जाया करती हैं। दारु की महावाहिनियाँ और आक्षीर-जाल की वाहिनिओं की उत्पत्ति में कोशास्तरों की केवल अवसान-भित्तियाँ विघटित होती हैं परन्तु उनकी अन्वायाम भित्तियां ज्यों की त्यों बनी रह जाती हैं। किसी २ कोशा-समुदाय के भीतर एक स्थल पर कई कोशायें विघटित हो जाती हैं और वहां छोटे या बड़े कूप बन जाते हैं। प्रणाली, वाहिनी तथा कूपों की ऐसी उत्पत्ति को **लोपनज** (Lysigenous) कहते हैं। नीबू-प्रजाति की

पत्तिओं में जो स्नेह-कूप होते हैं वे भी लोपनज होते हैं। कूप तथा प्रणालिओं की उत्पत्ति दूसरी तरह से भी होती है। कई ऊतिओं में कोशाओं के बीच २ में अन्तराकोश अवकाश होते हैं। प्रविभाजि-ऊतिओं में ये अवकाश नहीं रहते परन्तु कोशाओं के प्रौढ़ होने पर आसन्न कोशाओं की भित्तियाँ कम से कम कोणों पर कुछ न कुछ पृथक् हो जाती हैं और अन्तराकोश अवकाश बन जाते हैं। इनमें वायु या जल भरा रहता है और ये परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। कहीं २ दो आसन्न कोशा-पंक्तियाँ एक दूसरे से पृथक् हो जाती हैं और उनके बीच में लम्बी प्रणालियाँ बन जाती हैं। इसी तरह छोटे या बड़े कूप भी बने हुये रहते हैं। इन कूपों या प्रणालिओं को **विपाटनज** (Schizogenous) कहते हैं। सरल-वृक्ष की उद्वास-प्रणालियाँ तथा गर्जर-कुल के फलों के स्नेह-कूप इसी तरह बनते हैं।

ऊतियों के भेदः—ऊतियों को पहले दो समुदायों में विभक्त करते हैं-(१) **प्रविभाजि-ऊति** और (२) **प्रौढ़** या **स्थायी ऊति**। प्रविभाजि-ऊतिओं की कोशायें विभाजन करती रहती हैं अथवा उनमें सामान्यतः विभक्त होने की क्षमता होती है। ये वर्धन-शील प्रदेशों में रहती हैं। प्रौढ़ ऊतिओं की कोशायें प्रविभाजि-ऊति से उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के रचनात्मक परिवर्तनों के बाद क्रमशः एक स्थायी आकार की हो जाती हैं और किसी एक विशेष कार्य में लग जाती हैं। फिर, उनमें रचना या कार्य-सम्बन्धी किसी परिवर्तन की सम्भावना नहीं रहती।

प्रविभाजि-ऊति (Meristematic Tissues):—प्रविभाजि-कोशाओं का वर्णन किया जा चुका है। आन्तर रचना में ये सब एक तरह की होती हैं परन्तु आकार में स्थिति के अनुसार कुछ अन्तर हो सकता है। प्रविभाजि-कोशायें प्रायः घनाकार, पतली भित्ति की और प्ररस-पूर्ण होती हैं। इनकी न्यष्टि बड़ी होती है और अन्तराकोश अवकाश नहीं होते। स्थिति के अनुसार यह-(१) **अग्र्य** (Apical) और (२) **माध्यमिक** (Intercalary)-दो प्रकार की होती हैं। अग्र्य प्रविभाजी (Meristem) काण्ड और मूल के अग्रों पर होते हैं और उनकी अन्वायाम वृद्धि कराते हैं। प्रौढ़ ऊतियों के बीच में रहने वाले या उत्पन्न होने वाले प्रविभाजी माध्यमिक कहे जाते हैं—जैसे काण्ड की एधा। उत्पत्ति के अनुसार भी प्रविभाजी-(१) **आद्य** (Primary) (२) **द्वितीय** (Secon-

dary)-दो प्रकार के होते हैं। जिस प्रविभाजी की कोशाओं में प्रारम्भ से ही विभाजन की क्षमता रहती है और लगातार अथवा निश्चित समयों पर बार २ विभक्त होकर वे कोशा-नवनिर्माण का एकमात्र कार्य करती हैं उन्हें आद्य प्रविभाजी कहते हैं। जब किसी प्रौढ़ ऊति की कोशायें आवश्यकता पड़ने पर अपने नियत कार्य को छोड़कर विभाजन द्वारा कोशा-निर्माण करने लग जाती हैं तो उन्हें द्वितीय प्रविभाजी कहते हैं। मूल और काण्ड की सामान्य परिणाहिक वृद्धि के समय अथवा क्षतादि के पूरण के लिये इसकी उत्पत्ति होती है।

प्रौढ़ ऊतियाँ (Permanent Tissues):—प्रौढ़ ऊतिओं में भी-(१) **आद्य-प्रौढ़** और (२) **द्वितीय-प्रौढ़**-दो प्रकार की ऊतियाँ होतीं हैं। अग्र्य प्रविभाजी से आद्य-प्रौढ़ और माध्यमिक प्रविभाजी से द्वितीय-प्रौढ़ ऊतिओं की उत्पत्ति होती है। संघटक अवयवों के अनुसार भी प्रौढ़ऊतियाँ-(१) **सरल** (Simple) और (२) **संयुक्त या संकर** (Complex)-दो प्रकार की होती हैं। जिन ऊतिओं की कोशायें समान आकार-प्रकार की होती हैं उन्हें **सरलोति** और जिसमें भिन्न २ आकार-प्रकार के अवयव सम्मिलित रूप से किसी एक प्रधान कार्य का सम्पादन करते हैं उसे **संकरोति** कहते हैं। तनुभित्तिक तथा स्थूलकोण सरल ऊतियों के और अधोवाही और ऊर्ध्ववाही संकर ऊतिओं के उदाहरण हैं।

प्रौढ़ ऊतिओं का वर्गीकरण संघटक कोशाओं की भित्ति, कोशा-काय तथा कार्य आदि के आधार पर किया जाता है। उद्भिज-शरीर की विभिन्न ऊतिओं का वर्णन नीचे दिया जाता है:—

(१) **तनुभित्तिक** (Parenchyma):—उद्भिज-शरीर के मृदुल प्रदेश इस ऊति से बने होते हैं। इसकी कोशायें पतली भित्ति की, प्ररसयुक्त और सजीव होती हैं। कोशा-भित्ति कोशाधु की होती है और इसमें अन्तराकोश अवकाश होते हैं। कोशायें गोली, अण्डाकार, बहुभुजाकार, संक्षेत्राकार, तारारूप अथवा न्यूनाधिक दीर्घित होती हैं। अधिकतर ये एकव्यासी (Isodiametric) होती हैं। प्रादेशिक स्थिति के अनुसार इनकी आकृति तथा कार्यों में कुछ भिन्नता देखने में आती है। अधिकतर इसके द्वारा पोषण सम्बन्धी कार्य सम्पन्न होते हैं। पर्ण-शाद युक्त तनुभित्तिक को प्रायः **पर्ण-शादी**(Chlorenchyma) कहते हैं। खाद्य पदार्थों का निर्माण तथा पोषक पदार्थों का संवाहन

और संचय इस ऊति के मुख्य कार्य हैं। कोशाओं की आशूनता (Turgidity) के कारण इस ऊति से शरीर को कुछ बल भी मिलता है। कुछ वृक्षों के मज्जक-प्रदेश में तनुभित्तिक की कुछ कोशायें निर्जीव और उनकी भित्तियाँ लगुडि-व्याप्त हो जाती हैं। अधोवाही और ऊर्ध्ववाही की संकर ऊतिओं में तनुभित्तिक भी प्रायः पाया जाता है।

(२) **स्थूल-कोण** (Collenchyma):—इसकी कोशायें किंचित् दीर्घित और स्थूल भित्ति की होती हैं। कोणों पर अर्थात् अन्तराकोश अवकाशों के सामने भित्तियां सबसे अधिक स्थूल होती हैं। स्पर्श समतल की भित्तियाँ भी औरों की अपेक्षा अधिक स्थूल होती हैं। कोशायें सजीव और प्रायः शाद युक्त होती हैं। जिन भागों में स्थूल-कोण होता है उन्हें इससे प्रत्यास्थता (Elasticity) और आतन्यता-बल (Tensile strength) मिलता है। दीर्घभावी और वर्धनशील भागों में तनुभित्तिक का आधिक्य होता है अतः इन भागों में आशूनता के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं जो इनको धारण कर सके। इसी लिये इन भागों में वाह्यक (Cortex) के कुछ अंश का स्थूल-कोण में परिवर्तन हुआ रहता है और इसी लिये शाकीय अंगों के अधिचर्म के ठीक नीचे यह अधिकतर पाया जाता है। इसके सन्तत स्तर अथवा एकलित पूल होते हैं। पारिणाहिक स्थिति में होने के कारण आन्तरवृद्धि होने पर इस पर अधिक ज़ोर पड़ता है। अतः इसकी कोशाओं में विस्तार्यता भी होनी चाहिये। सजीव और कोशाणु भित्ति की होने के कारण इसकी कोशायें अपना विस्तार भी कर सकती हैं।

(३) **दृढ़भित्तिक** (Sclerenchyma):—जैसे वर्धमान भागों को स्थूलकोण से बल मिलता है उस तरह प्रौढ़ भागों को दृढ़भित्तिक से बल मिलता है। उद्भिज-शरीर को धारण करने वाली बलदायिनी ऊतिओं में दारु की वाहिनिओं के अतिरिक्त यही ऊति प्रधान है। इसमें दो प्रकार के अवयव होते हैं। एक को **दृढ़भित्तिक-तन्तु** (Sclerenchymatous fibre) और दूसरे को **दृढ़भित्तिक-कोशा** या **अश्म-कोशा** (Stone cells) कहते हैं। तन्तु लम्बे, पतले और स्थूल एवं लगुडि-व्याप्त भित्तिओं की प्रायः निर्जीव कोशाओं से बने होते हैं जो बीच में मोटी और दोनों सिरों पर तीक्ष्ण (नोकीली) होती हैं। तन्तुओं के अग्र अन्य तन्तुओं के बीच में अन्तर्विष्ट रहते हैं। इसमें अन्तराकोश अवकाश बिल्कुल नहीं होते। कोशाओं का अनुप्रस्थ छेद प्रायः गोल या

बहुभुज होता है। भित्तिओं के अतिस्थूल हो जाने से कोशा-गह्वर प्रायः निःशेष हो गया रहता है। भित्तिओं का स्थौल्यवर्धक पदार्थ प्रायः लगुड़ि होता है पर कहीं २ शुद्ध कोशाधु या कोशाधुमिश्रित लगुड़ि होता है। भित्तियाँ स्तरित होती हैं और उनमें सामान्य परन्तु तिर्यक् गर्त होते हैं जो मध्यभित्ति की ओर अधिक चौड़े और कोशा-गह्वर की ओर क्रमशः संकुचित रहते हैं। आसन्न सूत्रों के गर्त आमने सामने परन्तु विपरीत दिशाओं में विस्तृत रहने के कारण कर्तरा-गर्त (Cross pits) कहे जाते हैं। तन्तु एकलित, पूलबद्ध या सन्तत स्तरों में पाये जाते हैं। विभिन्न अङ्गों में दृढ़भित्तिक की स्थिति उन अंगों पर पड़ने वाले प्रत्यावल (Stress) और आयास (Strain) के अनुसार होती है। भिन्न २ पौधों में सूत्रों की लम्बाई में बहुत भिन्नता होती है। माध्यमतः वे १ से ३ सहस्र-मान लम्बे होते हैं परन्तु दो सौ सहस्रमानों से भी अधिक लम्बे सूत्र कहीं २ पाये जाते हैं। सन, पटुआ, रामबाँस, अतसी, मूर्वा, पाट तथा नारियल आदि के सूत्र व्यवहारोपयोगी होते हैं।

अश्म-कोशायें अधिकतर गोली और एकव्यासी होतीं हैं पर कभी २ वे किंचित् दीर्घित या रम्भाकार भी हो सकती हैं। ये एकलित, समूहबद्ध या स्तरबद्ध होकर पाई जाती हैं। काण्ड और मूल के वाह्यक और अधोवाही प्रदेशों में या फलों और बीजों के कवच आदि कठोर भागों ये अधिक होती हैं। भित्तियाँ अत्यधिक स्थूल और लगुड़ि से व्याप्त रहती हैं। इनके गर्त सामान्य और सशाख होते हैं। मध्य भित्ति पर गर्तों की संख्या अधिक मालूम होती है परन्तु भित्ति ज्यों २ स्थूल होती जाती है कोशा-गह्वर की ओर आने वाले गर्त परस्पर मिलते जाते हैं और इसीलिये वे सशाख मालूम पड़ते हैं।

(४) **दारु या ऊर्ध्ववाही** (Xylem) :—इसमें मुख्यतः दो प्रकार के अवयव होते हैं। एक को **लघुवाहिनी** (Tracheid) और दूसरे को **महा-वाहिनी** (Vessel) कहते हैं। वाहिनियों की भित्तियाँ लगुड़ि-व्यापन से स्थूल हो गई रहती हैं और इनके अन्दर प्ररस नहीं रहता। इनके अन्तस्तल का द्वैतीयक स्थौल्य हुआ रहता है जो वलयक, कुन्तल-वलयक, जालिका-सम, गर्त-मय अथवा अनुप्रस्थ-पट्टीक हो सकता है। उपर्युक्त अवस्थाओं में वाहिनिओं को क्रमशः वलयित, कुन्तल-वलयित, जालिकामय, गर्तमय अथवा अनुप्रस्थपट्टीक कहते हैं। वाहिनिओं के साथ २ प्रायः दृढ़भित्तिक सूत्र भी पाये जाते हैं इसलिये

अनुप्रस्थ छेद में तीनों को अलग २ पहचानना कठिन होता है। अन्वायाम छेद से उनकी प्रकृति का पता चल जाता है। सूत्रों के गर्त सामान्य (नालाकार), उनके अन्तराल कम चौड़े और वे दोनों सिरों पर पतले तथा नोकीले होते हैं। वाहिनिओं के गर्त गुम्बजाकार और अन्तराल चौड़े रहते हैं। लघुवाहिनियाँ एक-कोशा होती हैं और उनका अग्र चौड़ा, तनुविस्तारी अथवा टंक (Chizel) के सदृश होता है। महावाहिनियाँ कोशा-पंक्तिओं से बनती हैं जब कोशाओं की अवसान भित्तियाँ विघटित होकर लुप्त हो जाती हैं। वाहिनीयुत अबीजोद्भिदों तथा नग्नबीजों में केवल लघुवाहिनियाँ पाई जाती हैं और संवृतबीजों में महा-वाहिनिओं का प्राधान्य होता है। महावाहिनिओं के साथ २ विशेषतः द्वि-बीज-पत्रों के आनन्तर्य दारु में लघुवाहिनियाँ भी पाई जाती हैं।

लगुड़ि-व्यापन के कारण भित्तिओं के स्थूल होने से यह प्रौढ़ अंगों के लिये बलदायक होता है परन्तु इसका मुख्य कार्य क्षार मिश्रित जल का मूल से पत्र तक संवाहन करना है। लघुवाहिनिओं द्वारा जल का प्रसारण (Diffusion) और महावाहिनिओं द्वारा इसका द्रुत संवाहन होता है। महावाहिनियाँ वृक्षों के हृत्काष्ठ में प्रायः अकर्मण्य हो जाती हैं और उनके अन्तराल अनेक प्रकार के वहिःस्रुत द्रव्यों से भर जाते हैं।

दारु-प्रदेश में वाहिनिओं के साथ प्रायः तनुभित्तिक और सूत्र भी पाये जाते हैं जिन्हें क्रमशः **दारु-तनुभित्तिक** (Xylem parenchyma) और **दारु-सूत्र** (Xylem fibres) कहते हैं। काष्ठीय द्वि-बीजपत्रों में कर्तरा-गर्तों वाले सामान्य तन्तु अधिक होते हैं। कहीं २ पटीक सूत्र (Septate fibres) भी होते हैं जिनमें कोशाधु की अनेक पतली और अनुप्रस्थ पटियाँ होती हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसी रचनायें भी पाई जाती हैं जिन्हें लघुवाहिनी और दारु-सूत्र के बीच की माध्यमिक रचनायें कह सकते हैं। दारु-तनुभित्तिक अधिक-तर द्विबीजपत्रों में पाया जाता है। इसकी कोशायें किंचित् दीर्घित और सजीव होती हैं और उदग्र पंक्तिओं में स्थित रहती हैं। आनन्तर्य दारु के तनुभित्तिक की कोशा-भित्तियाँ प्रायः स्थूल, लगुड़ि-व्याप्त और गर्तमय होती हैं। गर्त सामान्य प्रकार के होते हैं। इन कोशाओं में प्रायः मण्ड का संचय होता है।

(५) **अधो-वाही** (Phloem):—इसमें चालनी-नाल (Sieve tube), सखि-कोशा (Companion cell), अधोवाही तनुभित्तिक (Phloem pa-

renchyma) और कभी २ अधोवाही तंतु (Phloem fibres) भी होते हैं। अधोवाही की मुख्य वाहिनिओं को चालनी-नाल कहते हैं। संवृत-बीजों में इनका पूर्ण विकास हुआ रहता है। इन्हें अधो-महावाहिनी भी कह सकते हैं। दीर्घीभूत, सजीव और पतली भिति की कोशायें, जो परस्पर अग्राभिमुखी स्थिति में पंक्तिबद्ध रहती हैं, चालनी नाल का निर्माण करती हैं। इनकी अन्वायाम भित्तियाँ पतली परन्तु अनुप्रस्थ भित्तियाँ स्थूल होती हैं और कोशाधु की बनी होती हैं। प्रस भित्तियों के किनारे रहता है परन्तु न्यष्टि उसमें नहीं होती। अवसान भित्तियाँ प्रायः अनुप्रस्थ और कभी २ तिर्यक् और ऊर्ध्वमुख होती हैं। इनमें अनेक गर्त होते हैं जो आर-पार रहते हैं। सम्बन्धक प्रस-सूत्र इन्हीं गर्तों से होकर आसन्न कोशाओं को मिलाते हैं। अवसान भित्तियाँ गर्तों के कारण चलनी की तरह छिदी हुई रहती हैं और इन्हें **चालनी-पट्ट** (Sieve plate) कहते हैं। तिर्यक् और ऊर्ध्वमुख भित्तिओं में गर्तों के प्रादेशिक समूह बने होते हैं अतः इन्हें **संयुत चालनी-पट्ट** (Compound plate) कहते हैं। किसी २ ऋतु में चालनी पट्ट के ऊपर दोनों ओर कैलस (Callus) नामक पदार्थ के स्तर बन जाते हैं और गर्त बन्द हो जाते हैं। कभी २ जब दूसरे ऋतु में पुनर्वृद्धि प्रारम्भ होती है तो कैलस का विलयन हो जाता है और चालनी-नाल फिर अपना कार्य करने लगते हैं। परन्तु अधिक पुराने होने पर चालनी-नाल प्रायः सर्वदा के लिये बेकार हो जाते हैं और तब नवीन चालनी-नालों से काम चलता है। चालनी-नालों के अन्तराल में प्रांगोदीय, श्वितिमान तथा अप्रांगारिक पदार्थों से युक्त कोशा-रस पाया जाता है। कभी २ प्रायः वाहिनीयुत अबीजोद्भिदों तथा नग्नबीजों में चालनी-पट्ट अन्वायाम भित्तिओं पर पाये जाते हैं। संवृतबीज वनस्पतिओं में दीर्घीभूत, सजीव और पतली दीवाल की कोशायें इन चालनी-नालों से सम्बद्ध रहती हैं, इनके अन्दर प्रोभूजिनों का आधिक्य होता है और प्रायः दीर्घित न्यष्टि भी होती है। इन्हें सखि-कोशा कहते हैं। अधोवाहिनी ऊति के द्वारा सिद्ध खाद्य पदार्थों का विभिन्न भागों में परिवहन होता है।

(६) **आक्षीर-वाही** (Laticiferous tissue) :—कई कुलों और प्रजातिओं की वनस्पतिओं में नियमित रूप से आक्षीर-वाही पाया जाता है। इसमें प्रायः दुग्ध सदृश श्वेत द्रव रहता है जिसे **आक्षीर** (Latex) कहते हैं। यह कभी २ वर्णहीन (केला) या पीला (स्वर्णक्षीरी) भी होता है। आक्षीर में

निर्यास (Gums), उद्गास (Resins), वसा तथा सिक्थ आदि अनेक प्रकार के वहिःस्रुत द्रव्य (Excreted matter) विलयन या स्थगन (Suspension) के रूप में पाये जाते हैं। इसीलिये इसे हम सामान्यतः उत्सर्गाशय मानते हैं। इसके अन्दर कभी २ मण्ड और प्रोभूजिन के कण भी पाये जाते हैं और वहाँ यह इनके परिवहन और संचय का साधन भी हो सकता है। रवर, गटापार्चा, अफीम तथा हिंगु आदि उपयोगी द्रव्य आक्षीर से ही बनते हैं।

आक्षीर-वाही में प्रायः दो प्रकार के अवयव होते हैं। एक को **आक्षीर-जाल** (Vessels) और दूसरे को **आक्षीर--नाल** (Tube) कहते हैं। दोनों की भित्तियाँ प्रायः पतली अथवा किञ्चित् स्थूल और कोशाधु की होती हैं। भित्तिओं के किनारे प्ररस और उसमें न्यष्टियाँ होती हैं। तनुभित्तिक कोशाओं के बीच २ में इनका विकास होता है। आक्षीर-जाल में क्षीर-वाहिनियाँ होती हैं जो अपनी शाखाओं द्वारा परस्पर संग्रथित रहती हैं। अधोवाहिनिओं की तरह अनुप्रस्थ भित्तिओं के विघटन से आक्षीरवाहिनिओं का भी निर्माण होता है। परन्तु यहाँ विभिन्न दिशाओं की कोशा-पंक्तिओं से बनी हुई वाहिनियाँ परस्पर मिली रहती हैं। आक्षीर-नालों की उत्पत्ति एक २ कोशाओं से होती है जो वहुत लम्बी और सशाख होती हैं परन्तु इनकी शाखायें परस्पर मिली नहीं रहतीं। ये कोशायें बहु-न्यष्टि होती हैं। स्नुही प्रजाति, अर्क तथा कनेर में आक्षीर-नाल और पोस्त, स्वर्णक्षीरी तथा दुग्धफेनी में आक्षीर-जाल पाया जाता है।

(७) **रस-स्रावी** (Glandular tissue):—यह उन कोशा या कोशा-समूहों का होता है जिन्हें **ग्रंथि** (Gland) कहते हैं। ग्रंथियाँ एक-कोशा या बहु-कोशा दोनों प्रकार की होती हैं। इनके द्वारा कुछ त्याज्य द्रव्यों का वहिःस्रवण (Excretion) और कुछ उपयोगी द्रव्यों का अन्तःस्रवण (Secretion) होता है। कुछ ग्रंथियाँ शरीर के भीतर और कुछ अधिचर्म से बाह्य-वृद्धि के रूप में शरीर के ऊपर निकली रहती हैं। निर्यास, निर्यासोद्गास, उद्गास, उत्पत तैल, जल, टैनिन, अल्कलायड, मधु तथा विकर आदि मुख्य पदार्थ हैं जिनका इन ग्रंथिओं के द्वारा स्रवण होता है। बहु-कोशा ग्रंथियाँ कहीं सान्द्र होती हैं और कहीं उनके अन्दर कूप या प्रणाली होती है। कूप और प्रणालियाँ विपाटनज या लोपनज दोनों प्रकार की हो सकती हैं। ग्रंथिओं की

कोशायें पतली भित्ति, प्रचुर प्ररस और बड़ी न्यष्टिओं से सम्पन्न होती हैं। बाह्य-ग्रंथिओं में मधु-स्रावि, जल-स्रावि (Hydathodes), श्लेष-स्रावि (चित्रक या पुनर्नवा में), विकर-स्रावि (कीटभुज पौधों में) तथा विष-स्रावि (विच्छू बूटी में) ग्रंथियाँ होती हैं। इनमें कुछ रोम के रूप में होती हैं और उन्हें **ग्रंथि-रोम** (Glandular hairs) कहते हैं। आभ्यन्तर ग्रंथिओं में एकलित ग्रंथि-कोशायें भी पाई जाती हैं और कूप तथा प्रणालिओं से सम्पन्न बहु-कोशा ग्रंथियाँ भी होती हैं। ग्रंथिकूप विपाटनज और लोपनज दोनों प्रकार के होते हैं। विपाटनज कूप के किनारे का कोशा-स्तर अधिच्छदीय (Epithelial) होता है। कहीं २ ग्रन्थि पहले सान्द्र होती है परन्तु जब उसकी कोशायें स्रुत पदार्थ से परिपूर्ण हो जाती हैं तो उनका विघटन होकर कूप बन जाता है और स्रुत पदार्थ उसी कूप में भर जाता है।

(८) **अन्य-ऊतियाँ:**—पौधों में कुछ ऐसी ऊतियाँ भी होती हैं जिन्हें तनुभित्तिक का प्रकारान्तर कह सकते हैं। इनकी विशेषता मुख्यतः इनकी भित्तिओं में होती है जो उच्चर्मक अथवा त्वक्षा-सित्तिक नामक विशेष पदार्थों से व्याप्त होती हैं। इन्हें **अधिचर्म—ऊति** (Epidermal tissue) और **त्वक्षा-ऊति** (Cork tissue) कहते हैं जिनका वर्णन आगे किया गया है।

ऊति-संहत (Tissue Systems):—विभिन्न प्रकार की उपर्युक्त ऊतिओं का प्रायः कार्य-बंटन के आधार पर समूही-करण हुआ रहता है। प्रधान कार्य के अनुसार ऊतियों के जो समूह पाये जाते हैं उन्हें ऊति-संहत कहते हैं। किसी ऊति-संहत की ऊतियाँ उत्पत्ति की दृष्टि से भी प्रायः समान होती हैं। पूर्णोपचितांग और बीजोद्भिदों में तीन ऊति-संहत पाये जाते हैं जिन्हें-(१) **अधिचर्म ऊति-संहत** (Epidermal tissue system), (२) **मौलिक-ऊति-संहत** (Ground tissue system) और (३) **वाहिनी ऊति-संहत** (Vascular tissue system) कहते हैं। इन तीनों ऊति-संहतों को उत्पन्न करने वाले आद्य प्रविभाजी के भी तीन भाग होते हैं जिन्हें **ऊति-जन** (Histogens) कहते हैं। काण्ड के वर्धनशील अग्र के मध्य-अन्वायाम छेद की परीक्षा करने पर तीनों ऊतिजनों के प्रायः तीन पृथक् २ प्रदेश देखे जाते हैं जिन्हें **अधिचर्मजन** (Dermatogen), **वाह्यकजन** (Periblem) और **रम्भजन** (Plerome) कहते हैं। मूल में इन तीनों के ऊपर एक अतिरिक्त

ऊति-जन होता है जिसे **मूलाग्र-गोपजन** (Calyptrogen) कहते हैं। अ
चर्मजन काण्ड के वर्धनशील अग्र का वाह्यतम कोशास्तर होता है। इस
कोशाओं का केवल अन्वर विभाजन होता है जिससे इससे निर्मित अधिचर्म केवल
एक कोशास्तर का होता है। वाह्यकजन और रम्भजन दोनों बहुत कम
में भिन्न मालूम होते हैं। बहुत से पौधों में अग्र के कुछ नीचे दोनों भाग अ
होते हैं। वाह्यकजन अधिचर्मजन के ठीक नीचे होता है। अग्र पर यह भी ए
ही स्तर का होता है परन्तु नीचे इसके कई स्तर होते हैं। सब के बीच में रम्भ-
जन होता है जिससे काण्ड और मूल का **मध्यरम्भ** (Stele) तैयार होता है।
वर्धनशील अग्र के कुछ नीके रम्भजन में कुछ ऐसे कोशा समुदाय अलग
जाते हैं जिनकी कोशाओं में दीर्घ होने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इन्हें पू
वाहिनीपूल (Procambial strands) कहते हैं। ये धीरे धीरे वाहि
पूलों में वदल जाते हैं। अधिचर्म-संहत का संरक्षण, वाहिनी-ऊतिसंहत का
पदार्थों का संवाहन और मौलिक ऊतिसंहत का मुख्य कार्य चयापचय सम्ब
होता है।

परिच्छेद १०

विभिन्न अङ्गों की आन्तर रचना

द्वि-बीजपत्र काण्डः—द्वि-बीजपत्र काण्ड की आद्य रचना का साम
परिचय सूर्यमुखी काण्ड के अनुप्रस्थ एवं अन्वायाम छेदों की आण्वीक्ष-परी
से प्राप्त किया जा सकता है। वर्धनशील अग्र की मौलिक आन्तर रचना
सभी काण्ड समान होते हैं। उनके जातीय भेद प्रौढ़ ऊतिओं के निर्माण के
प्रगट होते हैं। सूर्यमुखी में वर्धनशील अग्र के लगभग दो इञ्च नीचे
आद्य ऊतियाँ प्रौढ़ अवस्था में पाई जाती हैं। इसमें वाह्यतम कोशास्तर अधि
(Epidermis) का होता है जिसकी कोशायें सजीव, नियमित
आयत के आकार की होती हैं और अन्तराकोश अवकाश नहीं होते। इन
वाह्य भित्तिओं में उच्चर्मक होता है और अधिचर्म के ऊपर एक पतला उच्चर्मक
स्तर भी होता है। जहाँ तहाँ अधिचर्म से बहु-कोशा रोम निकले रहते हैं अ
इस पर श्वसन-रन्ध्र पाये जाते हैं। अधिचर्म के भीतर वाह्यक (Cortex

खण्ड के कई स्तर होते हैं जिसके अन्दर सजीव कोशाओं के कई बाह्यतम स्तर स्थूल-कोण ऊति के रहते हैं। भीतर की ओर अन्तराकोश अवकाश क्रमशः अधिक बड़े हो जाते हैं और भित्तियाँ पतली होती जाती हैं। इस प्रकार भीतर की ओर वाह्यक में तनुभित्तिक के कई स्तर रहते हैं। इसकी कोशायें अधिकतर गोल या अण्डाकार होती हैं। स्थूलकोण और तनुभित्तिक दोनों की कोशाओं में शादि-घटन एवं अस्थिर मण्डकण पाये जाते हैं। बाह्यक के अन्तरतम स्तर को **अन्तःस्तर** या **मण्ड-कञ्चुक** (Endodermis या Starch sheath)कहते हैं। इसकी कोशायें अन्वायोजी (Closely fitting) और प्रायः महाद्रोणी (Barrel) के आकार की होती हैं। इनमें संचिति-मण्ड के कण पाये जाते हैं। वाह्यक के भीतर जहाँ तहाँ विपाटनज ग्रन्थि-प्रणालियाँ भी होती हैं जिनके अन्तस्तल पर अधिच्छदीय (Epithelial) कोशा-स्तर होता है।

अन्तःस्तर के भीतर मध्यरम्भ होता है जिसमें **रम्भवेष्ट** (Pericycle), कई **तन्तुयुत वाहिनी पूल** (Fibro-vascular bundle), **मज्जक-किरण** (Medullary ray) और **मज्जक** (Pith) नामक प्रदेश होते हैं। रम्भवेष्ट दृढ़भित्तिक के खण्डों का बना होता है जो प्रत्येक वाहिनी पूल से बाहर की ओर इस प्रकार मिले रहते हैं कि उनके ही अङ्ग प्रतीत होते हैं। इन खण्डों को **दृढ़ अधोवाही** (Hard bast) भी कहते हैं। इनमें दृढ़भित्तिक सूत्र होते हैं। वाहिनीपूलों के बीच में प्रायः अन्बर दीर्घित और सजीव तनुभित्तिक कोशाओं के कई स्तर होते हैं जो मज्जक और वाह्यक का सम्बन्ध कराते हैं। इन स्तरों से बने हुये दो पूलों के बीच के भाग को **मज्जक-किरण** कहते हैं। रम्भ का मध्य भाग एक समांग तनुभित्तिक ऊति से बना होता है जिसकी कोशायें प्रायः गोल या बहुसुज होती है। इस भाग को **मज्जक** कहते हैं। मज्जक के चारों ओर एक चक्र में कई तन्तुमय वाहिनीपूल होते हैं जिनसे बाहर की ओर रम्भवेष्ट के खण्ड मिले रहते हैं।

प्रत्येक वाहिनीपूल में रम्भवेष्ट के अतिरिक्त सबसे बाहर की ओर अधोवाही, सबसे भीतर ऊर्ध्ववाही और दोनों के मध्य में **एधा** (Cambium) होती है। अधोवाही में चालनी-नाल, सखि-कोशा और अधोवाही तनुभित्तिक होते हैं। अधोवाही का पूर्वनिर्मित भाग जिसे **पूर्वाधोवाही** (Protophloem)

कहते हैं, बाहर की ओर होता है। अधोवाही के अन्तरतम भाग में तनुभित्ति होता है जिसे **युजतनुभित्तिक** (Conjunctive tissue) कहते हैं। ऊर्ध्ववाही प्रदेश में सबसे भीतर **पूर्वोर्ध्ववाही** (Protoxylem) होता जिसमें सर्वप्रथम बनी हुई वलयित और कुन्तल-वलयित वाहिनियाँ होती हैं बाहर की ओर चौड़ी गर्तमय महावाहिनिओं का बना हुआ **पश्चोर्ध्ववा**(Metaxylem) होता है। इन महावाहिनिओं के बीच २ में दारु-सूत्र औ लघुवाहिनियाँ (Trachieds) पाई जाती हैं। पूर्वोर्ध्ववाही के समीप प्रा भीतर की ओर दारु-तनुभित्तिक की कोशायें होती हैं।

अन्य द्विबीजपत्रकाण्डः—अन्य द्विबीजपत्र पौधों के काण्डों की अं योजना में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। उनमें केवल कुछ जातीय विशेषत हो सकती हैं। भिन्न २ ऊतिओं की मात्रा में विभिन्नता हो सकती है पर उन स्थिति में प्रायः कोई अन्तर नहीं होता। परन्तु स्थूलकोण और दृढ़भित्तिक वितरण में अक्सर अन्तर देखा जाता है। अधिचर्म के ऊपर उच्चर्म का अधि विकास प्रायः प्रकाशप्रेमी और शुष्कोद्भिदों में हुआ रहता है। उच्चर्म के अति रिक्त उसके ऊपर कहीं २ क्षौद-स्तर भी पाया जाता है। ये सब व्यवस्थायें उत्स्वे दन कम करने के लिये होती हैं। केवल जलमग्न तथा कुछ छायाप्रेमी पौधों अधिचर्म में शादि-घटन हो सकते हैं अन्यथा वे केवल रक्षक-कोशाओं में नियमित रूप से पाये जाते हैं। काण्ड-पृष्ठ पर अनेक प्रकार की वाह्य वृद्धि पाई जाती हैं जिनमें तरह २ के रोम तथा मृदु कंटक हो सकते हैं। कहीं २ स्वर में अधिचर्म कई कोशा-स्तरों का होता है।

नवीन हरित-काण्डों में वाह्यक के अन्दर शादि-घटन होते हैं। स्थूलको के अतिरिक्त वाह्यक के अन्दर कहीं २ दृढ़भित्तिक सूत्रों या कोशाओं के खण्ड चक्र हो सकते हैं। अन्तःस्तर सर्वदा स्पष्ट नहीं होता और रम्भवेष्ट एक या अधि कोशा-स्तरों का होता है। इसकी कोशायें तनुभित्तिक, दृढ़भित्तिक अथवा दो प्रकार की हो सकती हैं। कहीं २ दृढ़भित्तिक का पूरा चक्र पाया जाता है मज्जककिरण की कोशायें प्रायः सर्वदा अन्तर-दीर्घित रहती हैं और उन भित्तियाँ पतली होती हैं। इन किरणों में पोषण द्रव्यों के वाह्यक और मज्जक के बीच आने जाने के मार्ग होते हैं और इनमें खाद्य-पदार्थों का संचय भी होता है

वाहिनीपूल के चक्र कहीं एक से अधिक भी हो सकते हैं। कूष्माण्ड त

पिप्पली प्रजातिओं में दो और अहिफेन तथा ममीरी में दो से अधिक चक्र रहते हैं। वाहिनीपूल सर्वत्र वर्ध्य (Open), संयुक्त (Conjoint) और सपार्श्वस्थ (Collateral) होते हैं। परन्तु कहीं २-जैसे कूष्माण्ड तथा कण्टकारी-कुलों में-द्वि-सपार्श्वस्थ (Bi-collateral) पूल होते हैं। यहाँ ऊर्ध्ववाही के दोनों ओर एधा-स्तर और अधोवाही रहते हैं। ऊर्ध्व महावाहिनियाँ प्रायः अन्वर पंक्तिओं में होती हैं। कहीं २ स्पष्ट रूप से ये पंक्तिबद्ध नहीं मालूम होतीं। वाहिनी पूलों के अवयवों का भिन्नन सर्वदा अन्तर्मुख होता है।

द्वितीय वृद्धि (Secondary growth):—उद्भिज्ज-शरीर जब परिमाण में बहुत बढ़ जाता है तो उसके लिये अधिक बलदायक और संवाहक अवयवों की आवश्यकता होती है। इसी लिये द्वितीय वृद्धि होती है। यह एधा की सहायता से होती है और इससे शरीर अधिक स्थूल हो जाता है। अल्पायु और शाकीय द्वि-बीजपत्रों में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती परन्तु बहु-वर्षायु गुल्मों और वृक्षों में ऐसी वृद्धि हुआ करती है। वृद्धि प्रारम्भ होने में सबसे पहले एधा का पूर्णचक्र तैयार होता है। प्रत्येक वाहिनीपूल के बीच में जो अन्त-पूलैधा-(Fascicular Cambium) के खण्ड होते हैं उनके बीच में मज्जक किरणों की कोशायें वर्धनशील हो जाती हैं और एधा का पूर्ण चक्र तैयार हो जाता है। इसकी कोशायें बार २ विभक्त होती हैं। हर बार प्रत्येक कोशा से जो दो संतति-कोशायें उत्पन्न होती हैं उनमें एक स्वयं अथवा उसकी संतति-कोशायें प्रौढ़ ऊति के निर्माण में भाग लेती हैं और दूसरी वर्धनशील बनी रहती है। प्रौढ़ ऊति कभी बाहर की ओर और कभी भीतर की कोशाओं से बनती है। इस तरह एधा चक्र के भीतर आनन्तर्य उर्ध्ववाही और बाहर आनन्तर्य (Secondary) अधोवाही की पट्टियाँ बन कर क्रमशः चौड़ी होती जाती हैं। बहुत अधिक वृद्धि हो जाने पर आद्य अधोवाही और ऊर्ध्ववाही एक दूसरे से बहुत दूर हो जाते हैं और बाहर की ओर हटते २ तथा नवीन ऊतिओं के दबाव से अधोवाही के मृदु भित्ति वाले अवयव प्रायः लुप्त हो जाते हैं। केवल दृढ़ अधोवाही के खण्ड अब भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

चूंकि अन्तर्पूलैधा पहले से विद्यमान रहती है इसलिये जब तक मज्जक किरण की कोशायें एधा-चक्र को पूरा करती हैं तब तक अन्तर्पूलैधा से कुछ आनन्तर्य ऊतिओं का निर्माण हो चुका रहता है। ज्यों २ आनन्तर्य ऊर्ध्ववाही की वृद्धि

होती है एधा-चक्र में भी तल-विस्तरण आवश्यक हो जाता है। इसीलिये इसकी कोशायें बीच २ में अन्वर विभाजन और अपना स्पर्शसमतलीय विस्तरण भी करती रहती हैं। मण्ड-कञ्चुक प्रायः अस्पष्ट हो जाता है और वाह्यक की कोशाओं का स्पर्श समतल में अधिकाधिक विस्तरण होता जाता है। सबसे बाहर पड़ने के कारण अधिचर्म पर अत्यधिक ज़ोर पड़ता है अतः यह अन्ततः फट जाता है और इसका कार्यभार सम्भालने के लिये इस प्रदेश में भी आनन्तर्य ऊतिओं की आवश्यकता आ जाती है। चूंकि द्वितीय वृद्धि में आनन्तर्य अवयवों के सन्तत पट्ट तैयार होते हैं इसलिये चौड़े मज्जक-किरणों के लिये इनके अन्दर स्थान नहीं मिलता। परन्तु एधा-चक्र की कुछ कोशायें आनन्तर्य प्रदेश में भी कुछ पतली किरणों का निर्माण करती हैं। इनमें प्रारम्भ की बनी हुई किरणें आद्य किरणों से सम्बन्धित रहती हैं और बाद की किरणें स्वतंत्र रहती हैं जिन्हें अधिकतर आनन्तर्य मज्जक-किरण कहते हैं।

आनन्तर्य ऊर्ध्ववाही में महा-ऊर्ध्ववाहिनी, लघु-ऊर्ध्ववाहिनी, दारुसूत्र और दारु-तनुभित्तिक होते हैं। दारु-तनुभित्तिक में मण्ड-सञ्चय बहुत अधिक होता है। आनन्तर्य अधोवाही में केवल चालनी-नाल, सखि-कोशा और तनुभित्तिक होते हैं अथवा कहीं २ इसमें दृढ़भित्तिक भी बने होते हैं। तनुभित्तिक में प्रायः भूयाति के योग पाये जाते हैं और सम्भवतः उन्हीं का तात्कालिक सञ्चय इसमें होता है। मज्जक-किरण की कोशायें प्रायः अन्वर-दीर्घित होती हैं पर बाहर की ओर की कोशायें स्पर्श समतल में दीर्घित हो जा सकती हैं। मज्जक-किरण ऊंचाई में २ से १५ कोशाओं की और चौड़ाई में एक से कई कोशाओं की हो सकती हैं। दारु-तनुभित्तिक में जल तथा पोषण द्रव्य इन्हीं मार्गों से आते हैं।

वार्षिक चक्र (Annual rings):—शीतोष्ण कटिबन्ध के शीत प्रदेशों में एधा अधिकतर शीतकाल में अकर्मण्य हो जाती है और वसन्त में फिर कर्मण्य होकर विभाजन और ऊति-निर्माण करने लगती है। प्रारम्भ की बनी हुई ऊर्ध्ववाहिनियाँ अधिक चौड़ी और बाद की (शरद्काल की) कम चौड़ी और स्थूलभित्ति की होती हैं। प्रारम्भ और अन्त की वाहिनिओं में अन्तर होने के कारण प्रतिवर्ष के ऊर्ध्ववाही चक्र प्रायः स्पष्ट और पृथक् मालूम होते हैं और इन्हें वार्षिकचक्र कहते हैं। चूँकि अधिकतर प्रतिवर्ष एक ही चक्र बनता है इसलिये इन चक्रों से बृक्ष की आयु का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

परन्तु यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कहीं प्रतिवर्ष के चक्र एक से अधिक होते हैं, कहीं कई वर्षों में केवल एक चक्र बनता है और कहीं स्पष्ट चक्र बनते ही नहीं।

रसकाष्ठ और हृत्काष्ठः—पुराने वृक्षों के स्कन्ध तथा उनकी मोटी शाखाओं के काष्ठ में मध्यस्थ भाग प्रान्तस्थ भाग की अपेक्षा अधिक कठोर और गाढ़े रङ्ग का होता है। इसे **हृत्काष्ठ** (Duramen अथवा Heart wood) कहते हैं। इसकी महावाहिनियाँ अवरुद्ध हो गई रहती हैं। महावाहिनियों के आस-पास जो तनुभित्तिक कोशायें होती हैं उनसे बहिरुद्भेद निकल कर गर्तों से महावाहिनियों के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं और भीतर पहुँचकर फैल जाते हैं। कई ओर से कई प्रवर्धन भीतर आकर परस्पर मिल जाते हैं और भीतर के मार्ग को बन्द कर देते हैं। इसके पश्चात् तनुभित्तिक कोशायें और उनके प्रवर्धन जिन्हें **गुहारुध** (Tyloses) कहते हैं निर्जीव हो जाते हैं। फिर, काष्ठ के अवयव उद्दास, टैनिन तथा रंजक पदार्थों से भर जाते हैं जिनके कारण काष्ठ गाढ़े रङ्ग का, कठोर और चिर-स्थायी हो जाता है। पोषण-रस का संवाहन अब केवल प्रान्तीय काष्ठ के द्वारा होता है जिसे **रसकाष्ठ** (Alburnum अथवा Sap wood) कहते हैं। वृक्ष जितने ही पुराने होते हैं हृत्काष्ठ उनमें उतना ही मोटा होता है।

वाह्यक प्रदेश में द्वितीय वृद्धिः—भीतर द्वितीय वृद्धि होने के कारण जब अधिचर्म फट जाता है तो उसके स्थान में एक विशेष प्रकार की ऊति का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। इसके लिये काण्ड के प्रान्तीय भाग में प्रायः अधि-चर्म के नीचे एक द्वितीय एधा बन जाती है जिसे **त्वचैधा** (Cork camb-ium या Phellogen) कहते हैं। तनुभित्तिक अथवा स्थूलकोण की प्रौढ़ कोशायें स्पर्श समतल में दो समानान्तर नवीन भित्तिओं के द्वारा विभक्त होकर तीन २ संतति-कोशायें उत्पन्न करती हैं जिनमें बीच की कोशायें वर्धनशील होकर एधा चक्र का निर्माण करती हैं। एधा चक्र की बाहरी संतति-कोशाओं से त्वक्षा नामक नवीन ऊति का निर्माण होता है और भीतर की संतति-कोशायें कभी २ प्रौढ़ होकर **उपत्वचा** (Phelloderm) नामक ऊति को उत्पन्न करती हैं। त्वक्षा की कोशायें प्रायः आयताकार और अन्वर पंक्तिओं में रहती हैं। प्रौढ़ होते समय इनकी भित्तियाँ एक विशेष जलावेध्य पदार्थ से व्याप्त हो जाती हैं जिसे त्वक्षा-भित्तिक कहते हैं। अन्तराकोश अवकाश भी नहीं छूटने पाता और कोशायें निर्जीव हो जाती हैं। त्वक्षा-प्रदेश इन्हीं कारणों से निर्जीव और जला-

वेध्य होता है और इसके बाहर के भागों का वाहिनी-संहत से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है जो पोषण-रस आदि के न मिलने से सूख कर नष्ट हो जाते हैं। उप-त्वक्षा प्रायः बहुत कम या बिल्कुल नहीं बनती और जो कुछ थोड़ी-बहुत बनती भी है तो वह स्थूलकोणीय, तनुभित्तिकीय अथवा दृढ़भित्तिकीय हो सकती है। त्वक्षैधा और तन्निर्मित ऊतिओं को प्रायः **बाह्य वल्क** (Periderm) कहते हैं। त्वक्षैधा कुछ दिनों के बाद प्रायः अकर्मण्य हो जाती है और भीतर की ओर उसका दूसरा नवीन स्तर तैयार होता है। इस तरह कभी २ द्वितीय अधो-वाही के भीतर त्वक्षैधा के बनने की बारी आ सकती है। बाद के त्वक्षैधा-स्तर के कहीं पूरे चक्र बनते हैं और कहीं २ इसके खण्ड अलग २ और भिन्न २ गहराई पर बनते हैं परन्तु इस अवस्था में वे भी परस्पर सम्बन्धित हो जाते हैं। जब ऐसा होता है तो बाह्य वल्क छोटे २ टुकड़ों के रूप में छूटता है-जैसे अमरूद में। भोजपत्र में त्वक्षा के पतले स्तर छूटते हैं क्योंकि प्रायः ऋतुओं के वैषम्य का प्रभाव त्वक्षा निर्माण पर पड़ता है। किसी ऋतु में पतली भित्ति के और किसी में मोटी भित्ति के त्वक्षा स्तर बनते हैं जो अलग २ होकर छूटते हैं।

वल्क (Bark) :—इस नाम से एधा के बाहर का सम्पूर्ण भाग लिया जाता है इसलिये वल्क में अधोवाही से लेकर बाहर के सब भाग आ जाते हैं। चिकित्सा में छाल का उसी अर्थ में प्रयोग होता है। त्वक्षैधा निर्मित प्रायः शुष्क भाग को बाह्य वल्क या बाह्य त्वक और अधोवाही आदि सरस भाग को अन्तस्त्वक् (Inner bark) कहते हैं।

द्वितीय श्वसन-रन्ध्र (Lenticels): —त्वक्षा-तल एकरूप नहीं होता उस पर गोली या दीर्घित (अनुप्रस्थ या अन्वायाम) दरियाँ (Slits) होती हैं जिनके कण्ठ में चूर्णसदृश भूरा पदार्थ भरा हुआ मालूम होता है। इन दरियों को द्वितीय श्वसन-रन्ध्र कहते हैं। प्रायः श्वसन-रन्ध्रों के नीचे ये बनती हैं। श्वसन-रन्ध्रों के नीचे त्वक्षैधा से त्वक्षा न बनकर एक तरह की छिद्रिष्ठ-ऊति का निर्माण होता है जिसकी कोशायें गोली होती हैं और जिसमें अन्तराकोश अव-काश बहुत अधिक होते हैं। इनके द्वारा वातीय विनिमय सरलता से होता है और इसी अभिप्राय से इनकी उत्पत्ति होती है।

एक-बीजपत्र काण्ड

एक-बीजपत्र काण्ड की ऊति-योजना का सामान्य परिचय मक्का के का

की आन्तर रचना से कराया जा सकता है। इसमें भी एक कोशा-स्तर का अधिचर्म होता है जिसके ऊपर उच्चर्म का मोटा स्तर रहता है। श्वसन-रन्ध्र जहाँ तहाँ हो सकते हैं पर रोम नहीं होते। अधिचर्म के नीचे दो-तीन कोशा-स्तरों का दृढभित्तिक होता है जिसे अधश्चर्म (Hypodermis) कहते हैं। द्वि-बीजपत्र काण्ड की तरह यहाँ आधार-ऊतिओं के वाह्यक, मज्जक, रम्भवेष्ट तथा मज्जक-किरण के भिन्न २ प्रदेश पृथक् नहीं होते। यहां एक ही तरह की तनुभित्तिक आधार-ऊति अधश्चर्म से लेकर केन्द्र तक फैली रहती है। इसमें अन्तराकोश अवकाश भी होते हैं। वाहिनीपूल इस विस्तृत आधार भूमि में विना किसी निश्चित क्रम के बिखरे रहते हैं। ये सपार्श्वस्थ परन्तु अवर्ध्य (Closed) होते हैं क्योंकि इनके भीतर अन्तर्पूलैधा नहीं होती। प्रान्तीय वाहिनीपूल क्रमशः छोटे और एक दूसरे से अधिक निकट होते हैं। प्रत्येक वाहिनीपूल लगभग पूर्णतया दृढ़भित्तिक कंचुक से घिरा रहता है और उसकी बहिःरेखा अण्डाकार होती है। पश्चोर्ध्ववाही में दो बड़ी गर्तमय महावाहिनियाँ और उनके बीच में कई लघुवाहिनियाँ रहती हैं। केन्द्र की ओर प्रायः दो वलयित और कुन्तल-वलयित महावाहिनिओं का पूर्वोर्ध्ववाही होता है और इनसे मिली हुई तनुभित्तिक कोशायें भी होती हैं। लोपनज कूप भी यहीं होता है। लघुवाहिनिओं के सामने बाहर की ओर अधोवाही होता है जिसमें चालनी-नाल और सखि-कोशायें होती हैं पर अधोवाही तनुभित्तिक नहीं होता। पूर्वाधोवाही के अवयव प्रायः विघटित हो गये रहते हैं और वाह्यतम भाग में विघटित ऊति का अंश विद्यमान रहता है।

अन्य एक-बीजपत्र काण्डों में प्रायः दृढ़भित्तिक की स्थिति और वाहिनीपूलों के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता देखने में आती है। दृढ़भित्तिक कभी पृथक् २ पूलों में अधिचर्म के नीचे रहता है, कभी इसके बड़े २ खण्ड होते हैं जिनमें वाहिनी-पूल पड़े रहते हैं और कहीं प्रत्येक वाहिनीपूल के चारों ओर दृढ़भित्तिक कंचुक बना होता है। शतावरी में ऊर्ध्ववाही V के आकार का होता है जिसके दोनों बाजुओं पर महावाहिनियाँ और बाजुओं की सन्धि पर पूर्वोर्ध्ववाही के अवयव होते हैं। दोनों भुजाओं के बीच में ऊपर की ओर अधोवाही होता है। वच के अन्तर्भूमिशायी काण्ड में अधोवाही ऊर्ध्ववाही से पूर्णतः घिरा रहता है। कुछ तृणजातीय उद्भिज्जों में, जहां काण्ड नालाकार होता है, वाहिनीपूल मध्य गह्वर के चारों ओर सकेन्द्र चक्रों में क्रमबद्ध रहते हैं।

अधोवाही और ऊर्ध्ववाही के कुछ पूर्वनिर्मित अवयव प्रायः विघटित हो जाते हैं। पूर्वोर्ध्ववाही के अवयव वलयित और कुन्तल-वलयित होते हैं और जिस समय ये प्रौढ़ अवस्था में आ गये रहते हैं उस समय आसपास की कोशाओं का दीर्घण और विभाजन चलता रहता है जिससे उनके साथ इनका बहुत विस्तरण हो जाता है। इससे कभी २ इनकी अन्वायाम भित्तियाँ फट जाती हैं और इनके स्थान में कूप बन जाते हैं। एक-बीजपत्र काण्डों में ऐसा अधिक होता है। पूर्वाधोवाही के अवयव भी इसी तरह तल-विस्तरण करते हैं। इनका विस्तरण अधिकतर अन्वायाम और स्पर्श समतलों में होता है। इसलिये कभी स्पर्श समतल की दोनों भित्तियाँ परस्पर मिल जाती हैं और कोशायें अदृश्य हो जाती हैं।

द्वितीय वृद्धि :—एक-बीजपत्र उद्भिज प्रायः छोटे और अल्पायु होते हैं इसलिये अतिरिक्त ऊतिओं की इन्हें आवश्यकता नहीं होती। ताल-कुल में कुछ वृक्ष होते हैं परन्तु इनमें भी द्वितीय-वृद्धि नहीं होती। इनमें अग्र्य प्रविभाग बहुत स्थूल होता है और वाहिनीपूल पर्याप्त संख्या में पहले से ही इसमें उपस्थित रहते हैं। पलाण्डु-कुल में ड्सीना और यक्का की दो ऐसी प्रजातियाँ हैं जिनके वृक्ष होते हैं। इनमें विशेष रूप से द्वितीय वृद्धि होती है। वाह्यतम वाहिनीपूल के बाहर एक आनन्तर्य एधा का निर्माण होता है जिससे भीतर की ओर अलग २ द्वितीय वाहिनीपूल बनते हैं। इन पूलों में अधोवाही बीच में और लघुवाहिनिओं का ऊर्ध्ववाही बाहर की ओर रहता है। एधा के बाहर की ओर थोड़ी मात्रा में तनुभित्तिक अवयव भी बनते हैं। इन पौधों में वाह्य वल्क की भी उत्पत्ति होती है। अनेक पौधों में वाह्यक की कोशाओं में भित्तियाँ त्वक्षा-भित्ति से व्याप्त हो जाती हैं और वे अधिचर्म का स्थान ले लेती हैं।

वाहिनीपूलों का मार्गः-द्वि-बीजपत्र और एक-बीजपत्र काण्डों में वाहिनीपूलों के मार्ग भिन्न २ होते हैं इसीलिये उनके अनुप्रस्थ छेदों में उनके क्रम में अन्तर दिखाई देता है। द्वि-बीजपत्रों में वे पत्तिओं से आकर वाह्यक को तिर्यक् मार्ग से पार करते हैं और फिर अधिचर्म के समानान्तर नीचे की ओर बढ़ते हैं। एक-बीजपत्रों में वे पहले केन्द्र की ओर बढ़ते हैं और तिर्यक् मार्ग से बाहर की ओर आते हैं। किनारे की ओर आकर वे किसी अन्य पूल से मिल जाते हैं इसीलिये अनुप्रस्थ विच्छेद में विभिन्न पूल किनारे से भिन्न २ दूरी पर पा

जाते हैं। द्वि-बीजपत्रों में वे एक चक्र में अर्थात् बराबर दूरी पर होते हैं। कुछ तृणजातीय उद्भिजों में जहाँ पर्व पोले और दीर्घ होते हैं वाहिनीपूल प्रान्तस्थ और चक्रों में क्रमवद्ध मालूम होते हैं।

जो पूल पत्ती और काण्ड दोनों में फैले रहते हैं उन्हें **उभयगत पूल** (Common bundles) कहते हैं। कुछ पूल केवल काण्ड में ही रह जाते हैं। उन्हें **काण्ड गत** (Cauline) कहते हैं। कुछ काण्ड में प्रवेश करते ही किसी पूल से मिल जाते हैं और उन्हें **पत्रागतपूल** (Foliar bundles) कहते हैं। पूल अधिकतर नीचे की ग्रन्थियों पर आकर दूसरे पूलों से मिलते हैं। काण्ड से पत्ती में जाते समय पूल का जितना भाग वाह्यक से होकर जाता है उसे **पत्रगामी पूल** (Leaf trace) कहते हैं।

एक-बीजपत्र और द्वि-बीजपत्र काण्डों की रचना में भेदः—दोनों की आन्तर-रचना में निम्नलिखित मुख्य २ अन्तर होते हैंः—

(१) द्वि-बीजपत्र काण्ड में अधिचर्म के नीचे स्थूलकोण और दूसरे में दृढ़-भित्तिक होता है।

(२) द्वि-बीजपत्र में वाह्यक, रम्भवेष्ट, मज्जक और मज्जक-किरण के पृथक् २ प्रदेश होते हैं परन्तु एक-बीजपत्र में प्रायः सम्पूर्ण आधार-ऊतिसंहत एकरूप होता है।

(३) द्वि-बीजपत्र के वाहिनीपूल आकार (अनुप्रस्थ छेद का) में प्रायः **स्फानवत्** (Wedge-shaped), संख्या में कम, समान परिमाण के और प्रायः एक चक्र में रहते हैं। एक-बीजपत्रों में वे प्रायः अण्डाकार, संख्या में अधिक, चारों ओर बिखरे हुये और किनारे की ओर छोटे तथा मध्य की ओर बड़े होते हैं।

(४) द्वि-बीजपत्रों में वाहिनीपूल वर्ध्य होते हैं और इनमें द्वितीय वृद्धि नियमित रूप से होती है। परन्तु एक-बीजपत्रों में पूल अवर्ध्य होते हैं और द्वितीय वृद्धि कुछ अपवादों को छोड़ कर नियमित रूप से नहीं होती।

(५) द्वि-बीजपत्रों में अधोवाही तनुभित्तिक नियमित रूप से होता है परन्तु एक-बीजपत्र काण्ड में इसका अभाव होता है।

(६) एक-बीजपत्र काण्ड के पूल अलग २ दृढ़भित्तिक कंचुक में बन्द रहते हैं परन्तु द्वि-बीजपत्रों में ऐसे कंचुक नहीं होते।

क्षत-पूर्ति (Healing of wounds):—उद्भिज्ज-शरीर जब कहीं कट जाता है तो कटे हुये प्रत्यक्ष तल की सजीव कोशायें वर्धनशील हो जाती हैं और उनसे एक तनुभित्तिक कोशा-समुदाय बन कर क्षत को भर लेता है जिसे **कैलस** (Callus) कहते हैं। इसकी बाहरी कोशायें बाद में अपनी रक्षा के लिये त्वक्षा के भी एक या अधिक स्तर तैयार कर लेती हैं। जब घाव गहरा होता है और एधा भी कट जाती है तो पहले कैलस बनता है और कैसल में द्वितीय एधा तैयार होकर पहले एधाचक्र को पूरा कर देती है। क्षत-पूरण के लिये जिन नवीन ऊतिओं की उत्पत्ति होती है वे प्रायः निकट की ऊतिओं से भिन्न होती हैं और इसी लिये वहाँ गाँठ सी पड़ जाती है। इसलिये काष्ठीय वृक्षों में पहले जो शाखायें स्कन्ध से टूट कर अलग हो जाती हैं उनके निशान काष्ठ के भीतरी भाग में सर्वदा गाँठों के रूप में बने रहते हैं।

शाखाओं की उत्पत्तिः-नियमित पार्श्विक शाखाओं की उत्पत्ति वर्धनशील अग्र के पार्श्व में ऊति-जनों से होती है। वहाँ पहले अधिचर्म-जन और वाह्यक-जन का एक वहिरुद्भेद प्रगट होता है और कुछ समय के बाद वाह्यक-जन का मध्य भाग रम्भजन में परिवर्तित होकर काण्ड के रम्भजन से मिल जाता है। इसके बाद पत्तिओं के बहिरुद्भेद भी इससे निकल कर इसके वर्धनशील अग्र को ढक लेते हैं और सम्पूर्ण रचना पत्र-कलिका का रूप धारण कर लेती है जिसके विकास से शाखा की उत्पत्ति होती है।

मूल की आन्तर-रचना

यह बतलाया जा चुका है कि वर्धनशील अग्र पर काण्ड के तीनों ऊति-जनों के अतिरिक्त एक चौथा ऊतिजन होता है जिसे मूलाग्र-गोप-जन कहते हैं। यह कहीं तो (जैसे तृणों में) स्वतन्त्र कोशा-स्तर के रूप में उत्पन्न होता है और कहीं अधिचर्म-जन के साथ एक ही कोशा-स्तर से उत्पन्न होता है जिसका स्पर्श सम तल में विभाजन होने से उसकी उत्पत्ति होती है। दोनों अवस्थाओं में इस ऊति-जन से कोशायें उत्पन्न होकर अग्र की रक्षा करती हैं। सामने की ओर ये प्रायः छीजती रहती हैं और पीछे बन कर आगे की ओर बढ़ती जाती हैं। अधिचर्म-जन से **रोम-स्तर** (Piliferous layer) बनता है। रोमों के नष्ट हो जाने पर प्रायः रोम-स्तर भी नष्ट हो जाता है और उपचर्म से मूल को संरक्षण मिलता

है। कभी २ रोम-स्तर बना रह जाता है। वाह्यक-जन से वाह्यक का निर्माण होता है। रम्भजन से मध्यरम्भ बनता है जिसमें वाहिनीपूल और शेष भाग युज-तनुभित्तिक का होता है। वाहिनी-पूलजनों का पूर्णतः प्रौढ़ ऊतिओं में विकास होता है परन्तु वे एकान्वेक (Alternate) क्रम से ऊर्ध्ववाही और अधोवाही पूलों का अलग २ निर्माण करते हैं। पूलों में रचनाभिन्नन अन्तर्मुख होता है जिससे दोनों के पूर्वनिर्मित अंश बाहर की ओर रहते हैं।

एक-बीजपत्र और नवीन द्वि-बीजपत्र मूलों की रचनाः—दोनों की आन्तर-रचना में प्रायः बहुत सादृश्य होता है। बाह्यतम कोशास्तर की कोशायें पतली भित्तिओं की होती हैं और मूल-रोम प्रदेश में इससे मूल-रोम निकले रहते हैं जो इन कोशाओं के बहिरुद्भेद मात्र होते हैं। जल एवं खनिज विलयन का प्रचूषण इनका मुख्य कार्य होता है। इसके ऊपर उच्चर्म नहीं रहता। इस कोशा-स्तर को रोमस्तर कहते हैं। रोमस्तर के नष्ट हो जाने पर बाह्यतम कोशा-स्तर वाह्यक का सबसे बाहरी स्तर होता है। उत्पत्ति की इसी विषमता के कारण मूल के बाह्यतम कोशा-स्तर को–चाहे उसकी उत्पत्ति जैसे भी हुई हो–**वाह्यावरण** (Epiblema) कहते हैं। वाह्यक में प्रायः तनुभित्तिक कोशा-स्तर होते हैं जिनकी कोशायें गोली होती हैं और जिनके बीच २ में अन्तराकोश अवकाश होते हैं। रोमस्तर के नष्ट हो जाने पर वाह्यक के कई बाहरी स्तर उच्चर्मक से व्याप्त हो जाते हैं और संरक्षण का काम करते हैं। वाह्यक के इस भाग को **बहिःस्तर** (Exodermis) कहते हैं। अन्तःस्तर की अन्वायोजी कोशायें बहुत स्पष्ट और स्पर्श समतल में किंचित् दीर्घित होती हैं। इनकी अन्वर-भित्तिओं पर त्वक्षा-भित्तिक की पट्टी होती है। द्वि-बीजपत्र मूल के प्रौढ़ भाग में इनकी सभी भित्तियाँ प्रायः स्थूल हो जाती हैं। एक-बीजपत्र मूलों के प्रौढ़ भाग में इनकी भीतर की और पार्श्व की भित्तियाँ मोटी होकर U आकार की (अनु-प्रस्थ छेद में) हो जाती हैं। पूर्वोर्ध्ववाही के सामने की कोशाओं में भित्तियाँ स्थूल नहीं होतीं और उन्हें **मार्ग-कोशा** (Passage cells) कहते हैं। अन्वर भित्तिओं के बीच में अन्तराकोश अवकाश न होने से और अन्वर भित्तिओं की उच्चर्मक-व्याप्ति के कारण वाहिनी प्रदेश में वायु और जल का प्रवेश इन मार्गों से नहीं होने पाता केवल स्पर्श समतलीय भित्तिओं से जल का नियन्त्रित प्रवेश होने पाता है। रम्भवेष्ट प्रायः तनुभित्तिक और एक सजीव कोशा-स्तर का

होता है। कहीं २ पूर्वोर्ध्ववाही अन्तःस्तर से मिला रहता है और रम्भवेष्ट इन स्थानों पर खण्डित हो गया रहता है।

मध्यरम्भ में वाहिनीपूल न्यूनाधिक केन्द्रीभूत होते हैं और ऊर्ध्ववाही तारक-किरणों की तरह होता है। पूर्वोर्ध्ववाही अवयव तारक-किरणों के अग्र पर और पश्चोर्ध्ववाही अवयव केन्द्र की ओर रहते हैं। दो पूर्वोर्ध्ववाही किरणों के बीच में एक अधोवाही पूल रहता है। अधोवाही और ऊर्ध्ववाही पूलों के बीच २ में युज-तनुभित्तिक के खण्ड रहते हैं जो उन्हें एक दूसरे से पृथक् करते हैं। अधोवाही और ऊर्ध्ववाही दोनों प्रकार के पूल मूल में **बहिरारम्भ** (Exarch) कहे जाते हैं क्योंकि इनमें प्रौढ़ता बाहर की ओर से प्रारम्भ होती है। काण्ड में इसके विपरीत होता है अतः काण्ड-पूल **अन्तरारम्भ** (Endarch) कहे जाते हैं। अनेक पौधों में ऊर्ध्ववाही पूल मध्य में परस्पर मिले रहते हैं और मज्जक शेष नहीं रह जाता। जहाँ मज्जक छूटा रहता है वहाँ वह तनुभित्तिक अथवा दृढ़भित्तिक होता है।

द्वितीय वृद्धि :—केवल द्वि-बीजपत्रों के मूल द्वितीय वृद्धि करते हैं। एक-बीजपत्रों में यह वृद्धि सामान्यतः नहीं होती। पहले अधोवाही पूलों के सामने भीतर की ओर द्वितीय-एधा की पट्टियाँ तैयार होती हैं। ये पट्टियाँ क्रमशः ऊर्ध्व-वाही पूलों के बाहरी हिस्से की ओर बढ़ती जाती हैं और पूर्वोर्ध्ववाही के दोनों ओर रम्भवेष्ट तक पहुँच जाती हैं। अन्त में रम्भवेष्ट की कोशायें भी वर्धनशील होकर एक एधा-चक्र पूरा कर देती हैं। इस एधा-चक्र का जो भाग जितना ही केन्द्र के समीप होता है वह उतना ही पहले बन कर कोशा-नवनिर्माण में संलग्न हो जाता है इसलिये जो एधा-चक्र पहले तरंग सदृश टेढ़ा मेढ़ा रहता है वह शीघ्र गोल हो जाता है। काण्ड की तरह यहाँ भी भीतर की ओर आनन्तर्य ऊर्ध्ववाही और बाहर की ओर आनन्तर्य अधोवाही ऊतियों की उत्पत्ति होती है। केवल पूर्वोर्ध्ववाही खण्डों के सामने एधा से तनुभित्तिकीय मज्जक-किरणें बनती हैं। ये किरणें सम्पूर्ण आनन्तर्य वाहिनी-ऊतियों में फैली रहती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर छोटी किरणें भी बनी हुई पाई जाती हैं। यद्यपि दोनों प्रकार की किरणें आनन्तर्य होती हैं पर व्यवहार में पूर्वोर्ध्ववाही के सामने की बड़ी किरणों को आद्य या मुख्य और अन्य छोटी किरणों को आनन्तर्य किरणें कहते हैं। ऊर्ध्ववाही में वार्षिक चक्र काण्ड की तरह स्पष्ट नहीं होते। काण्ड की तरह

यहाँ भी आद्य अधोवाही बहुत बाहर की ओर हट जाने से प्रायः अस्पष्ट और न्यूनाधिक विघटित सा हो जाता है।

अधिक आनन्तर्य वृद्धि हो जाने के बाद रम्भवेष्ट के वर्धनशील हो जाने से त्वक्षैधा की उत्पत्ति हो जाती है। इससे बाहर की ओर त्वक्षा का और भीतर की ओर उपत्वक्षा का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। त्वक्षैधा मूल में सर्वदा आन्तर्जात होती है। त्वक्षैधा जितनी ही अधिक आन्तर्जात होती है उतनी ही अधिक मात्रा में उपत्वक्षा की उत्पत्ति होती है अतः मूलों में प्रायः उपत्वक्षा की भी पर्याप्त मात्रा में उत्पत्ति होती है।

एक-बीजपत्र मूल में द्वितीय वृद्धि :—कुछ एक-बीजपत्र मूल (जैसे—ड्रसीना, यक्का तथा वाराही) अपवाद रूप में द्वितीय वृद्धि करते हैं। यहाँ एधा की उत्पत्ति वाह्यक के अन्दर होती है और रोम-स्तर के ठीक नीचे प्रायः त्वक्षैधा भी बनती है और इन दोनों एधाओं से आनन्तर्य ऊतिओं की उत्पत्ति होती है। जिन मूलों में द्वितीय वृद्धि नहीं होती उनमें अधश्चर्म की कोशा-भित्तियाँ उच्चर्मक अथवा त्वक्षा-भित्तिक से व्याप्त हो जाती हैं और बहिःस्तर नामक संरक्षक-ऊति बन जाती है। ऐसा ही परिवर्तन करके वाह्यक की अन्य कोशायें भी संरक्षण में योग दे सकती हैं।

मूल-शाखाओं की उत्पत्ति :—मूल-शाखाओं का उद्भव रम्भवेष्ट से होता है इसी लिये उन्हें आन्तरजात कहते हैं। शाखोद्भव एक तो द्वितीय-वृद्धि के पूर्व होता है और दूसरे ऊर्ध्ववाही किरणों के सामने से ही शाखायें निकलती हैं। जिस मूल में जितनी किरणें होती हैं उतनी ही पंक्तिओं में शाखायें बाहर निकली रहती हैं। पहले रम्भवेष्ट की एक या दो कोशाओं के विभाजन से एक कोशा-समूह बन जाता है जिससे शाखा का वर्धनशील अग्र बनता है। बाहर निकलते समय अन्तःस्तर और वाह्यक की स्तरों को फाड़ कर यह बाहर निकलता है। चूँकि मजक किरणें भी इन्हीं स्थानों से निकलती हैं अतः जिन मूलों में द्वितीय वृद्धि हो चुकी रहती है उनमें शाखायें मजक-किरणों के बीच से निकली हुई मालूम होती हैं। कहीं कहीं अधोवाही के सामने से भी शाखायें निकली हुई रहती हैं। परन्तु ऐसा प्रायः तभी होता है जब पूर्वोर्ध्ववाही के सामने रम्भवेष्ट होता ही नहीं—जैसे तृणों में—अथवा उस स्थल पर रम्भवेष्ट में स्नेह-प्रणालियाँ होती हैं—जैसे गर्जर-कुल में। द्वयोर्ध्ववाही मूलों में भी प्रायः चार पंक्तिओं में मूल

शाखायें निकलती हैं। आगन्तुक मूलों का उद्भव भी काण्ड के रम्भवेष्ट से ही होता है।

मूल से काण्ड में जाते समय वाहिनीपूलों का पुनस्संघटनः— चूँकि मूल और काण्ड में संतत वाहिनी-संहत होता है अतः यह जानना आवश्यक है कि मूलगत वाहिनीपूलों में कहाँ और किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिनसे काण्ड में सर्वथा भिन्न प्रकार के पूल हो जाते हैं। यह परिवर्तन अधोवीजपत्र प्रदेश में होता है। यहाँ प्रायः ऊर्ध्ववाही और अधोवाही दोनों के प्रत्येक वाहिनीपूल अन्वरतः दो २ भागों में विभक्त हो जाते हैं। प्रत्येक ऊर्ध्ववाही पूल का अर्धांश अधोवाही पूल के अर्धांश से मिल जाता है और काण्ड के उभयांग पूलों की उत्पत्ति हो जाती है। मिलते समय ऊर्ध्ववाहीपूलों के अर्धांश क्रमशः १८०° परिभ्राम-कोण में घूम जाते हैं जिससे वाहिनीपूल का ऊर्ध्ववाही जो मूल में बहिरारम्भ था काण्ड में अन्तरारम्भ हो जाता है।

मूल और काण्ड की आन्तर-रचना में मुख्य भेदः—

(१) नवीन काण्ड को बाह्यतम कोशा-स्तर को अधिचर्म कहते हैं जो सर्वदा अधिचर्म-जन से उत्पन्न होता है। मूल के संवादिभाग को बाह्यावरण कहते हैं जिसकी उत्पत्ति अधिचर्म-जन से अथवा वाह्यक-जन से हुई रहती है। अधिचर्म के ऊपर बहु-कोशा रोम, उच्चर्म और श्वसन-रन्ध्र होते हैं परन्तु बाह्यावरण से पहले केवल एककोशा प्रचूषक रोम निकले रहते हैं जो शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। उच्चर्म और श्वसन-रन्ध्र भी नहीं होते। अधिचर्म सर्वदा संरक्षण का कार्य करता है और वाह्यावरण पहले प्रचूषण का फिर संरक्षण का कार्य करता है।

(२) मूल में वाह्यक प्रायः मोटा और काण्ड में पतला होता है। नवीन काण्ड के वाह्यक में शादि-घटन और मूल के वाह्यक में सित-घटन पाये जाते हैं। काण्ड में वाह्यक के बाहरी भाग में स्थूलकोण या दृढभित्तिक (अधश्चर्म) होता है परन्तु मूल में इस स्थल पर ये ऊतियाँ नहीं होती। कहीं २ इसके कुछ बाह्यतम स्तरों से बहिःस्तर बना होता है।

(३) मूल का अन्तःस्तर सर्वदा बहुत स्पष्ट होता है और उसकी अन्वर या भीतर की भित्तियाँ स्थूल रहती हैं। काण्ड में यह प्रायः स्थूल भित्तिओं का और स्पष्ट नहीं होता। मूल में कभी २ पूर्वोर्ध्ववाही के सामने इसकी कोशायें गर्तमय होती हैं और वाहिनीपूल से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती हैं। काण्ड में न तो

दोनों का सम्बन्ध ही होता और न तो गर्त ही होते।

(४) काण्ड के रम्भवेष्ट में प्रायः कई कोशा-स्तर होते हैं और उसमें प्रायः दृढभित्तिक भी होता है। परन्तु मूल का रम्भवेष्ट केवल एक सजीव कोशा-स्तर का होता है।

(५) काण्ड और एक-बीजपत्र मूलों में मज्जक प्रायः बड़ा होता है। द्वि-बीजपत्र मूलों में मज्जक बहुत पतला और कहीं-कहीं इसका अभाव होता है।

(६) काण्ड के वाहिनी-पूल उभयांग, सपार्श्वस्थ (कहीं-कहीं द्वि-सपार्श्वस्थ) तथा एधा सहित होते हैं और मूल में वे एकांग और एधा रहित होते हैं। काण्ड के ऊर्ध्ववाही अन्तरारम्भ और संकर होते हैं पर मूल में वे वहिरारम्भ और सरल अर्थात् केवल अधोवाहिनिओं के बने हुये होते हैं।

द्वि-बीजपत्र और एक-बीजपत्र मूलों की आन्तर-रचना में भेदः—

(१) द्वि-बीजपत्रों में ऊर्ध्ववाही पूल या किरणें संख्या में प्रायः २ से ५ तक (अधिक से अधिक ६) और एक-बीजपत्रों में उनकी संख्या १२ से २० तक (अपवादतः कम से कम ५) होती है।

(२) एक-बीजपत्र मूलों में मज्जक द्वि-बीजपत्र मूलों की अपेक्षा बहुत स्थूल होता है। द्वि-बीजपत्रों में कहीं २ मज्जक होता ही नहीं।

(३) द्वितीय वृद्धि केवल द्वि-बीजपत्रों में होती है। एक-बीजपत्र के मूल कहीं २ केवल अपवाद रूप में द्वितीय वृद्धि करते हैं।

(४) पश्चोर्ध्व-महावाहिनियाँ एक-बीजपत्र मूलों में अधिक चौड़ी और उनका अनुप्रस्थ छेद गोल होता है। द्वि-बीजपत्र मूल में ये कम चौड़ी और इनकी वहिः रेखा प्रायः बहुभुज होती है।

(५) वहिर्वाह्यक (Exodermis) या बहिःस्तर एक-बीजपत्रों में द्वि-बीजपत्रों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है।

पत्ती की आन्तर-रचना

पर्ण-वृन्त— पर्ण-वृन्त की आन्तर-रचना काण्ड से बहुत मिलती-जुलती होती है। दोनों में कुछ अन्तर तभी होता है जब पर्णवृन्त एक ओर कुछ चिपटा या नालीदार होता है। संवृत-बीज उद्भिज्जों में काण्ड के एक या अधिक सपार्श्वस्थ वाहिनीपूल पत्ती में प्रवेश करते हैं और वहाँ वे प्रायः कई छोटे २ पूलों में

विभक्त होकर अर्धचन्द्राकार या वृत्ताकार समूह में क्रमबद्ध हो जाते हैं। इनमें कर्मण्य एधा का अभाव होता है। आधार-ऊति का अधिकांश तनुभित्तिक होता है परन्तु उसके अन्दर स्थूलकोण या दृढभित्तिक भी हो सकते हैं। अधिचर्म काण्ड के अधिचर्म जैसा होता है। वाहयक की कोशायें न्यूनाधिक दीर्घित, उनके बीच में अन्तराकोश अवकाश और अन्दर (प्रायः बाह्यस्तरों में) शादि-घटन होते हैं। अन्तःस्तर और रम्भवेष्ट प्रायः उपस्थित रहने पर भी स्पष्ट मालूम नहीं होते। प्रत्येक वाहिनीपूल में ऊर्ध्ववाही ऊपर की ओर और अधोवाही नीचे की ओर होता है।

फलकः—पर्ण-तल के आकार तथा स्थिति के अनुसार पर्ण की आन्तर-रचना में बहुत विभिन्नता पाई जाती है। पत्तियाँ अधिकतर असमपृष्ठक होती हैं और इनकी रचना में बहुत सादृश्य होता है। अधिचर्म ऊपर और नीचे दोनों ओर काण्ड के अधिचर्म जैसा रहता है। इसकी कोशायें सजीव और प्रायः चिपटी होती हैं। इनके ऊपर उचर्म का न्यूनाधिक मोटा स्तर रहता है और क्षोद-स्तर तथा रोम या कंटक आदि सामान्य वाह्य वृद्धियाँ भी हो सकती हैं। श्वसनरन्ध्र अधस्तल पर ही सीमित रहते हैं। अधिचर्म के दोनों—ऊर्ध्व और अधर-स्तरों के बीच में तनुभित्तिक आधार-ऊति और वाहिनी-संहत की ऊतियां होती हैं। आधार-ऊति को यहाँ **मध्यपर्णोति** (Mesophyll) कहते हैं।

असमपृष्ठक पत्तिओं में मध्यपर्णोति के दो स्पष्ट विभाग होते हैं। ऊर्ध्व अधिचर्म के नीचे दीर्घित रम्भाकार कोशाओं के एक या अधिक स्तर होते हैं। इन कोशाओं के अन्वायाम अक्ष ऊर्ध्वतल से समकोण बनाये हुये रहते हैं और इन्हें **शादि-रम्भ-कोशा** (Palisade cells) कहते हैं। इनके अन्दर कोशा-भित्तिओं के किनारे अनेक शादि-घटन पाये जाते हैं। मण्ड तथा शर्करा आदि खाद्य-पदार्थों का निर्माण मुख्यतः इसी ऊति के द्वारा होता है। शादि-घटनों की अधिकता और कोशाओं की अन्वायोजिता से ही ऊर्ध्व तल अधर तल की अपेक्षा प्रायः अधिक गाढ़-हरित होता है। आधार-ऊति के शेष भाग में अन्तराकोश अवकाशों का आधिक्य होता है अतः इसे **छिद्रिष्ठोति** (Spongy tissue) कहते हैं। इसकी कोशायें अनियमित (प्रायः गोलीय या अण्डाकार) आकार की होती हैं। इनमें भी अल्प संख्या में शादि-घटन होते हैं और खाद्य-निर्माण में इनका भी सहयोग रहता है।

वाहिनीपूल ज्यों २ पर्णमूल से पर्णतट की ओर बढ़ते जाते हैं उनका परिमाण घटता जाता है और उनके अवयवों का भी क्रमशः ह्रास होता जाता है। प्रत्येक बड़े वाहिनीपूल में ऊर्ध्ववाही ऊर्ध्वतल की ओर और अधोवाही अधरतल की ओर रहता है। ऊर्ध्ववाही में प्रायः वलयित और कुन्तल-वलयित महावाहिनियाँ व लघुवाहिनियाँ, दारुसूत्र और दारु तनुभित्तिक होते हैं। जहाँ वाहिनीपूल समाप्त होते हैं वहाँ इनमें केवल एक या दो वलयित या कुन्तल-वलयित लघुवाहिनियां शेष रह जाती हैं। अधोवाही में भी पर्णमूल के पास चालनी-नाल, सखि-कोशायें और अधोवाही तनुभित्तिक के अवयव होते हैं परन्तु अन्त में इनका भी ह्रास हो गया रहता है। प्रत्येक वाहिनीपूल प्रायः एक तनुभित्तिक कंचुक से घिरा रहता है जिसे **पूल-कञ्चुक** (Bundle sheath) कहते हैं। अन्तःस्तर और रम्भवेष्ट बड़े पूलों में उपस्थित रहने पर भी स्पष्ट नहीं मालूम होते। छोटे पूलों में रम्भवेष्ट नहीं होता। इनके बाहर प्रायः दृढ़भित्तिक-चक्र होता है। कहीं २ दृढ़भित्तिक का पूर्ण चक्र नहीं होता, इसके केवल एक या दो खण्ड होते हैं।

बहुत सी चर्मल पत्तियों में कई शादि-रम्भ कोशाओं से एक कोशा भीतर की ओर सम्बद्ध रहती है। **इसे संचय-कोशा** (Collecting cell) कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि ऊपर की कोशाओं में निर्मित पदार्थ इन कोशाओं में आकर संचित होता है।

समपृष्ठक पर्ण:—अनेक एक-बीजपत्र उद्भिज्जों में प्रायः सीधी खड़ी पत्तियाँ होती हैं जिनके दोनों पृष्ठों को सूर्यप्रकाश बराबर मात्रा में मिलता है। इन पत्तियों में दोनों ओर मध्यपर्णोति एकरूप होती है। समपृष्ठक पत्तियों के दोनों तलों पर श्वसन-रन्ध्र होते हैं। कहीं सम्पूर्ण मध्यपर्णोति छिद्रिष्ठ, कहीं केवल शादि-रम्भ कोशाओं की ओर कहीं मध्य में छिद्रिष्ठोति और दोनों ओर शादि-रम्भ कोशाओं के स्तरों की बनी होती है।

श्वसन-रन्ध्र (Stomata):—श्वसन-रन्ध्रों के दोनों ओर दो विशेष प्रकार की कोशायें होती हैं जिन्हें **रक्षक कोशा** (Gaurd cell) कहते हैं। ये कोशायें प्रायः अर्द्धचन्द्राकार होती हैं और इनके अन्दर प्ररस तथा न्यष्टि के अतिरिक्त शादि-घटन भी होते हैं। रक्षक-कोशाओं की वे भित्तियाँ जो रन्ध्र को घेरे रहती हैं सबसे मोटी होती हैं और इनके विपरीत दूसरी ओर की भित्तियाँ सब से पतली होती हैं। जब रक्षक-कोशाओं में जल अधिक आ जाता है तो उनकी

पतली भित्तियाँ फैल जाती हैं और दोनों कोशायें दो ओर को खिंच उठती हैं जिससे उनके बीच का छिद्र खुल जाता है। कोशाओं में जल की कमी होने से दोनों कोशायें सिकुड़ जाती हैं और छिद्र बन्द हो जाता है। कोशाओं में निकट की कोशाओं से जल का आयात-निर्यात रक्षक-कोशाओं के अन्दर शर्करा की सापेक्ष मात्रा पर निर्भर करता है। प्रकाश में शादि-घटन शर्करा का निर्माण करते हैं तो शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है और प्रकाश की अनुपस्थिति में जब यह क्रिया बन्द हो जाती है और उपस्थित शर्करा का भी मंड में परिवर्तन हो जाता है तो कोशाओं में जल की कमी हो जाती है। इसीलिये सामान्यतः प्रकाश (दिन) में श्वसन-रन्ध्र खुले रहते हैं और अन्धकार (रात) में बन्द हो जाते हैं। श्वसन-रन्ध्रों का खुलना या बन्द होना अन्य असाधारण अवस्थाओं पर भी निर्भर करता है जिसकी चर्चा अन्यत्र की गई है।

श्वसन-रन्ध्रों का मुख्य कार्य वायुमण्डल से सम्बन्ध स्थापित करने का है। इन छिद्रों द्वारा उद्भिज-शरीर और वायुमण्डल के बीच वातीय विनिमय होता है इसीलिये श्वसन-रन्ध्रों का सम्बन्ध भीतर के उन वातकूपों और अन्तराकोश अवकाशों से रहता है जो पर्णादि के अन्दर वात-संचार के निमित्त होते हैं और परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। जल का वाष्परूप में परित्याग भी इन्हीं छिद्रों द्वारा होता है। जलत्याग का आवश्यकतानुसार कम, अधिक या बिल्कुल बन्द होना इन्हीं छिद्रों पर निर्भर करता है।

पत्तियों में जल-रन्ध्रः—बहुत सी पत्तियों के अग्र या तट पर जहाँ वाहिनीपूल समाप्त होते हैं जल-ग्रन्थियाँ होती हैं। इनके द्वारा जल-स्राव होता है। इन स्थलों पर अधिचर्म में छोटे २ छिद्र होते हैं जिन्हें **जल-रन्ध्र** (Water stomata) कहते हैं। इन्हीं छिद्रों से जल द्रव के रूप में बाहर निकलता है। इनकी रचना श्वसन-रन्ध्रों जैसी होती है परन्तु ये प्रायः बड़े और सर्वदा खुले रहते हैं और इनकी रक्षक कोशाओं में शादि-घटन नहीं होते। चट्टानों पर होने वाले पाषाणभेद आदि तथा अनेक एक-बीजपत्र पौधों में जलरन्ध्र पाये जाते हैं।

पर्ण-विकासः—काण्ड के वर्धनशील अग्र पर पार्श्व से अधिचर्म-जन और वाह्यक-जन के बहिरुद्भेद निकलते हैं। इनकी वृद्धि पहले अग्र पर होती है और पत्ती का ऊपरी हिस्सा पहले बन कर वर्धनशील अग्र को ढक लेता है। नीचे के भाग में भी पहले से ही वृद्धि होती रहती है परन्तु पहले ऊपर की अपेक्षा

यहाँ मन्द वृद्धि होती है। फलक के बन जाने पर मध्य या आधार भाग में वृद्धि होती है। कलिका-अवस्था में ही पत्ती की पूर्ण कोशा-संख्या की उत्पत्ति हो जाती है और नवीन कोशाओं की उत्पत्ति बन्द हो जाती है। कलिका से निकलने पर पत्तिओं के परिमाण में जो वृद्धि होती है वह केवल उपस्थित कोशाओं के विस्तरण के कारण होती है।

पर्णमोक्ष (Leaf fall) :—बहुत से पौधों में पत्रमोक्ष एक आवर्तन-घटना के रूप में शीतकाल या शुष्क ऋतु के आगमन के साथ होती है। अन्य बहुत से पौधों में ऋतुजनित परिवर्तनों से इस घटना का कोई सम्बन्ध नहीं मालूम होता। पर्णमोक्ष के सम्बन्ध में दूसरी विशेष बात यह है कि यह एक व्यापारिकीय घटना है और इसमें पहले वृन्तमूल में एक विशेष प्रकार के कोशा-स्तर की अनिवार्य रूप से उत्पत्ति होती है जिसे **भुज-स्तर** (Absciss layer) कहते हैं। वृन्तमूल के पास एक विशेष कोशा-पट्ट बनकर तैयार होता है जिसमें प्ररस बहुत सघन होता है। इसकी कोशायें गोलाकार हो जाती हैं और मध्य-भित्तिओं में निर्यासोद आ जाता है। इन दो कारणों से पत्ती अब केवल वाहिनीपूलों के कारण लगी रहती है परन्तु जब तेज हवा चलती है तो वे भी टूट जाते हैं और पत्रमोक्ष हो जाता है। जिस स्थान से पत्रमोक्ष होता है उसकी रक्षा के लिये वहाँ त्वक्षा-स्तर भी बन जाता है अथवा वहाँ की कोशाओं की ही भित्तिओं में त्वक्षा-भित्तिक व्याप्त हो जाता है। पुष्प, फल तथा अन्य अंग जो नियत समय पर अपने आप नियमित रूप से अलग होते हैं उनमें भी इसी तरह भुज-स्तरों का निर्माण पहले होता है। पत्रमोक्ष के समय भुजस्तर के नीचे त्वक्षा-निर्माण होने और निर्यास आदि के द्वारा वाहिनिओं के बन्द हो जाने से बाहर रस आदि का निकलना पत्रमोक्ष के पहले से ही बन्द हो जाता है।

तृतीय भाग

उद्भिद्-व्यापारिकी

परिच्छेद ११

पोषण

व्यापारिकी खण्ड में उद्भिज्ज-शरीर के विभिन्न व्यापारों का वर्णन किया जायगा। पोषण, वृद्धि और सन्तानोत्पत्ति के लिये शरीर में अनेक प्रकार की जो भौतिक एवं रासायनिक क्रियायें चलती रहती हैं उनका पूरा परिचय प्राप्त करना ही व्यापारिकीय अध्ययन का मुख्य ध्येय होता है। संतानोत्पत्ति सम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन संक्षेप में किया जा चुका है। पोषण एवं वृद्धि से सम्बन्धित उद्भिज्ज शरीर के मुख्य २ व्यापारों में पृथ्वी तथा वायुमण्डल से सामान्य खाद्य पदार्थों का **प्रचूषण** (Absorption), निर्माण-केन्द्रों में उनका **संवाहन** (Conduction), सामान्य खाद्य पदार्थों का संस्कार और शक्ति-सञ्चय (food manufacture), वर्धनशील भागों में उनका **स्थानान्तरण** (Translocation), प्ररस-निर्माण द्वारा शरीर की वृद्धि, श्वसनादि क्रियाओं द्वारा शक्ति संचयों का विश्लेषण और विविध व्यापारों के लिये ऊर्जा-विमोचन (Liberation of energy) मुख्य हैं जिनका वर्णन इस खण्ड में किया जायगा। इनके अतिरिक्त उपर्युक्त क्रियाओं के लिये जारक तथा प्रांगार-द्विजारेय वातिओं का प्रचूषण, अनावश्यक तथा हानिकारक उत्पाद पदार्थों का विसर्जन एवं सम्पूर्ण उद्भिज्ज-काय अथवा उसके अवयवों की गति का वर्णन किया जायगा।

उद्भिज्ज-काय का रासायनिक संघटन:—पौधों को पूर्णतः सुखा कर उनके शुष्क अंश को तौलने से मालूम होता है कि उनमें प्रायः ५० से ९८ प्रतिशत जल का अंश रहता है। काष्ठीय भागों में लगभग ५० प्रतिशत, मृदुल भागों में ७५ प्रतिशत, मौंसल भागों में ८५ से ९५ प्रतिशत और जलवासी पौधों में ९५ से ९८ प्रतिशत जल का अंश रहता है। शुष्क बीजों में भी जल लगभग १०-१२ प्रतिशत होता है। फिर, जब शुष्क अंश को जलाकर उससे निकली हुई वातिओं और अवशिष्ट राख की परीक्षा की जाती है तो आङ्गार प्र ज$_2$ के, गन्धक शुल्वारि-द्विजारेय (SO_2 , के, भूयाति स्वतन्त्र अथवा तिक्ताति

(NH_3) के, उदजन वाष्प के और जारक उपर्युक्त प्रज$_2$, शुज$_2$ तथा वाष्प के रूपों में मिलते हैं। राख में भास्वर, गन्धक, दहात (potassium), क्षारातु (Sodium), चूर्णातु (Calcium), भ्राजातु (Magnesium), अयस (Iron), सैकता (Silicon) और नीरजी (Chlorine) तत्त्व मिलते हैं। इन तेरह तत्त्वों में केवल दस तत्त्व पौधों के लिये नितान्त आवश्यक होते हैं और शेष तीन–क्षारातु, सैकता और नीरजी अधिक पौधों में होते हैं पर इनका रहना सबके लिये आवश्यक नहीं होता। इनके अतिरिक्त कुप्यातु या जस्त, ताम्र, जम्बुकी (Iodine), टांकण (Boron) और लोहक (Manganese) की अल्प मात्रायें प्रायः पाई जाती हैं। अनावश्यक और लेश तत्त्वों के अभाव में कुछ पौधों की वृद्धि और स्वास्थ्य ठीक चाहे न रहे पर सभी पौधों के लिये ये आवश्यक नहीं होते। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि भिन्न २ पौधे भिन्न २ आवश्यक तत्त्वों को प्रायः निश्चित योगों के रूप में और निश्चित मात्राओं में ही ग्रहण करते हैं। प्रांगार जिसकी प्रतिशतता ४०–४५ के लगभग होती है प्रज$_2$ के रूप में वायुमण्डल से अथवा जल-मग्न पौधों में जल से प्राप्त होता है। जारक और उदजन अधिकतर जल के रूप में पृथ्वी से मिलते हैं जिसका मूल-रोमों द्वारा प्रचूषण होता है। श्वसन के निमित्त जारक वायुमण्डल से मिलता है। इनके अतिरिक्त शेष सब तत्त्व प्रायः खनिज लवणों के रूप में पृथ्वी से प्राप्त होते हैं जिनका जल के साथ अत्यन्त मन्द विलयन के रूप में मूल-रोमों द्वारा प्रचूषण होता है। इन्हें हम पौधों का बाहर से आये हुये असंस्कृत खाद्यपदार्थ मानते हैं। इनमें नीरजी प्रायः नीरेय (Chloride) के, गन्धक शुल्वीय (Sulphate) के, भास्वर भास्वीय (Phosphate) के, भूयाति भूयीय (Nitrate) के, सैकता सैकतिक लवणों (Silicates) के रूप में और भिन्न २ धातुयें उपर्युक्त लवणों के आधार-तत्त्वों के रूप में ग्राह्य होती हैं।

जल-संवर्ध्य के प्रयोग (Water-Culture experiments):—इन प्रयोगों में पौधों को ऐसे विलयन का उपयोग करके वृद्धि करने का अवसर दिया जाता है जिसमें प्रायः सभी आवश्यक तत्त्व अपने २ उपयुक्त रूप और मात्रा में उपस्थित रहते हैं और किसी संपरीक्ष्य लवण के अभाव आदि का प्रभाव पौधे की वृद्धि एवं विकास पर देखा जाता है। इस प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि यदि पौधों को जारक, उदजन और प्रांगार के अतिरिक्त भ्राजातु

चूर्णातु, दहातु और अयस भूयीय, भास्वीय और शुल्वीय लवणों के रूप में जल-संवर्ध्य विलयन में वर्तमान रहते हैं तो अधिकतर पौधों की स्वास्थ्यपूर्ण वृद्धि होती है। इससे उपर्युक्त कथन कि पौधों के लिये केवल दस तत्त्व आवश्यक हैं सिद्ध हो जाता है। इस प्रयोग के द्वारा यह भी देखा जा सकता है कि अमुक पौधा अमुक तत्त्व को किस योग के रूप में अथवा कितनी मात्रा में ग्रहण करता है अर्थात् किसी तत्त्व का कौन योग कितनी मात्रा में प्रशस्त होता है और उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति का उस पर क्या प्रभाव पड़ता है। कई बोतलों में संवर्ध्य विलयन भर देते हैं और उनके मुंह काग से बन्द कर देते हैं। काग इस तरह कटे हुए होते हैं कि जब उनमें कोई छोटा पौधा समूल लगा कर बोतलों का मुंह बन्द करते हैं तो पौधों के मूल विलयन में डूबे रहते हैं और पौधे का शेष भाग बोतल के बाहर रहता है। इस तरह कई बोतलों की व्यवस्था की जाती है और प्रत्येक में किसी एक जाति की शिशु-वनस्पतियाँ अलग २ लगी हुई रहती हैं। सभी बोतलों में संवर्ध्य विलयन एक से नहीं होते। एक में संतुलित विलयन होता है और शेष बोतलों में एक न एक संपरीक्ष्य द्रव्य का अभाव रहता है। कुछ दिनों के बाद यह देखने में आयेगा कि सर्वांगपूर्ण विलयन में जो पौधा बढ़ता है उसकी वृद्धि और विकास ठीक होता है परन्तु औरों में यह बात नहीं होती। जैसे, जिस विलयन में दहातु नहीं होता उसमें पौधे की वृद्धि रुक जाती है और पत्तिओं का प्राकृतिक रङ्ग नष्ट होने लगता है। चूर्णातु रहित विलयन में बढ़ने वाले पौधे को मूल-संहत का विकास ठीक नहीं होता, पत्तिओं में भी विकृति आ जाती है और पौधा दुर्वल हो जाता है। लोहातु के न रहने पर शादि-घटन की उत्पत्ति नहीं होती और वृद्धि बहुत मन्द पड़ जाती है। इसी तरह प्रत्येक आवश्यक तत्त्व के अभाव में कुछ न कुछ विकृति प्रगट होती है।

पौधों के लिये जल की आवश्यकता:—कर्मण्य प्ररस सर्वदा अर्धतरल अवस्था में रहता है जिसमें ९० प्रतिशत से अधिक जलांश का रहना आवश्यक होता है। जलांश के कम होने से प्ररस कठोर और अकर्मण्य हो जाता है जैसे बीजों में। जल के निःशेष होते होते प्ररस निर्जीव भी हो जाता है। खाद्य पदार्थों के निर्माण में जल एक आवश्यक संघटक होता है। बाहर के जीवनोपयोगी पदार्थों का प्रवेश उनको जल में विलयन बन जाने पर ही होता है और संस्कृत खाद्य-पदार्थों का शरीर के विभिन्न भागों में वितरण जल के ही द्वारा होता

है। वृद्धि और संतानोत्पत्ति सम्बन्धी क्रियाओं में अनेक ऐसी भौतिक और रासायनिक क्रियायें होती हैं जो जल की उपस्थिति में हो सकती हैं। इनके अतिरिक्त उद्भिज-कोशाओं में, विशेषतः नवीन वर्धनशील भागों में, जल के ही कारण दृढ़ता आती है। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति मूल द्वारा प्रचूषित जल से ही होती है।

अब हमें यह देखना है कि जल, प्र ज$_2$ आदि वातियाँ तथा खनिज लवण, जिन्हें हम पौधों का असंस्कृत खाद्य-पदार्थ मानते हैं, उद्भिज-शरीर के अन्दर किस तरह प्रविष्ट होते हैं।

उन्मृदा-जल (Soil water):—पृथ्वी के ऊपरी स्तरों में मिट्टी के कणों के बीच २ में जल का जो अंश होता है और वनस्पतियों के लिये जो उपलब्ध होता है उसे उन्मृदा-जल कहते हैं। मिट्टी में इसकी तीन अवस्थायें होती हैं। कणों के बीच में जितना जल भ्वाकृष्टि के प्रभाव में रहता है और जिसका प्रायः उत्सारण हो जाता है उसे **अभ्याकृष्टीय** (Gravitational) जल कहते हैं। जल का जो अंश बच जाता है उसका अधिकांश कणों के चारों ओर एक स्तर बना कर कणों से चिपका रहता है। इसे **केशाल-जल** (Capillary water) कहते हैं। मूल-रोम इसी अंश का प्रचूषण करते हैं। तल्यातति (Surface tension) के कारण यह कणों से बंधा रहता है। कणों में जो श्लेष्माभीय पदार्थ होते हैं उनमें जल का कुछ अंश रहता है और कुछ स्फटन-जल (Water of Crystallisation) भी हो सकता है। इस तरह के जल को **उन्देद्यीय** (Hygroscopic) जल कहते हैं। मिट्टी के कण जितने ही छोटे होते हैं केशाल-जल उसमें उतना ही अधिक होता है। केशाल-जल में मिट्टी के खनिज पदार्थ बहुत ही मन्द विलयन बना कर रहते हैं। जहाँ भ्वाकृष्टीय जल का उत्सारण पूर्णरूप से हो गया रहता है वहाँ केशाल-जल अधिक मात्रा में पाया जाता है। नम ज़मीन या दलदलों में भ्वाकृष्टीय जल का आधिक्य होता है। कणों के बीच २ में जहाँ वायु का रहना आवश्यक है वहाँ यही जल भरा रहता है। यही कारण है कि दलदलों में उगने वाले पौधों को वायु (जारक) को बाहर से लेने के लिये प्रायः विशेष व्यवस्था करनी पड़ती है।

मूल-रोम, जो कणों के बीच २ में फैले रहते हैं, केशाल-जल का प्रचूषण करते हैं परन्तु सम्पूर्ण केशाल-जल का चूषण वे नहीं कर पाते। जिस ज़मीन में

मृत्तिका कणों (Humus) का जितना ही आधिक्य होता है उसमें अप्रचूष्य केशाल-जल की मात्रा उतनी ही अधिक होती है। जिस भौतिक विधा से केशाल-जल का मूल-रोमों के अन्दर प्रवेश होता है उसे **आसारण** की क्रिया या **आसृति** (Osmosis) कहते हैं।

आसृति और आसृतीय निपीड़ः—आसारण की क्रिया निम्नरीति से दिखा जा सकती है। यदि किसी कोशाधु-नाल में लवण विलयन भर कर और उसे बन्द करके पानी से भरे हुये दूसरे पात्र में रख दिया जाय तो कुछ देर के बाद परीक्षा से मालूम होगा कि नाल से लवण का कुछ अंश बाहर जल में और जल का कुछ अंश बाहर से नाल में आ गया है। यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक नाल के भीतर और बाहर लवण विलयन की घनता एक सी नहीं हो जाती। यदि यही प्रयोग कोशाधु-नाल के स्थान में चर्म-पत्र (Parchment) के बने हुये पात्र को लेकर किया जाय तो मालूम होगा कि जहाँ पहले नाल-भित्ति जल और लवण अर्थात् विलायक और विलेय दोनों के लिये वेध्य थी और दोनों पदार्थों का प्रसारण (Diffusion) होता था वहाँ अब भित्ति केवल जल के लिये वेध्य रह गई है। लवण के लिये वह अवेध्य है। इसीलिये अबकी बार केवल जल (विलायक) का प्रसारण होता है नमक का नहीं। ऐसी भित्तिओं को **अर्धवेध्य** (Semipermeable) कहते हैं। ऐसे ही एकदैशिक प्रसारण को आसारण कहते हैं। उद्भिज्ज कोशा में कोशा-भित्ति से विलेय और विलायक दोनों का प्रसारण होता है परन्तु भित्ति से लगा हुआ प्ररस-स्तर अर्धवेध्य होता है। कोशा-गह्वर में बाहर से जल जा सकता है परन्तु कोशा-रस में विद्यमान शर्करा आदि विलेय द्रव्य बाहर नहीं निकल सकते।

कोशा-रस जितना ही अधिक गाढ़ा होता है उतना ही अधिक जल भीतर आता है। जितना ही अधिक जल भीतर आता है कोशा-भित्ति उतनी ही अधिक फैलती है और भीतर के जल को बाहर निकालने का प्रयत्न करती है। भीतर के विलयन का जितना **निपीड़** (Pressure) कोशा-भित्ति पर पड़ता है उसे **आसृतीय** (Osmotic) निपीड़ कहते हैं और कोशा-भित्ति का जितना निपीड़ भीतर के विलयन पर पड़ता है उसे **आशूनता** (Turgor) निपीड़ कहते हैं। जब तक आसृतीय निपीड़ आशूनता-निपीड़ से अधिक होता है तभी तक अधिक जल भीतर आता है। दोनों के बराबर हो जाने पर जल की मात्रा भीतर नहीं

बढ़ती और ऐसा मालूम होता है कि जल का आसारण बन्द हो गया है। वस्तुतः इस अवस्था में जितना ही जल बाहर जाता है उतना ही भीतर आता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि आसृतीय निपीड़ से आशूनता-निपीड़ जितना कम होता है उतने ही बल से जल का प्रचूषण होता है। यहाँ एक और बात का ध्यान होना चाहिये। कोशा के बाहर शुद्ध जल नहीं होता बल्कि वह भी एक अत्यन्त मन्द विलयन होता है इसलिये उसका भी कुछ न कुछ आसृतीय निपीड़ होता है। प्रचूषण बल (Suction force) इसके आसृतीय निपीड़ के कारण और कम हो जाता है। अतः समस्त आसृतीय निपीड़ जो प्रचूषण बल उत्पन्न करने में कार्यकर होता है कोशा-रस और बाहरी विलयन के आसृतीय निपीड़ों का अन्तर मात्र होता है। यह सम्बन्ध निम्नलिखित सूत्र के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। प्रचूषण बल =(कोशा-रस का आसृतीय निपीड़—केशाल-जल का आसृतीय निपीड़) —आशूनता-निपीड़।

रस-कोच (Plasmolysis) :— यदि किसी जीवित कोशा को ऐसे लवण विलयन में रख दिया जाय जिसका आसृतीय निपीड़ कोशा-रस के आसृतीय निपीड़ से अधिक हो तो कोशा-रस से जल की **वहिरासृति** (Exosmosis) प्रारम्भ हो जाती है। कोशा-गह्वर ऐसी दशा में संकुचित होने लगता है और कोशा-प्ररस कोशा-भित्ति को छोड़ कर बीच में संकेन्द्रित होता जाता है। कोशा-भित्ति और बहिःप्ररस के बीच का अवकाश लवण विलयन से भरता रहता है। इसी अवस्था को **रस-कोच** कहते हैं। किसी कोशा-रस का आसृतीय निपीड़ उस विलयन के आसृतीय निपीड़ के बराबर होता है जिसमें रखने पर आसारण या रस-कोच नहीं होता। कोशा-रस के आसृतीय निपीड़ को मापने की यह सबसे सरल विधि है।

ऊपर बतलाया गया है कि कोशा-प्ररस विलेय पदार्थों के लिये अवेध्य होता है। यदि ठीक ऐसी ही बात होती तो खनिज-लवण मूल-रोम के अन्दर प्रविष्ट न हो सकते थे। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि प्ररस किसी भी पदार्थ के लिये सर्वथा अवेध्य नहीं होता। कुछ पदार्थों (जैसे-सुषव और ईथर) के लिये इसमें वैसे ही पूर्ण वेध्यता होती है जैसे जल के लिये, और कुछ के लिये यह कष्टवेध्य होता है। इसके अतिरिक्त किसी पदार्थ के लिये प्ररस की वेध्यता उसकी उपयोगिता पर निर्भर करती है। यदि कोई विलेय उपयोगी होने के कारण प्रविष्ट

होते ही अन्य भागों में हटा दिया जाता है तो उसका प्रवेश होता रहता है और अगर वह काम का नहीं हुआ तो उसका अधिक प्रवेश नहीं होते पाता। यही कारण है कि एक ही स्थान पर होने वाले भिन्न२ जातिओं के पौधे भिन्न२ पदार्थों को भिन्न २ मात्रा में ग्रहण करते हैं। जैसे, गेहूँ तथा इसके कुल के अन्य पौधे भूयाति, दहातु और चूना कम परन्तु सैकता अधिक लेते हैं। आलू आदि पौधों में इसके विपरीत होता है। किसी पदार्थ को अधिक मात्रा में अन्दर लेने के लिये पौधे प्रायः प्रचूषण के बाद उनमें ऐसा स्वरूप-परिवर्तन कर देते हैं कि आसारण-प्रसारण के योग्य वे नहीं रह जाते। समुद्र में होने वाली अनेक वनस्पतिओं में जम्बुकी का सञ्चय अधिक मात्रा में इसी तरह सम्भव होता है। इसी तरह जल में यद्यपि नमक का अंश अधिक होता है पर पौधों में अधिक संचय दहातु का होता है।

पृथ्वी में रासायनिक क्रियायें—चूँकि केवल विलेय पदार्थों का प्रवेश मूलरोमों में सम्भव है अतः जो उपयोगी पदार्थ जल में अविलेय होते हैं उन्हें पहले विलेय योगों में बदलना आवश्यक होता है। जिन पदार्थों की सहायता से ऐसे रासायनिक परिवर्तन होते हैं उन्हें स्वयं पौधे बना कर बाहर भेजते हैं। इन पदार्थों में अधिकतर कुछ प्रांगारिक तथा अप्रांगारिक अम्ल मुख्य होते हैं। प्रांगारिक अम्ल चूना तथा सैकतिक लवणों को विलेय बनाता है। मिट्टी के अन्दर होने वाले अनेक प्रांगारिक पदार्थ प्रायः जारक की सहायता से प्रांगार-द्विजारेय तथा प्रांगारिक अम्लों में बदलते रहते हैं। उच्चश्रेणी के भूयाति योग-जैसे प्रोभूजिन आदि-बदलते २ अन्ततः भूयीय के रूप में आ जाते हैं और तब मूल-रोमों द्वारा उनका प्रचूषण होता है।

प्रचूषित जल का मार्ग:-मूल-रोमों के पूर्णतः आशून (Turgid) होने पर उनका जल पास की वाह्यक-कोशाओं में जाने लगता है क्योंकि उनमें जल का अंश कम रहता है और जब आसन्न कोशायें भी आशून हो जाती हैं तो भीतर की ओर की अन्य कोशाओं में जल का प्रवेश होने लगता है। इसी तरह वह धीरे २ ऊर्ध्व-वाहिनिओं तक पहुँच जाता है। बाहर से जल का आना और उसका ऊर्ध्ववाहिनिओं तक पहुँचना जारी रहता है। ऐसा मालूम होता है कि मूल-रोम और वाह्यक की कोशायें लगातार भीतर की ओर जल का उत्सर्जन करती रहती हैं। इससे जल केवल ऊर्ध्ववाहिनिओं में पहुँच कर स्थिर नहीं

जाता बल्कि वाहिनिओं में पहुंच कर वह धीरे २ ऊपर उठने लगता है। जो ताक़त जल को ऊपर उठाती है उसे **मूल-निपीड़** (Root pressure) कहते हैं।

मूल-निपीड़:—मूल की सजीव कोशाओं की भित्तिओं में जो प्रत्यास्थता (Elasticity) होती है उसके ही कारण उनमें उदंचन की क्रिया होती है। यह क्रिया तब तक होती रहती है जब तक ऊर्ध्ववाहिनिओं के भीतर के रस का आसृतीय निपीड़ उन्मृदा-जल के आसृतीय निपीड़ से अधिक बना रहता है। कुछ पौधों में प्रायः वसन्त में मूल-निपीड़ का प्रभाव बहुत स्पष्ट होता है। इस समय यदि अमृतस्रवा का काण्ड ज़मीन से कुछ ऊँचाई पर काट कर अलग कर दिया जाय तो काण्ड से बहुत अधिक जल बाहर निकलता है। ऐसा स्राव पौधों में प्रायः उस समय अधिक होता है जब वे वेग से वृद्धि करते रहते हैं और पृथ्वी में जल की कमी नहीं रहती। ऐसी अवस्था में पृथ्वी से जल का प्रचूषण बहुत अधिक मात्रा में होता है। प्रचूषण के अतिरिक्त उत्स्वेदन की मात्रा पर भी मूल-निपीड़ निर्भर करता है। कभी २ प्रचूषण भी होता रहता है और उत्स्वेदन भी इतने वेग से होता है कि प्रचूषित जल उत्स्वेदन द्वारा निकले हुये जल की पूर्ति नहीं कर पाता। ऐसी अवस्था में मूल-निपीड़ ऋण हो जाता है। इस अवस्था में तने को पहले की तरह काट कर उस पर जल छोड़ा जाता है तो तना उसे भी सोख लेता है।

यदि मूल-निपीड़ नापना हो तो निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है। ∽ आकार के काच-नाल को रबर-नाल के द्वारा कटे हुये तने से जोड़ देते हैं। काच-नाल में पानी और उसके ऊपर पारा भरा रहता है। जल पारा और तने के बीच में रहता है। कुछ समय के बाद मूल-निपीड़ के कारण जल पारा को ऊपर उठाता है। निपीड़ जितना ही अधिक होता है पारा उतना ही अधिक ऊपर उठता है। यदि काच-नाल में माप के चिन्ह लगे हों तो मूल-निपीड़ की माप की जा सकती है।

प्रचूषित जल केवल ऊर्ध्ववाही की निर्जीव वाहिनिओं के मार्ग से ऊपर चढ़ता है। यह बात निम्नलिखित प्रयोग के द्वारा सिद्ध की जा सकती है। यदि किसी पौधे के काण्ड की वे बाहरी ऊतियाँ जो एधा के बाहर होती हैं एक स्थल पर चारों ओर से काट कर निकाल दी जाँय तो पानी का ऊपर चढ़ना बन्द नहीं होता।

इसे वलय-प्रयोग (Ringing experiment) कहते हैं। यदि एक छोटी टहनी तोड़ कर उसके काण्ड का निचला सिरा इओसीन विलयन में खड़ा कर दिया जाय तो कुछ देर के बाद ऊर्ध्ववाहिनिओं की दीवालें अभिरंजित हो जाती हैं। इससे मालूम होता है प्रचूषित रस का संवाहन केवल ऊर्ध्ववाही के निर्जीव अवयवों (महावाहिनियाँ और लघुवाहिनियाँ) द्वारा होता है। मज्जक या वाहिनी-पूल की सजीव कोशायें ऊर्ध्वसंवाहन में भाग नहीं लेतीं।

उत्स्वेदन (Transpiration):—जिस प्रकार किसी जलाशय या जल से भीगे हुये पदार्थों से कुछ न कुछ जल वाष्प बनकर निकला करता है उसी तरह उन जलानुविद्ध कोशा-भित्तिओं से जो अन्तराकोश अवकाशों के किनारे होती हैं अथवा जो साक्षात् वायुमण्डल के सम्पर्क में रहती हैं, उद्वाष्पन होता रहता है। उद्भिज-शरीर के पत्रादि वायव्य भागों से इस प्रकार जो उद्वाष्पन होता है उसे **उत्स्वेदन** कहते हैं। पौधों से जल का बाष्प रूप में निकलना बहुत सामान्य रीति से दिखाया जा सक्ता है। यदि गमले में लगे हुये किसी छोटे पौधे को काच के घण्टा-कलश (Bell jar) में रख छोड़ें और गमले की भीगी हुई मिट्टी के ऊपर रबर-स्तार फैला दें जिससे मिट्टी का पानी वाष्प के रूप में न निकल सके तो कुछ देर के बाद कलश-भित्ति के अन्तस्तल पर पानी की बूंदें दिखाई पड़ेंगी। ये बूंदें उस वाष्प से बनती हैं जो पौधे से निकल कर और कलश की ठण्ढी दीवाल के स्पर्श से द्रवरूप में आ जाती है।

उत्स्वेदन सामान्य उद्वाष्पन की तरह अनियन्त्रित और बे रोक-टोक नहीं होने पाता। पहले तो परिस्थिति के अनुसार अधिचर्म के ऊपर उच्चर्म का मोटा या पतला स्तर होता है जो उत्स्वेदन अधिक नहीं होने देता, और दूसरे श्वसन-रन्ध्र, जिनसे अधिकांश उत्स्वेदन होता है, प्रायः आवश्यकता के अनुसार खुलते और बन्द होते हैं। सामान्य असमपृष्ठक पत्तिओं के ऊर्ध्वतल और अधरतलों पर अलग २ वेसेलीन लगाकर लटका दिया जाता है तो जिनके अधरतल पर वेसेलीन लगा होता है वे सबसे बाद में सूखती हैं और जिनके किसी भी तल पर वेसेलीन का प्रलेप नहीं होता वे सबसे पहले मुरझाती हैं। जिन पत्तिओं के केवल ऊर्ध्वतल पर वेसेलीन लगा होता है और जिनके किसी भी तल पर वेसेलीन नहीं लगा रहता उन दोनों का मुरझाना, थोड़ा ही आगे पीछे आरम्भ होता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सबसे अधिक उत्स्वेदन

अधरतल से होता है। इसका कारण यह है कि असमपृष्ठक पत्तियों में श्वसन-रन्ध्र प्रायः अधरतल पर ही सीमित रहते हैं। इसलिये अधिकांश जलत्याग उसी तल से होता है। समपृष्ठक पत्तियों में दोनों तलों से बराबर मात्रा में उत्स्वेदन होता है। केत्वातुनीरेय (Cobalt chloride) पत्र से भी ये बातें जानी जा सकती हैं। यह कागज़ शुष्क रहने पर नीला और आर्द्र होने पर गुलाबी रंग का हो जाता है। इसलिये यदि इस कागज़ के टुकड़े दोनों तलों पर साट दिये जांय तो जिस तल पर लगें हुये कागज का जितनी ही शीघ्रता से वर्णपरिवर्तन होगा उस तल से उतना ही अधिक उत्स्वेदन का होना सिद्ध होगा। ऐसा देखा गया है कि प्रायः २० प्रतिशत उत्स्वेदन उच्चर्म से और शेष श्वसनरन्ध्रों से होता है।

अधिचर्म की कोशाओं से उत्स्वेदन होता है तो उनकी बाहरी भित्तिओं का जल भाप बनकर निकलता है। इस कमी को पूरा करने के लिये प्ररस से कोशा-भित्तिओं में और कोशा-रस से प्ररस में जल आता है। कोशा-रस के गाढ़े हो जाने पर समीप की कोशाओं से जल खींच उठता है। इस तरह बहुत भीतर की कोशाओं का जल बाहर निकलता रहता है। जिन भित्तिओं में उच्चर्मक या त्वक्षाभित्तिक होता है उनसे बहुत कम उत्स्वेदन होता है। शुष्कोद्भिज्जों में इसी-लिये प्रायः मोटे उच्चर्म का विकास हुआ रहता है।

अन्तराकोश अवकाशों के चारों ओर किनारे पर जो कोशा-भित्तियां होती हैं उनसे भी उसी तरह उद्वाष्पन होता है जैसे अधिचर्म की बाह्य-भित्तिओं से। इस विधि से उत्स्वेदन होने में लाभ यह है कि प्रायः पौधे इसे अपनी आवश्यकता के अनुसार कम, अधिक या बिलकुल बन्द कर सकते हैं। कोशाओं का जल वाष्प रूप में अन्तराकोश अवकाशों में आता है जिससे अन्तराकोश वायुमण्डल जलानु-विद्ध रहता है। बाहर वायुमण्डल इतना जलानुविद्ध नहीं होता अतः अन्दर की हवा श्वसन-रन्ध्रों से होकर बाहर निकलती रहती है।

उत्स्वेद-मापनः—उत्स्वेदनवेग की माप करनी हो तो निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है। यह प्रयोग जिस साधित्र के द्वारा सम्पन्न होता है उसमें एक लम्बा और पतला काच-नाल होता है जो दोनों सिरों पर विपरीत दिशाओं में समकोण पर मुड़ा हुआ रहता है। जो सिरा ऊपर की ओर होता है वह चौड़ा होता है। दूसरा सिरा रङ्गीन पानी से भरी हुई चंचुकी (Beaker) में डूबा

रहता है। प्रयोग प्रारम्भ करने के पहले काचनाल पानी से भर दिया जाता है। पानी भरने के लिये ऊपर की ओर उठे हुये चौड़े सिरे के समीप और उसके समानान्तर अनुप्रस्थ काच-नाल से एक और काचनाल जुड़ा हुआ रहता है। इसका मुख खुला रहता है और नीचे की ओर इसे बन्द करने की व्यवस्था रहती है। किसी छोटी हरी टहनी को पानी के भीतर काट कर लम्बे काच-नाल के ऊपर उठे हुये सिरे में एक रबर-पिधान के साथ लगा देते हैं। जब टहनी से उत्स्वेदन होने लगता है तो टहनी काच-नाल से पानी खींचती है। चूंकि चंचुकी से टहनी तक पानी का एक ही सन्तत स्तम्भ होता है अतः चंचुकी का रङ्गीन जल काच-नाल में चढ़ने लगता है। कुछ देर के बाद काचनाल को चंचुकी से निकाल कर उसमें वायु का बुलबुला प्रविष्ट करा दिया जाय और उसे फिर चंचुकी में डुबो दिया जाय तो बुलबुला उसी गति से काच-नाल में आगे बढ़ेगा जिस वेग से पानी चढ़ता है। जल या बुलबुले की गति का वेग उत्स्वेदन के वेग पर निर्भर करेगा। अनुप्रस्थ काच-नाल पर माप-चिह्न बने रहते हैं जिससे उत्स्वेदन के वेग और मात्रा दोनों का अङ्कन किया जा सकता है।

उत्स्वेदन दूसरी तरह से भी मापा जा सकता है। एक बोतल को पानी से भर कर दो टुकड़ों में कटे हुये काग से बन्द कर देते हैं। काग के दोनों टुकड़ों के बीच में एक छोटा पौधा इस प्रकार लगा रहता है कि उसकी जड़ें बोतल के अन्दर और शेष भाग ऊपर होता है। बोतल के पार्श्व में नीचे की ओर एक छेद होता है। इसमें जो काग होता है उसमें भी एक छेद होता है। समकोण पर मुड़े हुये एक काच-नाल का सम्बन्ध बोतल से करा देते हैं। काच-नाल बोतल के समानान्तर और पानी से अंशतः भरा रहता है। इस पर माप-चिह्न बने होते हैं। जब पौधे से उत्स्वेदन होने लगता है तो बोतल का पानी ऊपर चढ़ता है। जितना ही पानी ऊपर चढ़ता है उतना ही पार्श्व-नाल में पानी का स्तर नीचे गिरता है। इस तरह प्रचूषित जल का पता तो चल ही जाता है पर यदि साधित्र को प्रयोग के पहले और बाद में तौल लें तो उत्स्वेदन द्वारा निकले हुये जल का भी पता लग जाता है। इस प्रयोग से किसी पौधे के किसी अवस्था विशेष में प्रचूषण और उत्स्वेदन का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। उत्स्वेदन द्वारा निकले हुये जल की माप करनी हो तो सामान्य तुला की सहायता से भी माप की जा सकती है। उपर्युक्त प्रकार के साधित्रों को जिससे उत्स्वेदन की माप

की जाती है **उत्स्वेदन-मान** (Potometer) कहते हैं।

उत्स्वेदन पर आन्तर तथा बाह्य दशाओं का प्रभाव :—कोशाओं की आशूनता और श्वसन-रन्ध्रों की चौड़ाई-इन दो आन्तर दशाओं का प्रभाव उत्स्वेदन पर पड़ता है। जब अन्तराकोश अवकाश के किनारे की कोशाओं में जल की अधिकता होती है तो उनकी कोशा-भित्तिओं के ऊपर शुद्ध जल का मोटा स्तर रहता है जिससे जल का उत्स्वेदन स्वतन्त्रतापूर्वक होता है और अन्तराकोश वायु का जलानुवेधन होता रहता है। कोशाओं में जल की जितनी ही कमी होती है उतना ही कम उद्वाष्पन उनकी भित्तिओं से होता है। अन्तराकोश वायु का बाहर निकलना श्वसन-रन्ध्रों की चौड़ाई पर निर्भर करता है। परन्तु चूंकि आन्तर वायु का बहिःप्रसारण बाहर की वायुमण्डलिक दशाओं पर निर्भर करता है इसलिये जब तक रन्ध्र पर्याप्त मात्रा में खुले रहते हैं तब तक रन्ध्र की चौड़ाई में थोड़ा बहुत अन्तर होने से कोई अन्तर नहीं मालूम होता। परन्तु जब रन्ध्र-मुख बहुत संकुचित हो जाता है तब रन्ध्र की चौड़ाई का प्रभाव बहुत स्पष्ट रूप से मालूम होने लगता है वायुमण्डलिक दशाओं में वायुमण्डल की शुष्कता, ताप और वायु-वेग की मात्रा के अनुपात से उत्स्वेदन सामान्य उद्वाष्पन की तरह घटता या बढ़ता रहता है। आन्तर वायु की अपेक्षा वायुमण्डल जितना ही अधिक शुष्क होता है उतना ही अधिक वेग से आन्तर वायु का बहिःप्रसारण होता है। ताप अधिक होकर स्वयं उद्वाष्पन को बढ़ाता है और वायुमण्डल की शुष्कता बढ़ाकर बहिःप्रसारण को बढ़ाता है। वायुवेग के भी अधिक होने से जलानुविद्ध वायु बह कर दूर निकल जाता है और पौधे के आसपास वायु का जलानुवेधन अधिक बढ़ने नहीं पाता जिससे बहिःप्रसारण में कोई कठिनाई नहीं होती।

श्वसन-रन्ध्रों की गति :—इनका खुलना या बन्द होना रक्षक-कोशाओं की आशूनता पर निर्भर करता है। आशूनता कई बातों पर निर्भर करती है। सामान्यतः प्रकाश में आशूनता बढ़ जाती है क्योंकि प्रकाश में रक्षक-कोशाओं में शर्करा का निर्माण होता है और मण्ड-कणों का भी शर्करा में परिवर्तन हो जाता है। इन दोनों कारणों से कोशा-रस में शर्करा की मात्रा अधिक होने से उसका आसृतीय निपीड़ अधिक होता है और समीप की कोशाओं से जल का प्रचूषण करके रक्षक कोशायें फूल जाती हैं। अंधकार में शर्करा की उत्पत्ति भी

नहीं होती और जो शर्करा रहती है उसका मण्ड-कणों में परिवर्तन हो जाता है जिससे कोशाओं का आस्तीय निपीड़ बहुत कम हो जाता है और वे संकुचित हो जाती हैं। कोशायें आशूनता के कारण जितनी ही अधिक फूलती हैं श्वसन रन्ध्र उतना ही अधिक चौड़ा होता है और आशूनता कम होने पर वे जितनी ही अधिक संकुचित होती हैं रन्ध्रमुख उतना ही कम चौड़ा होता है और अन्त में वह पूर्णतः बन्द हो जाता है।

जलत्याग की अन्य विधियाँ :--उत्स्वेदन के अतिरिक्त उद्भिज्ज-शरीर से जल-त्याग दूसरे तरीकों से भी होता है परन्तु इन तरीकों से बहुत अल्प मात्रा में जल-त्याग होता है। अनेक एक-बीजपत्र वनस्पतिओं में पत्र-सिराओं का जहाँ अन्त होता है उन स्थलों पर जल-रन्ध्र होते हैं जिनसे रात्रि में साक्षात् जल का स्रवण होता है। प्रातःकाल यही जल पत्तिओं पर छोटी छोटी बूँदों के रूप में दिखाई देता है। इस प्रकार से जल-स्राव तभी होता है जब ज़मीन में जल का आधिक्य होता है और प्रचूषण सहायक तथा उत्स्वेदन विरोधी दशायें मौजूद होती हैं। कोशाओं की आशूनता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उनका जल द्रवरूप में बाहर निकल आता है। जलत्याग की इस विधि को **जलस्राव** (Guttation) कहते हैं। इस विधि में भीतर जल-स्रावि ग्रंथिओं और जल-रन्ध्रों की सहायता अपेक्षित होती है। उद्भिज्ज-शरीर से मधु आदि विविध प्रकार के तरल या अर्धतरल स्रावों के साथ भी जल का कुछ न कुछ अंश बाहर निकलता है। मूल-निपीड़ की अधिकता होने पर काण्ड को काट देने से रसधारा का निकलना **रसास्राव** (Bleeding) कहा जाता है। ताड़ी तथा खजूर में शर्करा विलयन इसी प्रकार निकलता है।

उत्स्वेदन से लाभ तथा हानि :--उत्स्वेदन के वेग पर प्रचूषण और प्रचूषित जल का संवाहन निर्भर करता है। यदि प्रचूषण के लिये अन्य बाधायें न हों तो प्रचूषण और संवाहन का वेग उतना ही अधिक होगा जितना उत्स्वेदन का। जल को वाष्प में बदलने के लिये सूर्य-ताप का अधिकांश खर्च हो जाता है इसलिये उद्भिज्ज-शरीर का ताप अधिक नहीं बढ़ने पाता। इस क्रिया से उद्भिज्ज-शरीर के अन्दर मूल से पत्तिओं तक जल-प्रवाह स्थापित हो जाता है जिसे **उत्स्वेद-वाह** (Transpiration current) कहते हैं। जल के साथ जो खनिज पदार्थ मूल-रोमों में प्रवेश करते हैं वे उत्स्वेद-वाह में पत्तिओं तक विना

प्रयास पहुँच जाते हैं। यद्यपि उत्स्वेदन का लवणों के प्रवेश पर अधिक प्रभाव नहीं होता फिर भी, प्रविष्ट पदार्थों का संवाहन उत्स्वेद-वाह की ही सहायता से होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उत्स्वेदन की क्रिया से पत्र से मूल तक की कोशाओं के आसृतीय निपीड़ों में ऐसी सापेक्षता उत्पन्न होती है जिससे उपयोगी द्रव्यों का प्रसारण, आसारण तथा संवाहन सम्भव होता है। अत्यधिक उत्स्वेद का प्रभाव जीवन के लिये घातक होता है अतः इसे रोकने के लिये पौधों में अनेक प्रतिरोधात्मक व्यवस्थायें होती हैं। फिर भी, कभी २ बहुत गर्मी होने या लूह चलने पर उत्स्वेदन इतना अधिक होने लगता है कि उद्भिज-शरीर में कम से कम जल का जितना अंश रहना चाहिये उसमें भी कमी आ जाती है और पौधा सूख जाता है। इसीलिये उत्स्वेदन को लोग प्रायः इष्टापत्ति कहते हैं। परन्तु इसे हमें पौधों का एक सामान्य प्राण-व्यापार ही मानना चाहिये।

अत्यधिक उत्स्वेदन का प्रतिरोधः—उच्चर्म, त्वक्षा तथा वल्क का विकास, उच्चर्मकयुत रोम एवं शल्कादि के आवरण और सिक्थ आदि के स्तरों का निर्माण, आक्षीर की उपस्थिति, श्वसन-रन्ध्रों का संख्याह्रासन, गर्तों के अन्दर उनकी स्थिति तथा उनका तात्कालिक संकोच, पर्ण-तल एवं सम्पूर्ण शरीर का ह्रास, पत्रादि का कंटकादि में रूपान्तर, फलक का कुण्डलन या भंजन, उनका स्थिति-परिवर्तन और मोक्ष आदि विभिन्न व्यवस्थाओं द्वारा अत्यधिक उत्स्वेद से बचने का प्रयत्न पौधों द्वारा किया जाता है। भिन्न२ परिस्थिति में भिन्न२ प्रयत्नों की व्यवस्था होती है।

रसारोह (Ascent of sap):—अब हमें उस शक्ति पर विचार करना है जिसके कारण प्रचूषित जल पत्तिओं तक पहुंचने में समर्थ होता है। प्रचूषित जल का ऊपर चढ़ना रसारोह कहा जाता है। रसारोह के कारणों के सम्बन्ध में कई वादों का समय २ पर जन्म हुआ परन्तु रसारोह का कारण ठीक २ न जाना जा सका। कुछ लोगों ने ऊर्ध्ववाहिनिओं के केशाल-बल (Capillarity force) को और कुछ लोगों ने मूल-निपीड़ को रसारोह के लिये पर्याप्त कारण सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु केशाल-बल रसारोह के लिये पर्याप्त न निकला और मूल-निपीड़ सर्वदा उपस्थित न रहने के कारण रसारोह का कारण नहीं माना जा सका। कुछ वैज्ञानिकों ने रसारोह में ऐसी शक्तिओं के कर्तृत्व की कल्पना की जो प्राचीन वादों की अचिन्त्य और दैवी शक्तिओं के समान मानी जा सकती हैं। इन सब वादों का अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है।

इस समय रसारोह के लिये **संलाग-वाद** (Cohesion theory) सब से उपयुक्त माना जाता है। इसके अनुसार रसारोह में दो शक्तियाँ काम करती हैं। उत्स्वेदन के कारण मध्यपर्णोति की कोशाओं में जब जल की कमी होती है तो उनके कोशा-रस का आसृतीय निपीड़ अधिक हो जाता है और वे ऊर्ध्व-वाहिनिओं से जल का आकर्षण करती हैं। इस तरह उनमें जो प्रचूषण-बल (Suction force) उत्पन्न होता है वह लगभग २० वायुमण्डल के बराबर हो सकता है। जल के अणुओं में संलाग-बल इतना अधिक होता है कि उत्स्वेदनज आकर्षण से वाहिनिओं का सम्पूर्ण जल-स्तम्भ उसी प्रकार ऊपर को खिंच जाता है जैसे एक सिरा पकड़ कर खींचने से सारी रस्सी खिंच उठती है। यहाँ आपत्ति यह की जाती है कि ऊर्ध्ववाहिनिओं में जगह २ प्रायः वायु के बुलबुले रहते हैं जिनसे जल-स्तम्भ का एकत्व नष्ट हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि बुलबुलों के रहने पर भी जल-स्तम्भ के खण्ड बुलबुलों के किनारों पर परस्पर मिले रहते हैं और समस्त जल-स्तम्भ का एकत्व नष्ट नहीं होने पाता। अतः पर्ण-कोशाओं के उत्स्वेदनज आकर्षण का प्रभाव नीचे तक कार्यकर होता है। इन बुलबुलों और ऊर्ध्ववाहिनिओं की अनुप्रस्थ भित्तिओं का प्रभाव केवल उत्स्वेद-वाह के वेग पर सम्भवतः पड़ता है।

वायु-प्रसारण:—पौधे प्र ज$_2$ और जारक को प्रायः वायुमण्डल से लेते हैं। केवल जलमग्न पौधों में इनका विलयन के रूप में प्रचूषण होता है। स्थलज वनस्पतिओं में भी इन वातिओं का प्रचूषण विलयन के ही रूप में होता है। कोशा-भित्ति और प्ररस में जो जल रहता है उसमें इन वातिओं का पहले विलयन होता है और तब कोशाओं के अन्दर इनका प्रवेश होता है। जारक का प्रचूषण अधिचर्म से भी हो जाता है क्योंकि वायुमण्डल में इसकी मात्रा बहुत अधिक होती है परन्तु प्रज$_2$ को भीतर लेने के लिये श्वसन-रन्ध्रों की आवश्यकता पड़ती है। इन वातिओं का प्रसारण समीपवर्त्ती कोशाओं में विलयन के ही रूप में होता है। अन्तराकोश अवकाशों में, जो उद्भिज-शरीर में संतत क्रम में उपस्थित रहते हैं, इनका वितरण वातीय अवस्था में होता है और इनकी गति की दिशा ताप और निपीड़ पर निर्भर करती है। नम ज़मीन तथा जल में होने वाले पौधों में अन्तराकोश अवकाश बहुत अधिक होते हैं जिससे उनके शरीर के अन्दर एक स्वतन्त्र वायुमण्डल की व्यवस्था होती है।

परिच्छेद १२

खाद्य पदार्थों का निर्माण

चयात्मक क्रियायें—पौधे बाहर से जिन पदार्थों को ग्रहण करते हैं उनमें जल एवं विविध प्रकार के खनिज लवण जो जल में प्रविलीन होकर मूल-रोमों से प्रविष्ट होते हैं और प्रांगार-द्विजारेय वाति जो पत्रादि हरित भागों में प्रायः उनके श्वसन-रन्ध्रों से वायु के साथ प्रवेश करती हैं, मुख्य हैं। उद्भिज-शरीर में जो पदार्थ पाये जाते हैं उनमें शर्करा, मण्ड, स्नेह, वसा और प्रोभूजिन श्रेणी के प्रांगारिक पदार्थों का आधिक्य होता है। इससे यह मालूम होता है कि भीतर के पदार्थों का भीतर ही निर्माण होता है। वे बाहर से नहीं आते जैसा कि प्राणि-सृष्टि का नियम है। वनस्पतिओं की यह अपनी प्रधान विशेषता होती है। वनस्पतियाँ बाहर से जिन सामान्य पदार्थों को लेती हैं उनसे ही शर्करादि की उत्पत्ति होनी चाहिये और होती भी है। चूँकि शर्करादि पदार्थ जो उच्चतर श्रेणी के पदार्थ हैं जल एवं प्र ज$_2$ आदि निम्न कोटि के पदार्थों से उत्पन्न होते हैं अतः इनका निर्माण जिन रासायनिक क्रियाओं द्वारा होता है वे संश्लेषणात्मक होती हैं। इन्हीं पदार्थों के कारण शरीर की अभिवृद्धि होती है इसलिये इन्हें **चयात्मक** (Anabolic) क्रियायें भी कहते हैं। इन क्रियाओं में पहले प्रांगार-प्रधान द्रव्यों की उत्पत्ति होती है जिनमें शर्करा और मण्ड श्रेणी के पदार्थ मुख्य हैं और जिन्हें **प्राङ्गोदीय** (Corbohydrates) पदार्थ कहते हैं। प्रांगोदीय पदार्थों के अतिरिक्त अन्य प्रांगारिक पदार्थों की संश्लेषणात्मक उत्पत्ति के लिये प्रांगोदीय पदार्थों की आवश्यकता होती है। ये बाद की क्रियायें हैं जिनमें भूयाति आदि आवश्यक तत्त्वों का परिपचन होता है। अतः चयात्मक क्रियाओं में पहले प्रांगार-परिपचन और फिर भूयाति-परिपचन होता है। मुख्य २ चयात्मक क्रियाओं का इन्हीं दो मौलिक क्रियाओं में समावेश किया जाता है।

प्रांगार-परिपचन (Corbon assimilation):—पौधों को सम्पूर्ण प्रांगार की उपलब्धि प्रांगार-द्विजारेय के रूप में केवल वायुमण्डल से होती है। जलमग्न पौधे जल में प्रविलीन प्रज$_2$ से अपना काम चलाते हैं। जिन संवर्ध्य विलयनों में पौधों की स्वास्थ्यपूर्ण वृद्धि होती है उनमें प्रांगार का लेश भी नहीं

होता। कुल प्रांगार केवल वायुमण्डल से मिलता है। वायुमण्डल में प्र ज$_2$ का अंश '०३ प्रतिशत होता है। यह सामान्य वायु के साथ प्रायः श्वसनरन्ध्रों के मार्ग से पत्रादि हरित अङ्गों से अन्दर प्रविष्ट होता है। अन्तराकोश अवकाशों में व्याप्त होकर वह कोशा-भित्तिओं के सम्पर्क में आता है और धीरे २ उस जल में प्रविलीन हो जाता है जो भित्तियों में व्याप्त रहता है। फिर तो कोशाओं के आसृतीय निपीड़ के प्रभाव में आ जाने से इसका प्रसारण होता है। यह क्रमशः उन कोशाओं में पहुंचता है जिनमें शादि-घटन होते हैं। शाद सम्पन्न कोशायें उद्भिज्ज शरीर की शर्करा-निर्माण शालायें होती हैं जिनमें शादि-घटन यन्त्र का काम करते हैं। शादि-यन्त्र सूर्य प्रकाश की ऊर्जा से चलते हैं और उत्पाद-द्रव्य शर्करा होती है। उत्पादन की यह क्रिया प्रकाश से होती है और इसमें प्रज$_2$ से उच्चतर प्रांगारिक पदार्थ शर्करा का निर्माण होता है। इसलिये इस क्रिया को **भा-संश्लेषण** (Photosynthesis) भी कहते हैं।

भा-संश्लेषण के उत्पाद-द्रव्यः— इस क्रिया में सर्व प्रथम निरूप्य द्रव्य प्रायः मण्ड होता है। इसकी उपस्थिति का पता नीरजी विलयन से लगाया जाता है। यदि किसी स्वस्थ पौधे की हरी पत्तिओं को प्रकाश में कई घण्टे रहने के बाद तोड़ कर पानी में उबालें और फिर उष्ण सुषव में रख दें तो कुछ समय के बाद उनका पर्ण-शाद सुषव में उतर आता है और पत्तियाँ विरंजित हो जाती हैं। अब, यदि उन पर नीरजी विलयन छोड़ा जाय तो वे नील-कृष्ण वर्ण की हो जाती हैं। मण्ड के ही कारण ऐसा वर्ण-परिवर्तन होता है। यदि पौधे को लगभग दो दिनों तक अन्धकार में रख दें और उसके बाद उसकी पत्तिओं की नीरजी विलयन से परीक्षा करें तो उनमें उपर्युक्त प्रकार का वर्ण-परिवर्तन नहीं होता। यदि इस मण्ड-विरहित पत्रों वाले पौधे को फिर प्रकाश में रखें तो उसकी पत्तिओं में शीघ्र मण्ड की उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है। अधिकांश पौधों की पत्तिओं में भा-संश्लेषण के फलस्वरूप सबसे पहले मण्ड-कण प्रगट होते हैं। त्रायमाण जाति (Gentian) और अनेक एक-बीजपत्र पौधों में मण्ड के स्थान में केवल शर्करा की उत्पत्ति होती है। मण्डोत्पादक पत्तिओं में भी पहले शर्करा ही की उत्पत्ति होती है पर यहाँ कोशारूपी निर्माणकेन्द्रों में शर्करा का संकेन्द्रण अधिक होने पर उसका अविलेय मण्ड कणो में परिवर्तन हो जाता है। उत्पाद-द्रव्य के तात्कालिक संचय के लिये यह परिवर्तन होता है।

भा-संश्लेषण के लिये आवश्यक दशायें:—ऊपर्युक्त प्रयोग में अंधकार में रखा हुआ पौधा प्रकाश पाते ही मण्ड-निर्माण में लग जाता है। इससे यह आभास मिलता है कि प्रकाश इस क्रिया के लिये आवश्यक है। प्रकाश ही की तरह पर्ण-शाद और प्रांगार-द्विजारेय भी इस क्रिया के लिये अनिवार्य होते हैं। यदि अंधकार में पड़े हुये पौधे की मण्ड-विरहित पत्तिओं को तोड़ कर ऐसे बोतलों में रख दें जिनमें उन्हें प्र ज$_2$ और प्रकाश में से कोई एक ही उपलब्ध हो तो पत्तिओं में मण्ड की उत्पत्ति नहीं होती। यदि ऐसा ही प्रयोग क्रोटन सदृश पौधों की पत्तिओं को लेकर किया जाय और उन्हें प्रकाश तथा प्र ज$_2$ दोनों उपलब्ध हों तो केवल हरित भागों में मण्ड-निर्माण होता है। जिन स्थलों पर पर्णशाद नहीं होता वहाँ मण्ड नहीं बनता। इन प्रयोगों से यह सिद्ध होता है कि इस क्रिया के लिये प्रकाश, प्र ज$_2$ और पर्ण-शाद तीनों ही आवश्यक हैं।

भा-संश्लेषण में जारक की उत्पत्ति :—यदि वैलिस्नीरिया अथवा किसी अन्य जलमग्न वनस्पति की पत्र-शाखाओं को निवाप में रख कर पानी से भरे हुये किसी पात्र में निवाप को उलट कर रख दें और निवाप-दण्ड के ऊपर पानी से भरे हुये एक काच-नाल को उलट कर रख दिया जाय तो सम्पूर्ण साधित्र को प्रकाश में रखने पर थोड़ी देर में वायु के बुलबुले वनस्पति से निकल कर काच-नाल के सिरे पर एकत्र होने लगते हैं। काच-नाल में एकत्र वायु की परीक्षा करने पर उसमें जारक का आधिक्य पाया जाता है। यदि इस प्रयोग में केवल उबाले हुए जल का उपयोग किया जाय अर्थात् बड़े पात्र और काचनाल में उबाला हुआ जल रहे तो वायु के बुलबुले नहीं निकलते। यहां उबाले हुए पानी में प्रांगार-परिपचन की क्रिया नहीं होती और इसी लिये जारक की उत्पत्ति नहीं होती। यह सिद्ध किया गया है कि भा-संश्लेषण में जितना प्र ज$_2$ खर्च होता है लगभग उतना ही जारक बाहर निकलता है।

भा-संश्लेषण का कार्य-विधान:— इस व्यापार में जो रासायनिक परिवर्तन होता है उसे ६प्र ज$_2$ + ६उ$_2$ ज = प्र$_६$ उ$_{१२}$ ज$_६$ + ६ज$_2$ ($6CO_2 + 6H_2O = C_6H_{12}O_6 + 6O_2$) सूत्र से व्यक्त किया जा सकता है। परन्तु इस सूत्र के अनुसार होने वाली रासायनिक क्रिया का वेग बहुत मन्द होना चाहिये और वास्तविकता इसके विरुद्ध है। इससे यह मालूम होता है कि यह ऐसी सरल क्रिया नहीं है जैसी ऊपर के सूत्र से मालूम होती है। बल्कि इसमें

एक के बाद दूसरे अनेक शृंखलाबद्ध परिवर्तन होते हैं जिन सब की जानकारी अभी हमें नहीं है। इसलिये यह कहना भी कठिन है कि इस क्रिया में सर्वप्रथम संश्लिष्ट पदार्थ कौन हो सकता है। कुछ वैज्ञानिकों की ऐसी धारणा है कि सम्भवतः पहले फार्मिक अम्ल और फिर इसके ह्रासन से फार्मेल्डीहाइड की उत्पत्ति होती है। शीघ्र ही फार्मेल्डीहाइड के छः अणुओं के रासायनिक योग से शर्करा के एक एक अणु बनते हैं। शर्करा की घनता बढ़ने पर इसका मण्ड में परिवर्तन हो जाता है। इन परिवर्तनों को निम्नलिखित सूत्रों द्वारा व्यक्त किया जाता है—

(१) २ प्रज$_{२}$ + २उ$_{२}$ज = २ उप्रजजउ + ज$_{२}$

(२) २ उप्रजजउ = २ उप्रउज + ज$_{२}$

(३) ६ उप्रउज = प्र$_{६}$उ$_{१२}$ज$_{६}$

(४) अ (प्र$_{६}$उ$_{१२}$ज$_{६}$) = (प्र$_{६}$उ$_{१०}$ज$_{५}$) अ + अ (उ$_{२}$ज)

जैसे अन्य कल्पित विधानों को स्वीकार करने में बाधायें हैं उसी प्रकार इसे भी स्वीकार करने में कई अड़चनें आती हैं।

प्रकाश की उपयोगिता:—संश्लेषणात्मक परिवर्तनों में ऊर्जा का व्यय होता है। यह ऊर्जा यहाँ सूर्य प्रकाश से मिलती है। इसे उपयुक्त रूप में लाने के लिये शादि-घटन में कोई यान्त्रिक व्यवस्था रहती है जिसके द्वारा ऊर्जा का रूपान्तर होता है। यदि ऐसा न होता तो उद्भिज-शरीर के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रज$_{२}$ का प्रकाश की उपस्थिति में सामान्य ताप से शर्करा में परिवर्तन सम्भव होता।

श्वेत प्रकाश में सात विभिन्न वर्णों की किरणों का समन्वय होता है इसलिये इस क्रिया में इन किरणों का सापेक्ष महत्त्व भी जानना आवश्यक है। ऐसा देखा गया है कि नील और रक्त किरणों में यह क्रिया अधिकतम वेग से होती है। यह भी देखा गया है कि पर्ण-शाद केवल नील और रक्त किरणों का शोषण करता है और इस क्रिया में इन्हीं किरणों का उपयोग होता है। पत्रपृष्ठ को उपलब्ध प्रकाश का केवल ३ प्रतिशत शादि-घटनों के काम में आता है। शेष अंश अन्य भागों द्वारा उद्वाष्पन आदि कार्यों में खर्च होता है।

पर्ण-शाद:—यह शाद 'अ', शाद 'ब' पीतक और गर्जरि नामक चार रंजक पदार्थों से बना होता है। इनमें केवल दोनों शाद भा-संश्लेषण में कार्यकर होते हैं। इनकी उत्पत्ति भी प्रकाश की उपस्थिति में होती है। अन्धकार में उगने वाले पौधों में

प्रायः शाद की उत्पत्ति नहीं होती और पत्तियाँ पीली होकर रह जाती हैं। अयस् तत्व की अनुपस्थिति में भी शाद का निर्माण नहीं होता। भ्राजातु स्वयं शाद-अणु का एक संघटक तत्व होता है अतः इसकी उपस्थिति भी अनिवार्य होती है। प्रकाश तथा अयस् तत्व की अनुपस्थिति से पौधों में पीतता आने के अतिरिक्त अन्य अनेक रचनाकारिकीय विशेषतायें उत्पन्न होती हैं। दीर्घ समय तक अंधकार में रहने अथवा बहुत तीव्र प्रकाश और उच्च ताप में शाद का विघटन हो जाता है। सुषव और बेन्ज़ीन की सहायता से दोनों शाद अन्य रंजक अवयवों से पृथक् किये जा सकते हैं। यदि रश्मिमाला और संनेत्र के बीच में शाद-विलयन रख दिया जाय तो रंगावलि के रक्त और नील प्रदेशों में काली पट्टियाँ बन जाती हैं। इसका कारण यह है कि शाद इन दोनों प्रकार की किरणों को ले लेता है। इसीलिये ऊपर बतलाया गया था कि भा-संश्लेषण में केवल नील और रक्त किरणों का उपयोग होता है।

भा-संश्लेषण का वेगः—ताप, प्रकाश की तीव्रता और प्र ज$_2$ की मात्रा का इस क्रिया के वेग पर प्रभाव पड़ता है। इन तीनों को हम सीमास्थापक कारक (Limiting factor) कहते हैं। सामान्य प्राकृतिक अवस्थाओं में प्र ज$_2$ सीमा-स्थापन का कार्य करता है। पत्तियों को सामान्यतः जितना प्रकाश और ताप प्रकृति से मिलता है उतने के लिये वायुमण्डल का प्र ज$_2$ तब तक पर्याप्त नहीं हो सकता जब तक उसकी प्रतिशतता ·२५ नहीं हो जाती। परन्तु प्र ज$_2$ सामान्यतः वायु में केवल ·०३ प्रतिशत होता है। अतः जब तक ·२५ प्रतिशत की सीमा प्र ज$_2$ की नहीं पहुँचती तब तक इसकी मात्रा जितनी ही अधिक बढ़ाई जायगी इस क्रिया का वेग उतना ही अधिक बढ़ेगा। इसके बाद वेग-वृद्धि तभी होगी जब प्रकाश या ताप बढ़ाया जायगा।

यदि प्र ज$_2$ और ताप पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों तो प्रकाश की तीव्रता के अनुपात में भी वेग की वृद्धि होती है। सामान्य अवस्थाओं में प्रकाश की तीव्रता आवश्यकता से अधिक होती है परन्तु बहुत सघन जंगलों में वृक्षों के नीचे होने वाली छोटी २ वनस्पतियों को पर्याप्त प्रकाश नहीं मिलता। वायुमण्डल के ·०३ प्रतिशत प्रज$_2$ का भी इतने प्रकाश में उपयोग नहीं हो पाता। ऐसे स्थानों में बहुत से पौधे इसी लिये पतझड़ के समय अपनी वृद्धि करते हैं जब वहां के वृक्ष नग्न हो जाते हैं और उन्हें पर्याप्त प्रकाश मिलने लगता है। इन दिनों वे

अत्यधिक द्रव्य-निर्माण और संचय करके साल भर के लिये फुरसत पा जाते हैं। ताप भी सामान्य अवस्थाओं में प्रायः पर्याप्त होता है। केवल शीत प्रदेशों अथवा शीतोष्ण कटिबन्धों में शीतकाल में ताप प्रायः सीमास्थापक हो जाता है।

सीमास्थापन के अतिरिक्त उपर्युक्त तीनों कारकों की अत्यधिक मात्राओं का वेग पर उलटा प्रभाव पड़ता है। २५° ताप जब तक नहीं हो जाता ताप-वृद्धि का प्रभाव उस क्रिया पर वैसा ही होता है जैसा अन्य रासायनिक क्रियाओं पर। प्रत्येक १०° ताप की वृद्धि से वेग दूना हो जाता है। एक सीमा पर पहुँच जाने पर ताप-वृद्धि से वेग बढ़ने की अपेक्षा कम होता है। किसी उच्च तापांश पर पौधे को जितना ही देर तक रखा जाता है उतनी ही अधिक उसके वेग में शिथिलता आती है। इसका कारण यह है कि उच्च तापांश पर अधिक देर तक रहने के कारण स्वयं प्ररस की कर्तृत्वशक्ति क्षीण होने लगती है और वेग में मन्दता आने लगती है। चूँकि भा-संश्लेषण को भा-रासायनिक क्रिया बतलाया गया है अतः ताप का उपर्युक्त प्रभाव नियमतः न पड़ना चाहिये। ताप-वृद्धि से इस क्रिया के वेग में वृद्धि होने से यह सिद्ध होता है कि इस व्यापार में जितनी रासायनिक क्रियायें होती हैं उनमें केवल कुछ क्रियायें प्रकाश की अपेक्षा रखती हैं। अन्य क्रियाओं पर प्रकाश का प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रकाश और प्र ज$_2$ की अत्यधिक मात्राओं का भी वेग पर उलटा प्रभाव पड़ता है। बहुत तीव्र प्रकाश में शाद का विघटन होने लगता है और प्र ज$_2$ की घनता बढ़ने पर प्ररस पर इसका विषैला प्रभाव पड़ता है। प्राकृतिक अवस्थाओं में वायुमण्डलिक प्र ज$_2$ की प्रतिशतता प्रायः स्थिर होती है परन्तु हमें ध्यान रखना चाहिये कि शादि-घटनों को उपलब्ध होने वाली प्र ज$_2$ की मात्रा श्वसन-रन्ध्रों की तात्कालिक अवस्था पर भी निर्भर करती हैं। यदि श्वसन-रन्ध्र किसी कारण से बन्द हो जाते हैं तो अन्य दशाओं के अनुकूल रहने पर भी वेग मन्द पड़ जाता है अथवा क्रिया ही बन्द हो जा सकती है।

भूयाति-परिपचन (Nitrogen Assimilation)

भूयाति की आवश्यकता और प्राप्ति:— यद्यपि भूयाति शुष्क उद्भिज्ज-शरीर में केवल १-३ प्रतिशत होता है परन्तु यह शरीर के लिये अनिवार्य है। प्ररस, प्रोभूजिन तथा पर्ण-शाद जैसे पदार्थों का यह एक मुख्य संघटक अवयव होता है इसलिये शारीरिक वृद्धि के लिये यह परम आवश्यक होता

है। पत्तियों की वृद्धि और अत्युत्पादन में इसका विशेष उपयोग होता है। प्रकृति की यह एक विचित्र बात है कि यद्यपि वायुमण्डल में लगभग ७८ प्रतिशत भूयाति होता है और शारीरिक विकास के लिये यह बहुत उपयोगी होता है फिर भी वायुमण्डलिक भूयाति का प्रत्यक्ष उपयोग उद्भिज-शरीर द्वारा सम्भव नहीं है। यह तत्त्व उन्हें भूयीय लवणों के रूप में केवल पृथ्वी से प्राप्त होता है। पृथ्वी में यह अनेक प्रांगारिक और अप्रांगारिक पदार्थों के रूप में विद्यमान रहता है। अप्रांगारिक पदार्थों में मुख्यतः दहातु और चूर्णातु के भूयीय और **भूयित** (Nitrite) तथा तिक्तातु और उसके योग पाये जाते हैं। प्रांगारिक पदार्थों में प्रोभूजिन मुख्य होते हैं। परन्तु, चूंकि मूल-रोमों द्वारा केवल भूयीय-रूप लवणों का प्रचूषण होता है इसलिये उपर्युक्त सभी भूयाति योगों का अन्ततः भूयीय लवणों में परिवर्त्तन हो जाता है। इस कार्य के लिये प्रकृति शाकाणुओं और कुछ कवकों का सहारा लेती है। किसी २ पौधे में तिक्तातु योगों के बहुत दुर्बल विलयन का भी कभी २ साक्षात् उपयोग होता है परन्तु इनके प्रबल विलयन विषैले प्रभाव के होते हैं। अधिकतर इनका भी पहले भूयीय लवणों में रूपान्तर होता है। **नाइट्रोसोमोनाज़** (Nitrosomonas) नामक शाकाणु इन्हें पहले भूयित के रूप में लाते हैं फिर नाइट्रोबैक्टर नामक शाकाणु भूयितों को भूयीयों में बदलते हैं। पृथ्वी में पाये जाने वाले प्रोभूजिनों की प्राप्ति प्राणियों और उद्भिजों के मृतक शरीर से होती है परन्तु पृथ्वी के सम्पर्क में आते ही मिट्टी में होने वाले अणु-जीव मृत शरीर के प्रोभूजिनों का विबन्धन प्रारम्भ कर देते हैं। पहले के कुछ रासायनिक परिवर्तन बिना जारक के होते हैं जिनमें क्रमशः एमिनो अम्ल श्रेणी के पदार्थ और तिक्तातु के योग बनते हैं। फिर, भूयित-और भूयीय-शाकाणुओं द्वारा वे भूयीय लवणों के रूप में आ जाते हैं। तिक्तातु योगों के कुछ अंश का अन्य प्रकार के शाकाणुओं द्वारा **विभूयन** (Denitrification) हो जाता है जिससे स्वतन्त्र भूयाति उत्पन्न होकर वायुमण्डल में मिल जाता है।

वायुमण्डलिक भूयाति का निवेशन (Fixation of atmospheric nitrogen):—वायुमण्डलिक भूयाति का अन्य तत्वों के साथ रासायनिक योगों में परिवर्तित होना भूयाति का निवेशन या भूयाति-बन्धन कहा जाता है। भूयाति-बन्धन प्रकृति में निम्नांकित तीन प्रकार से होता है:—

(१) **विद्युत्-मोच** (Electric discharge) **द्वाराः**—बिजली के चमकने पर वायुमण्डलिक भूयाति जारक और फिर जल से मिलकर कई रासायनिक परिवर्तनों के बाद भूयिक और भूय्य अम्लों में बदल जाता है और जल के साथ बह कर पृथ्वी में चला जाता है। वहाँ दहातु तथा चूर्णातु धातुओं से मिल कर इनसे भूयीय और भूयित लवण बन जाते हैं।

(२) **स्वतन्त्र-जीवी शाकाणुओं द्वाराः**—पृथ्वी में ऐसे अनेक शाकाणु होते हैं जो अपने शरीर के अन्दर वायुमण्डलिक भूयाति से एमिनो अम्ल और फिर प्रोभूजिनों का निर्माण करने में समर्थ होते हैं। इनमें एज़ोटोबैक्टर और क्लास्ट्रीडियम प्रजाति के शाकाणु मुख्य हैं। इनकी कर्म-कुशलता उपलब्ध प्रांगोदीय पदार्थों की मात्रा पर निर्भर करती है जिनके जारण से उन्हें ऊर्जा मिलती है।

(३) **सहजीवी शाकाणुओं द्वाराः**—शिम्बि-धान्यकुल की अनेक वनस्पतियों के मूल के ऊपर ग्रन्थिकायें (Nodules) होती हैं जिनमें सहजीवी शाकाणु रहते हैं। ये शाकाणु मूल-रोमों से प्रवेश करके वाह्यक में पहुँच कर वहाँ घर बना लेते हैं। इनके कारण वाह्यक की कोशाओं को बढ़ने की उत्तेजना मिलती है जिससे उपर्युक्त ग्रन्थिकायें तैयार हो जाती हैं। इन ग्रन्थिकाओं में वायुमण्डलिक भूयाति का बन्धन होकर एमिनो-योगों की उत्पत्ति होती है। जिन पौधों के मूल में इन्हें आश्रय मिलता है वे इन्हें प्रांगोदीय पदार्थ भी पहुँचाते हैं और ये शाकाणु बदले में उन्हें स्वनिर्मित भूयाति-योगों का उपयोग करने का अवसर देते हैं।

प्रोभूजिन आदि भूयातियुक्त खाद्यपदार्थों की उत्पत्तिः—उद्भिज-शरीर में अनेक प्रकार के प्रांगारिक और अप्रांगारिक भूयाति-योग पाये जाते हैं। प्रांगारिक पदार्थों में अनेक प्रकार के प्रोभूजिन, एमिनो अम्ल, एमाइड, एल्कोलायड, ग्लूकोसाइड तथा पर्णशाद और अप्रांगारिक पदार्थों में भूयीय और तिक्तातु के लवण मुख्य होते हैं। इनमें भूयीय और तिक्तातु के लवण बहुत अल्प-मात्रा में होते हैं और इनका अधिकांश बाहर से आता है। एल्कोलायड और ग्लूकोसाइड श्रेणी के पदार्थ केवल विशेष अङ्गों में और बहुत कम मात्रा में पाये जाते हैं और प्रोभूजिन आदि के विश्लेषण से प्राप्त होते हैं। पर्ण-शाद के निर्माण और उपयोग की चर्चा पहले की जा चुकी है। अब केवल प्रोभूजिन,

एमिनो अम्ल और एमाइड श्रेणी के पदार्थ रह जाते हैं जो पौधों में अधिक मात्रा में पाये जाते हैं और जिनकी उत्पत्ति संश्लेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक दोनों प्रकार से होती है। प्रोभूजिन प्ररस-निर्माण के आधार-द्रव्य एवं प्ररस-विश्लेषण के उत्पाद-द्रव्य होते हैं और संचित खाद्य के रूप में बीज आदि में पाये जाते हैं। एमिनो अम्ल और एमाइड माध्यमिक पदार्थ हैं जो प्रोभूजिनों के चयापचय में उत्पन्न होते हैं।

प्रोभूजिन-संश्लेषण (Protien synthesis):—भूयीय लवणों का मूल-रोमों द्वारा प्रचूषण होता है और सम्भवतः मूल में ही इनका रासायनिक परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि वायव्य अङ्गों में ये प्रायः अत्यन्त अल्प मात्रा पाये जाते हैं। सम्भवतः भूयीय पहले भूयित के रूप में आते हैं और फिर इनसे तिक्तातु-योग बनकर तैयार होते हैं। प्रांगारिक अम्लों से मिल कर तिक्तातु-योग एमिनो अम्ल और एमाइड श्रेणी में बदल जाते हैं जिनसे अन्ततः प्रोभूजिन बनते हैं। प्रोभूजिनों का निर्माण पत्तिओं में होता है परन्तु माध्यमिक पदार्थोंका निर्माण मूल तथा काण्ड में ही सम्भवतः हो गया रहता है। उपर्युक्त रासायनिक परिवर्तनों के लिये ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है जो प्रांगोदीय पदार्थों के जारण से प्राप्त होती है। प्रांगारिक अम्लों की उत्पति भी प्रांगोदीय पदार्थों से ही होती है इसलिये प्रोभूजिन-निर्माण उन्हीं स्थलों पर होता है जहाँ प्राङ्गोदीय पदार्थों का आधिक्य रहता है। प्रांगोदीय पदार्थों की उत्पत्ति में प्रकाश और पर्ण-शाद का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है परन्तु प्रोभूजिन-निर्माण पर उनका केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ सकता है। प्रोभूजिन-संश्लेषण सब से अधिक पत्तिओं और वर्धनशील भागों में होता है।

पदार्थों का स्थानान्तरण और संचय

खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति उद्भिज्ज-शरीर में केवल निश्चित स्थानों पर होती है परन्तु उनका उपयोग समस्त शरीर में होता है। शरीर-रचना में जिन आधार-वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे साक्षात् या परम्परया इन्हीं खाद्य पदार्थों उत्पन्न होते हैं और शरीर के विभिन्न व्यापारों के लिये ऊर्जा भी इनसे ही मिलती अतः इनकी थोड़ी-बहुत आवश्यकता शरीर के प्रत्येक जीवित देहाणु को होती है। किन्तु सब स्थानों पर और हर समय इनकी आवश्यकता एक-सी नहीं होती। इन्हीं कारणों से उद्भिज्जों में इनके सञ्चय और स्थानान्तरण की व्यवस्था

करनी पड़ती है। ऐसे तो इनका संचय साधारणतः वाह्यक तथा मज्जक-किरण आदि तनुभित्तिक ऊतिओं में रहता है परन्तु अनेक पौधों में संचय के ही निमित्त कन्द आदि विभिन्न प्रकार के रूपान्तरित अवयवों की व्यवस्था रहती है। निर्माण केन्द्रों से इन संचय-अङ्गों में इनका जाना और जब जहाँ इनको आवश्यकता पड़े तब तहाँ इनका पहुँच जाना इनका स्थानान्तरण (Translocation) कहा जाता है।

खाद्य पदार्थों में मण्ड तथा शर्करा आदि प्राङ्गोदीय पदार्थ, वसा, तैल और प्रोभूजिन श्रेणी के पदार्थ प्रधान होते हैं। संचयावस्था में ये पदार्थ अधिकतर सान्द्र और अविलेय रूप में रहते हैं अथवा इनमें कुछ ऐसे रूप में भी रहते हैं कि उनका आणविक भार बहुत अधिक होने के कारण उनमें आसृतीय निपीड़ बहुत कम होता है। प्रांगोदीय पदार्थ मण्ड, इक्षु-शर्करा, द्राक्षा-शर्करा, इन्यूलिन और अर्ध-कोशाधुओं के और प्रोभूजिन समितायाः-कणों या विलयनों के रूप में पाये जाते हैं। वसा भी सान्द्र या द्रव रूप में पायी जाती है। द्रव रूप वसा को ही तैल या **अनुत्पत तैल** (Fixed oil) की संज्ञा दी जाती है। संचित पदार्थों के स्थानान्तरण में कुछ प्ररस-निर्मित आवेजनिक पदार्थों (Protoplasmic Catalysts) की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें विकर कहते हैं। चूँकि संचित पदार्थ प्रायः अविलेय और अप्रसार्य रूप में रहते हैं इसलिये जब इनका स्थानान्तरण होने को होता है तो इन्हीं विकरों की सहायता से इन्हें विलेय और प्रसार्य बना दिया जाता है। जिन विकरों की सहायता से खाद्य पदार्थों को विलेय बनाया जाता है उन्हें पाचक विकर कहते हैं। पाचक विकर प्रायः जलांशनेद प्रकृति के होते हैं और जलांशन के द्वारा उनको प्रविलेय रूप दिया जाता है।

विकर (Enzymes):-जिन पदार्थों की उपस्थिति मात्र से रासायनिक क्रियाओं की वेगवृद्धि होती है और जो स्वयं उन क्रियाओं में भाग नहीं लेते उन्हें **आवेजक** (Catalysts) कहते हैं। शरीर में ऐसी अनेक क्रियायें होती रहती हैं जिनके लिये साधारणतः ताप के रूप में बहुत अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है परन्तु आवेजकों के कारण वे सामान्य ताप पर सम्पन्न होती रहती हैं। उद्भिज-शरीर के इन आवेजकों को विकर कहते हैं। प्ररस से इनकी उत्पत्ति होती है और प्ररस की तरह ये श्लेष्माभीय प्रकृति के होते हैं। ६०° ताप के नीचे तापवृद्धि से इनकी कर्मण्यता की मात्रा बढ़ती है परन्तु इसके ऊपर प्ररस की

तरह यह अकर्मण्य हो जाता है। विकरप्रेरित क्रियायें प्रतिवर्तिनी (Reversible) होती हैं और एक ही विकर अग्र-क्रिया और पश्च-क्रिया दोनोंके आवेजन का कारण होता है। प्रायः प्रत्येक आवेजनिक क्रिया के लिये विशिष्ट विकर होते हैं। विकर जल में विलेय होते हैं और बाहर निकाल कर सुखाने पर प्रायः श्वेत चूर्ण के सदृश होते हैं। शरीर के बाहर भी ये आवेजन का कार्य करते हैं।

उद्भिज-शरीर के अन्दर होने वाली आवेजनिक क्रियाओं में प्रायः जलांशन (Hydrolysis), जारण (Oxidation), प्रहासन (Reduction), अतिजारण (Peroxidation) और विजलीयन (Dehydrolysis) के कार्य होते हैं और इन्हें प्रेरित करने वाले विकर क्रमशः जलांशनेद, जारणेद, प्रहासनेद, अतिजारणेद और विजलीयनेद कहे जाते हैं। ऊपर बतलाया गया है कि पाचक विकर जलांशनेद प्रकृति के होते हैं। उनमें मण्ड को डेक्स्ट्रीन में, डेक्स्ट्रीन को माल्टोज़ में, माल्टोज़ को द्राक्षा-शर्करा में, इक्षु-शर्करा को द्राक्षा-शर्करा और फल-शर्करा में, इन्यूलिन को फल-शर्करा में, अर्द्ध-कोशाघु को मैनोज़ और गैलेक्टोज़ में, ग्लूकोसाइड को शर्करा आदि में, वसा और तैलों को ग्लीसेराल तथा वसा-तैलों में, प्रोभूजिनों को पेप्टोनों में और पेप्टोनों को एमिनो अम्लों में जलांशन-क्रिया द्वारा बदलने वाले विकर क्रमशः डायस्टेज़' डेक्स्ट्रीनेज़, माल्टेज़, अपवर्तेद (Invertase) इन्यूलेज़, साइटेज़, ग्लूकोसाइडेज़, लापेज़, पेप्टेज़ और इरिप्टेज़ कहे जाते हैं।

श्वसन-क्रिया (Respiration)

अपचयात्मक क्रियायें (Katabolic processes):—संश्लेषणात्मक क्रियाओं में प्र $ज_2$ तथा $उ_2ज$ सदृश सरल कोटिके रासायनिक पदार्थों का शर्करा आदि जटिल और उच्च कोटि के पदार्थों में परिवर्तन होता है इसलिये इनमें ऊर्जा लगानी पड़ती है जो अधिकतर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सूर्य-प्रकाश से मिलती है। अपचयात्मक क्रियाओं में इन्हीं पदार्थों का पुनः विश्लेषण होता है अर्थात् शर्करा आदि जटिल पदार्थों का प्र $ज_2$ आदि सरल पदार्थों में फिर परिवर्तन हो जाता है। इसलिये इन परिवर्तनों में जो ऊर्जा पहले लगाई गई थी वह अब मुक्त हो जाती है और उसे वनस्पतियाँ अपने अन्य कामों में लगाती हैं। अतः यह कहना चाहिये कि उच्च और जटिल पदार्थों के निर्माण

में जो शक्ति बाहर से आकर खर्च होती है वह वस्तुतः इन पदार्थों में संचित कर दी जाती है और जब उनका फिर विश्लेषण होता है तो वही संचित शक्ति इस रूप में मुक्त होती है कि पौधे उसे अपने काम में ला सकते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि चयापचयात्मक क्रियाओं का एक प्रधान लक्ष्य सूर्य-प्रकाश की ऊर्जा का रूपान्तर करना होता है। शरीर के अनेक प्राण-व्यापार बिना ऊर्जा के सम्पन्न नहीं हो सकते; ऊर्जा की उत्पत्ति शरीरगत उच्च श्रेणी के पदार्थों के विश्लेषण से होती है और विश्लेषण प्रायः जारक वाति की सहायता से होता है। इसलिये यदि जारक को हम प्राण-वायु कहें और श्वसन क्रिया को, जिसमें जारक को भीतर लिया जाता है और प्र $ज_२$ को बाहर निकाला जाता है, ऊर्जा विमोचन कहने लग जाँय तो असंगत न होगा।

सजीव पदार्थों में ऊर्जा-विमोचन अधिकतर सर्वदा वायुमण्डलिक जारक की सहायता से होता है। यह क्रिया उनके प्रत्येक सजीव कोशा में होती है। प्र $ज_२$ की तरह जारक का भी वायु के साथ श्वसनरन्ध्रों द्वारा शरीर में प्रवेश होता है और अन्तराकोश अवकाशों में व्याप्त वायुमण्डल से कोशाओं द्वारा इसका प्रचूषण होता है। खाद्य पदार्थों में प्रांगोदीय पदार्थ मुख्य हैं जिनका जारण और विघटन होकर अन्ततः प्र $ज_२$, जल और ऊर्जा की उत्पत्ति होती है। प्र $ज_२$ वाति के रूप में फिर बाहर निकल जाता है। पौधे तथा जन्तु अधिकतर इसी तरह अपने प्रांगारिक पदार्थों का जारण करके ऊर्जा प्राप्त करते हैं। सामान्यतः जारक लेकर प्र $ज_२$ को बाहर निकालने की ही क्रिया को श्वसन-क्रिया कहते हैं जो प्राणियों तथा उद्भिज्जों में एक ही अभिप्राय और प्रकार से होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्राणिओं में प्रायः इस क्रिया के लिये पृथक् २ अङ्ग होते हैं और पौधों में यह बात नहीं होती। श्वसन-क्रिया में यदि द्राक्षा-शर्करा का पूर्ण जारण होकर प्र $ज_२$ की उत्पत्ति होती है तो उसका रासायनिक सूत्र $प्र_६ उ_{१२} ज_६ + ६ ज_२ = ६ प्र ज_२ + ६ उ_२ ज + ६७४$ उष (Calories) होना चाहिये। इस सूत्र से यह मालूम होता है कि इसमें जितना जारक खर्च होता है उतना ही प्र $ज_२$ बाहर निकलता है अर्थात् प्रांगार-परिपचन के ठीक विपरीत परिणाम होता है। यह दिखाने के लिये कि पौधे जन्तुओं की तरह प्रज$_२$ छोड़ते हैं निम्न-लिखित प्रयोग किया जा सकता है:—

पाँच बोतलों को रबर और काच-नालों से परस्पर जोड़ दिया जाता है। जै

बोतल रबर के कार्गों से बन्द रहते हैं और उनमें दो २ छिद्र होते हैं जिनमें समकोण पर मुड़े हुये काच-नाल डाले हुये रहते हैं। रबर-नालों के द्वारा बोतलों के काच-नाल परस्पर जोड़ दिये जाते हैं। पाँचवाँ बोतल एक चूषित्र-कूपी (Aspirator) से सम्बन्धित रहता है जिसे चालू कर देने पर सम्पूर्ण साधित्र (Apparatus) में वायु-प्रवाह जारी हो जाता है। वायु पहले बोतल में पहुँचने के पूर्व विक्षार-चूर्णक (Soda lime) के एक U-नाल से आती है जिससे वायुमण्डलिक प्र ज₂ का अधिकांश इस नली में जज़्ब कर लिया जाता है। जो कुछ अंश बच जाता है वह पहले बोतल में पहुँच कर हरिजा जल (Baryta water) में रह जाता है जो पहले बोतल में रहता है और जिसमें वायु को लाने वाला काच-नाल डूबा रहता है। दूसरे बोतल में भी हरिजा जल होता है परन्तु इसमें वायु के आने पर अवक्षेप नहीं आता और यह निश्चय हो जाता है कि तीसरे बोतल में जाने वाली वायु में प्र ज₂ नहीं रह गया है। तीसरे बोतल में भिगोये हुये या अर्धांकुरित बीज रखे हुये रहते हैं। चौथे और पाँचवें बोतलों में भी हरिजा जल रहता है। प्रयोग प्रारम्भ करने के कुछ समय बाद चौथे बोतल में अवक्षेप आने लगता है जिससे यह सिद्ध होता है कि चौथे बोतल में प्रविष्ट होने वाली वायु में प्र ज₂ मिला हुआ है जो निस्सन्देह तीसरे बोतल में उत्पन्न हुआ होगा। पाँचवें बोतल में फिर अवक्षेप नहीं आता और यह निश्चय हो जाता है कि तीसरे बोतल में उत्पन्न प्र ज₂ का सम्पूर्ण अंश चौथे बोतल में ले लिया गया है जिसके अवक्षेप को लेकर उसमें प्र ज₂ की मात्रा का अंकन किया जा सकता है। इस प्रयोग में तीसरे बोतल में बीजों के स्थान में नवीन वर्धनशील टहनी भी रखी जा सकती है परन्तु तब तीसरे बोतल को काले कपड़े से ढक देना होगा अन्यथा पत्तियों में प्रांगार-परिपचन की क्रिया भी साथ२ होगी और श्वसन से उत्पन्न प्र ज₂ का उपयोग प्रांगार परिपचन में होने लगेगा। दिन के समय पौधों में प्र ज₂ प्रायः बाहर नहीं निकलता क्योंकि उसका भीतर ही उपयोग हो जाता है।

श्वसन-क्रिया एक दूसरे प्रयोग से भी दिखाई जा सकती है। इस प्रयोग के लिये क, ख, ग तीन वक्र भाण्ड (Retorts) लिये जाते हैं। 'क' और 'ख' में भिगोये हुये मण्ड-बीज (Starchy seeds) रखे जाते हैं और 'ग' में सूखे बीज रहते हैं। 'ख' और 'ग' भाण्डों के मुख-भाग दह-सर्जि (Caustic po-

tash) के विलयन में डूबे रहते हैं और 'क' का मुख-भाग गाढ़े लवणाम्बु (Brine) में डूबा रहता है। 'क' और 'ग' में द्रव का स्तर एक सा रहता है परन्तु 'ख' में द्रव का स्तर ऊपर चढ़ जाता है। 'ग' में शुष्क बीज रहते हैं अतः इनके कारण भाण्ड में वायु के आयतन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'ख' के बीज वेग से श्वसन करते हैं और भाण्ड के अन्दर के जारक का उपयोग करते हैं। जितना प्र ज$_2$ श्वसन में निकलता है वह दह-सर्जि में प्रविलीन हो जाता है। इसलिये भाण्ड की वायु का आयतन घटता है और द्रव का स्तर उतना ही ऊँचा उठ जाता है। 'क' भाण्ड में जितना ही जारक खर्च होता है लगभग उतना ही प्र ज$_2$ निकलता है और चूँकि ये दोनों वातियाँ लवणाम्बु में अविलेय होती हैं इसलिये यहाँ भी द्रव का स्तर ज्यों का त्यों रह जाता है।

श्वसन में प्र ज$_2$ और ज$_2$ के अनुपात को **श्वसन-लब्धि** (Respiratory quotient । कहते हैं) श्वसनक्रिया के रासायनिक सूत्र के अनुसार यह एक होना चाहिये। परन्तु ऐसा तभी होता है जब द्राक्षा-शर्करा का पूर्ण जारण होकर प्र ज$_2$ में रूपान्तर हो जाता है। यदि जारण अपूर्ण हो अथवा शर्करा के अतिरिक्त अन्य-पदार्थों का जारण हो तो श्वसन-लब्धि एक से अधिक या कम हो सकती है। तैल-बीजों के अंकुरण के समय श्वसन-लब्धि एक से कम होती है क्योंकि प्रांगोदीय पदार्थों की अपेक्षा वसा तथा स्नेहों में जारक का अंश कम होता है अतः जारक का कुछ अंश पहले स्नेहों को प्रांगोदीय श्रेणी में लाता है और फिर उनका उपर्युक्त सूत्र के अनुसार जारण होता है। कुछ मांसल पौधों में श्वसन के समय केवल अपूर्ण जारण होता है और प्र ज$_2$ का कुछ अंश प्रांगारिक अम्लों के रूप में भीतर ही रह जाता है। सेव के फलों में जारण केवल आंगारिक अम्लों का होता है अतः उनके श्वसन में जारक की अपेक्षा प्र ज$_2$ अधिक निकलता है और श्वसन-लब्धि एक से अधिक होती है।

अजारक श्वसन (Anaerobic respiration):—ऊर्जा-विमोचन जारक की अनुपस्थिति में भी होता है। जो सजीव पदार्थ वात-जीव (Aerobic) होते हैं वे भी वायु से वंचित कर दिये जाने पर कुछ समय तक ऊर्जा-विमोचन करते रहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अणु-जीव ऐसे भी पाये जाते हैं जो जारक का बिना उपयोग किये ही ऊर्जा उत्पन्न करके जीवित रहते हैं। अवात-श्वसन में पदार्थों का पूर्ण विश्लेषण नहीं होने पाता और प्रज$_2$ का कुछ अंश ऐसे माध्यमिक

पदार्थों के रूप में भीतर ही रह जाता है जो सम्भवतः जीवन के लिये घातक होते हैं। इसीलिये उच्च श्रेणी की वनस्पतियों में अवात-श्वसन अधिक समय तक नहीं चल सकता। अवात-श्वसन को अन्तराव्यूहाणु (Intramolecular) श्वसन भी कहते हैं। इस प्रकार के श्वसन में होने वाले रासायनिक परिवर्तन को $प्र_{६}उ_{१२}ज_{६} = २\ प्र_{२}उ_{५}ज\ उ + २\ प्र\ ज_{२}$ सूत्र से व्यक्त किया जा सकता है अर्थात् शर्करा से अवात-श्वसन के परिणाम स्वरूप सुषव (Alcohol) की उत्पत्ति होती है और सम्भवतः यहाँ वही परिवर्तन होता है जो शर्करा के किण्वन (Fermentation) के समय होता है।

अवात-श्वसन एक सामान्य प्रयोग के द्वारा दिखाया जा सकता है। एक काच-नाल में पारा भरकर एक चंचुकी (Beaker) में, जिसमें पारा रखा रहता है, उलट कर खड़ा कर देते हैं। फिर भिगोये हुये या अर्धाङ्कुरित बीजों को चिमटी से काच-नाल में छोड़ते हैं जो काच-नाल के शीर्ष पर चले जाते हैं। बीजों का चोल भी प्रायः निकाल दिया गया रहता है जिससे वायु का कुछ भी अंश बीजों के साथ न जा सके। दूसरे दिन काच-नाल का शीर्ष वायु से भरने लगता है और पारा का स्तर नीचे उतरने लगता है। काच-नाल की वाति की परीक्षा के लिये इसमें दह-सर्जि की दण्डिका छोड़ देते हैं जो पारा के ऊपर तैरने लगती है और भीतर की वाति को आत्मसात् कर लेती है जिससे पारा फिर काच-नाल को पूरा २ भर लेता है। इस प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जारक के न होने पर भी बीजों का श्वसन हुआ है और $प्र\ ज_{२}$ की उत्पत्ति हुई है।

श्वसन की युक्ति (Mechanism):—जैसे $प्र\ ज_{२}$ और $ऊ_{२}ज$ से शर्करा का निर्माण कई शृंखलाबद्ध परिवर्तनों द्वारा सम्पन्न होता है उसी प्रकार शर्करा का पुनः $प्र\ ज_{२}$ और $उ_{२}ज$ में विश्लेषण भी कई रासायनिक परिवर्तनों के बाद पूरा होता है। पहले मण्ड तथा इक्षु-शर्करा आदि संचित प्रांगोदीय पदार्थों का जलांशन होकर द्राक्षा-शर्करा सदृश सरल कोटि की शर्कराओं की उत्पत्ति होती है। इन शर्कराओं का पुनः मानो कर्मण्यन होता है जिससे उनके अणुओं का सापेक्ष स्थायित्व नष्ट होकर वे सुखत्रोस्य हो जाते हैं। इसके पश्चात् विकरों की सहायता से उनका विश्लेषण होकर **पाइरूविक अम्ल** (Pyruvic acid) और एसेटाएल्डीहाइड सदृश पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यदि जारक उपलब्ध होता है तो इनका पूर्ण जारण होकर $प्र\ ज_{२}$ और जल की उत्पत्ति होती है और

यदि जारक नहीं रहता तो प्र ज$_{१}$ का कुछ अंश इथिल सुषव के रूप में भीतर रह जाता है। अतः कहा जा सकता है कि रासायनिक दृष्टि से वात और अवात-श्वसन में अधिक अन्तर नहीं होता। दोनों में प्रारम्भ की क्रियायें एक तरह की होती हैं केवल अन्तिम क्रियाओं में अन्तर होता है। उपयोगिता की दृष्टि से अवात-श्वसन वात-श्वसन की अपेक्षा अधिक व्ययसाध्य होता है क्योंकि इसमें शर्करा आदि अधिक खर्च होती है परन्तु ऊर्जा अपेक्षतया कम निकलती है। श्वसन-क्रिया की युक्ति को देख कर यह मानना पड़ेगा कि इसमें आवेजकों का मुख्य काम होता है। पदार्थों का जलांशन, शर्कराओं का कर्मण्यन और विश्लेषण और उत्पन्न द्रव्यों का जारण आदि आवेजकों पर ही निर्भर करता है। अन्त के माध्यमिक पदार्थों का जारण किस प्रकार से होता है इस विषय में कोई निश्चित मत अभी स्थिर नहीं किया जा सका है। जारण की कुछ क्रियायें जारणेद और प्रति-जारणेद श्रेणी के आवेजकों द्वारा सम्पन्न होती हैं।

श्वसन-क्रिया का वेग:—कोशाओं की कर्मण्यता पर श्वसन का वेग निर्भर करता है। वर्धमान भागों में वृद्धि-वेग जितना ही अधिक होता है उनका श्वसन भी उतना ही अधिक वेग से होता है। वृद्धिवेग को बढ़ाने वाली दशायें अप्रत्यक्ष रूप से श्वसन के वेग को भी बढ़ाती हैं। ताप का इस क्रिया पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा प्रांगार-परिपचन की क्रिया पर। प्रत्येक १०° ताप की वृद्धि से श्वसन वेग दूना हो जाता है परन्तु लगभग ३५° ताप हो जाने पर तापवृद्धि से वेग में कमी आने लगती है।

किण्वन (Fermentation):—अवात-श्वसन के प्रसङ्ग में बतलाया गया है कि कुछ अणु-जीव जारक की अनुपस्थिति में भी ऊर्जा-विमोचन करते रहते हैं और अपना काम चला ले जाते हैं और कुछ तो जारक की अनुपस्थिति में ही जीवित रह सकते हैं। ऐसे अवात-जीवों में अवात-श्वसन से ऊर्जा-विमोचन होता है जिसे किण्वन की संज्ञा दी जा सकती है। मीठे फलों का सड़ना, दूध का बिगड़ना, सुषव से सिरका की उत्पत्ति तथा अवात-जीवों के द्वारा प्रांगारिक पदार्थों के विश्लेषण के जितने भी उदाहरण हैं उन्हें किण्वन कहा जा सकता है।

ईस्ट (yeast) नामक क्षुद्र वनस्पतिओं को, जिनके कारण ताड़ी में शर्करा का किण्वन होता है, यदि शर्करा विलयन में छोड़ दिया जाय तो विल-

से अ ज, निकलने लगता है और कुछ समय के बाद शर्करा-विलयन सुषव में परिवर्तित हो जाता है। यहाँ शर्करा का किण्वन ज़ाइमेज़ नामक आवेजक की सहायता से होता है जिसे उपर्युक्त अणु-जीव स्वयं उत्पन्न करते हैं।

श्वसन-क्रिया में ताप की उत्पत्ति:—श्वसन-क्रिया में अधिकतर उच्च श्रेणी के पदार्थों का जारण होता है अतः इसमें ताप का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। चूँकि यह ताप उत्पन्न होते ही जलत्याग आदि क्रियाओं में खर्च हो जाता है और विस्तृत उद्भिज-तल से इसका संवाहन हो जाता है अतः यह हमें स्पष्टतः मालूम नहीं होता। जहाँ वृद्धि बहुत वेग से होती है और श्वसन-क्रिया का भी वेग बहुत अधिक होता है अथवा जहाँ से उत्पन्न ताप का संवाहन नहीं होने पाता वहाँ का तापमान शीघ्र बहुत अधिक बढ़ जाता है। जैसे सूरणजाति के पौधों में, जब पुष्प-व्यूहों का विकास होने लगता है, बहुत से बीजों का एक साथ बीजोद्भेदन होता है अथवा आम्र आदि के फल पकने के लिये किसी पात्र में बन्द करके रख दिये जाते हैं तो बहुत ऊष्मा उत्पन्न होती है। यदि दो ताप-नलियों (Thermos flasks) को लेकर एक में भिगोये हुए और दूसरे में शुष्क बीज रख दें और कुछ समय के बाद तापमान डाल कर देखा जाय तो पता चलेगा कि जिसमें भिगोये हुये बीज हैं उसका ताप अधिक हो गया है। भिगोये हुये बीज अंकुरण के समय वृद्धि और श्वसन करते हैं जिससे ऊष्मा की उत्पत्ति होती है।

ऊर्जा-विमोचन की असाधारण विधियाँ:-श्वसन की सामान्य विधियों में प्रांगारिक पदार्थों के विश्लेषण से शक्ति प्राप्त होती है जिसके लिये जारक की उपस्थिति सर्वदा आवश्यक नहीं होती। इसके विपरीत अनेक शाकाणु शर्करा आदि के बदले बहुत ही सामान्य अप्रांगारिक पदार्थों के जारण से ऊर्जा-विमोचन करते हैं। भिन्न २ जाति के शाकाणुओं में भिन्न २ पदार्थों का जारण होता है। कुछ तो स्वतन्त्र जारक की सहायता से उदजन, मीथेन, तिक्तातु, भूय्य अम्ल, गन्धक तथा उदजन शुल्वेय (H_2S) का जारण करते हैं और कुछ भूय्यजारेय से उदजन का तथा गन्धक या इसके थायोसल्फेट से भूयीय का जारण करते हैं।

इनके अतिरिक्त अयस्-शाकाणु जारक की सहायता से अयस्य जारेय को अयसिक जारेय में बदलकर और भूयाति-शाकाणु विभिन्न भूयाति योगों के जारण से ऊर्जा प्राप्त करते हैं।

चूँकि उपर्युक्त सभी शाकाणु शाद से वंचित होने के कारण शर्करा आदि के निर्माण में सूर्यप्रकाश का उपयोग नहीं कर सकते इसलिये वे प्रांगार-परिपचन के लिये उपर्युक्त प्रकार से प्राप्त की हुई ऊर्जा पर ही निर्भर करते हैं। ऐसे प्रांगार-परिपचन को **रासायनिक संश्लेषण** (Chemo-synthesis) कहते हैं।

प्रांगार परिपचन तथा श्वसन क्रिया में तुलना:—वनस्पतिओं की इन दो प्रधान क्रियाओं को स्थूल रूप से समझने के लिये इनके निम्नलिखित मुख्य २ लक्षणों पर ध्यान देना आवश्यक है।

श्वसन-क्रिया	प्रांगार परिपचन
(१) यह अपचयात्मक क्रिया है जिसमें खाद्य पदार्थों का विश्लेषण होता है अतः यह शरीर-शोषक अर्थात् शरीर के भार को घटानेवाली क्रिया है।	(१) यह चयात्मक क्रिया है जिसमें बाहर से आये हुये प्र ज$_2$ आदि से नवीन पदार्थों का संश्लेषण होता है अतः यह शरीर-पोषक अर्थात् शरीर के भार को बढ़ाने वाली क्रिया है।
(२) यह पौधे के प्रत्येक जीवित कोशा में होती है।	(२) यह केवल शादयुक्त कोशाओं में होती है।
(३) इसमें प्रायः ज$_2$ खर्च होता है और प्र ज$_2$ मुक्त होता है।	(३) यहाँ प्रज$_2$ खर्च ह और ज$_2$ प्राप्त होता है।
(४) यह प्रकाश पर निर्भर नहीं करती।	(४) इसके लिये प्रकाश आवश्यक है।
(५) इसमें ऊर्जा-विमोचन होता है।	(५) यहाँ सूर्य प्रकाश की ऊर्जा का संचय होता है।

पोषण की विशेष विधियाँ

अभी तक सामान्य हरित स्थलोद्भिज्जों की पोषण-विधि की चर्चा की गई है। अनेक उद्भिज अपना पोषण भिन्न२ रीति से करते हैं अर्थात् जल, खनिज लवण, प्रांगोदीय पदार्थ तथा प्रोभूजिन आदि खाद्य वस्तुओं को वे अन्य विधियों से प्राप्त करते हैं। पोषण-विधि के अनुसार ऐसे उद्भिज निम्नलिखित पाँच प्रकार के हो सकते हैं:—

(१) परजीवी (Parasites):—जो उद्भिज खाद्य पदार्थों के लिये दूसरे जीवों (उद्भिज्जों और प्राणिओं) पर निर्भर करते हैं उन्हें परजीवी कहते

हैं। ये दूसरों को शरीर से सम्बन्ध स्थापित करके वृद्धि करते है और उनके खाद्य-रस को चूस कर अपना काम चलाते हैं। इनकी परजीविता अर्थात् परा-श्रयिता पूर्ण (Total) और आंशिक (Partial) दोनों प्रकार की हो सकती है। कुछ तो ऐसे होते हैं जिनका भोजन केवल उपजीव्य (Host) से मिलता है और अन्य साधारण वनस्पतिओं की तरह इन्हें खाद्य-निर्माण बिल्कुल नहीं करना पड़ता। इनमें शादयुक्त काण्ड तथा पत्रादि नहीं होते। अमरवेल और विडालपदी (Orobanche) पूर्ण परजीवी उद्भिज्जों के उदाहरण हैं। अमर-वेल के बीज जमीन पर उगते हैं पर उसका सम्बन्ध किसी उपयुक्त उपजीव्य से स्थापित हो जाने पर पृथ्वी से विच्छिन्न हो जाता है। इसके काण्ड से उपमूल निकल कर उपजीव्य के काण्ड में प्रविष्ट होते हैं और दोनों की वाहिनी ऊतिओं में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे चोषक मूलों द्वारा उपजीव्य के खाद्य-रस का प्रचूषण होने लगता है। अमरवेल काण्डबद्ध परजीवी (Stem parasite) उद्भिज्ज है परन्तु विडालपदी मूलबद्ध परजीवी (Root parasite) वनस्पति होती है। सरसों, आलू, तम्बाखू, तथा निर्गुण्डी की मूल से सम्बद्ध होकर विडालपदी जाति की वनस्पतियाँ निकली रहती हैं जो शादरहित होने के कारण पूर्ण परजीवी श्रेणी की होती हैं। इनका काण्डमूल प्रायः विडालपद सदृश गोल और स्थूल होता है और यही भाग उपजीव्य के मूल से जुड़ा रहता है। पूर्ण परजीवी वनस्पतियाँ उपजीव्य से प्रांगारिक और अप्रांगारिक दोनों प्रकार के खाद्य पदार्थों का प्रचूषण करती हैं।

आंशिक परजीवी शादयुक्त होते हैं और स्वयं भी कुछ न कुछ खाद्य पदार्थों का निर्माण करते रहते हैं। वंदाक (बाँदा), श्वेत चंदन और किशमिश कावली (Mistletoe) अर्ध-परजीवी वनस्पतिओं के उदाहरण हैं। ये भी किसी उप-जीव्य के काण्ड या मूल से सम्बद्ध होकर पैदा होते हैं परन्तु इनमें सामान्य हरित-पर्ण अथवा पर्णाभास काण्ड होते हैं जो सामान्य हरित वनस्पतिओं की तरह प्रांगार-परिपचन का कार्य करते हैं। जल और खनिज लवण इन्हें उपजीव्यों से प्राप्त होते हैं।

जावा और सुमात्रा में द्राक्षा जाति की लताओं के मूल से सम्बद्ध एक अद्भुत वनस्पति पाई जाती है जिसके काण्ड सूत्रसदृश बहुत पतले होते हैं और इन लताओं के मूलों में घुसे हुये रहते हैं। जहाँ तहाँ इन काण्डों से बहुत बड़े २ पुष्प

निकलते हैं जो मांसल वर्ण के, दुर्गन्धयुक्त, वज़न में ९ सेर तक और व्यास में लगभग डेढ़ फीट तक होते हैं।

शाकाणु श्रेणी (Bacteria) और कवक श्रेणी की कुछ वनस्पतियाँ भी परजीवी होती हैं जिन्हें अनेक उपयोगी उद्भिज्जों और जन्तुओं से आश्रय मिलता है। गेहूँ की बालों में जो काला रोग लगता है वह अथवा मनुष्य में उपदंश और दद्रु आदि रोग ऐसे ही सूक्ष्म परजीवी उद्भिज्जों के आक्रमण से उत्पन्न होते हैं।

(२) **कदर्थोपजीवी** (Saprophyte) :—जो उद्भिज्ज अन्य उद्भिज्जों और जन्तुओं के निर्जीव और सड़ते हुये अंगों से अपना भोजन प्राप्त करके जीवित रहते हैं उन्हें कदर्थोपजीवी अथवा गलितोपजीवी कहते हैं। अनेक उद्भिज्ज ऐसे स्थानों में उगे हुये पाये जाते हैं जहाँ की मिट्टी में सड़े हुये औद्भिद पदार्थ मिले रहते हैं। यहाँ उन्हें बना बनाया भोजन मिल जाता है इसलिये उन्हें स्वतंत्र-जीवी उद्भिज्जों की तरह स्वयं खाद्य पदार्थों का निर्माण नहीं करना पड़ता। जिनमें शाद नहीं होता वे पूर्ण कदर्थोपजीवी कहे जाते हैं जैसे—कवक श्रेणी की वनस्पतियाँ। वर्षा ऋतु में चमड़े की बनी हुई वस्तुओं पर, वृक्षों की निर्जीव छालों तथा भींगी रोटी आदि पर दहिया इन्हीं वनस्पतिओं के उत्पन्न होने से दिखाई देती हैं। छत्रक आदि भी ऐसी ही वनस्पतियों के उदाहरण हैं।

कुछ कदर्थोपजीवी वनस्पतियाँ अंशतः आत्मनिर्भर भी होती हैं इसलिये इनमें शादयुक्त पर्णादि अवयव होते हैं। स्वर्णजीवन्ती कुल (Orchidaceae) की अनेक वनस्पतियाँ अर्ध-कदर्थोपजीवी होती हैं। खाद्य पदार्थों के प्रचूषण के लिये पतले तन्तुओं का एक जाल इन पौधों की जड़ों से सम्बद्ध रहता है। यह जाल कवक श्रेणी की वनस्पतिओं से बना होता है जो स्वयं भी शादरहित होती हैं और अपने आश्रयदाताओं के लिये पृथ्वी से प्रांगारिक पदार्थों का प्रचूषण करती हैं। किसी कवक का किसी बीजोद्भिज्ज की मूलों से इस प्रकार सम्बद्ध होकर परस्पराश्रित जीवन व्यतीत करने की अवस्था को **कवकसेवितपादिता** (Mycorrhiza) कहते हैं।

(३) **सहजीवी** (Symbionts) :—जब दो सजीव पदार्थ शरीर से परस्पर सम्बद्ध होकर और एक दूसरे के सहयोग से जीवन व्यतीत करते हैं तो उन्हें सहजीवी कहते हैं। कवकसेवितपादिता में दोनों उद्भिज्ज सहजीवी होते हैं। शिम्बि-कुल की वनस्पतिओं के मूल में घर बनाकर रहने वाले शाकाणुओं की

चर्चा पहले की जा चुकी है। यह भी सहजीविता (Symbiosis) का ही उदाहरण है। इनके अतिरिक्त कवक श्रेणी की कुछ वनस्पतियाँ आप्यक श्रेणी की वनस्पतियों के साथ परस्पर सहयोग करती हुई जीवन व्यतीत करती हैं। इस जीव-युगल को **कवाप्य** (Lichen) कहते हैं।

(४) **कीटोपजीवी** (Insectivorous plants):—कुछ कीटभुज उद्भिज्जों का वर्णन (पृष्ठ ५६) किया जा चुका है। इनमें भूयाति-परिपचन जन्तुओं की तरह होता है। ये पौधे प्रायः ऐसी जलानुविद्ध भूमि में पाये जाते हैं जहाँ भूयातियुक्त खाद्य पदार्थों की कमी होती है। इसलिये ये छोटे २ कीड़ों को पकड़ कर उनके प्रोभूजिनों से अपना काम चलाते हैं जिनका पाचन और प्रचूषण पाचक-रसों की सहायता से होता है।

(५) **परारोही** (Epiphyte):—जो उद्भिज्ज वृक्षों के काण्ड या शाखाओं पर उगते हैं परन्तु अपने लिये खाद्य-पदार्थ स्वयं तैयार करते हैं उन्हें परारोही या वृक्षरुह कहते हैं। इनके मूल काण्ड के ऊपर फैले और उनसे चिपके रहते हैं। छाल की दरारों में पड़े हुये कूड़े और मिट्टी से उन्हें कुछ न कुछ अप्रांगारिक भोजन-सामग्री मिल जाती है। इनके कुछ मूल हवा में भी झूलते रहते हैं जिनका तल छिद्रिष्ट सदृश होता है और वायुमण्डलिक जल का प्रचूषण करता रहता है। इस जल में कुछ उपयोगी वातियाँ भी मिली रहती हैं। परारोही उद्भिज्जों के उदाहरण अधिकतर स्वर्णजीवन्ती-कुल और पर्णांग श्रेणी में मिलते हैं। वंगीय रास्ना, स्वर्णजीवन्ती, गजपिप्पली और कभी कभी पीपल और बरगद के वृक्ष भी (प्रारम्भ में) परारोही श्रेणी के होते हैं।

परिच्छेद १३

वृद्धि तथा गति

वर्धनशीलता सजीव पदार्थों का एक प्रधान लक्षण है परन्तु स्वयं वृद्धि के क्या २ लक्षण हैं, इसमें कौन कौन परिवर्तन होते हैं अथवा इसकी नाप-जोख कैसे की जा सकती है इन बातों का निर्णय कठिनाई से होता है। फिर भी वृद्धि को मुख्यतः ऐसी अपरिवर्त्य परिमाणवृद्धि मानते हैं जिनमें नवनिर्माण और आकार-परिवर्तन दोनों होते हैं, चाहे उनका कारण उपस्थित पदार्थों का पुनर्वि-

तरण हो या नवीन पदार्थों की अभिवृद्धि। यही कारण है कि न तो आशूनता के कारण होने वाली किसी कोशा या अवयव की विस्तारवृद्धि को वास्तविक वृद्धि कहा जा सकता है और न तो बीजांकुरण में होने वाले आकार-परिवर्तन को ही, जिसमें शुष्कभार की वृद्धि नहीं होती, वास्तविक वृद्धि कहने में आपत्ति की जा सकती है। वृद्धि के समय प्ररस आदि आधार-द्रव्यों का निर्माण और वर्धमान अवयव के शुष्कभार में वृद्धि दोनों ही बातें अवश्यम्भावी हैं चाहे वर्धमान व्यक्ति के समस्त भार में कमी भले ही आ जाय, जैसा कि बीजांकुरण के समय होता है। पदार्थों के निर्माण के साथ उसके फलस्वरूप आकारवृद्धि और नवीन अवयवों का निर्माण अवश्य होता हो ऐसी बात भी नहीं होती। इन्हीं कारणों से वृद्धि को ठीक २ परिभाषाबद्ध करना कुछ कठिन होता है।

किसी व्यक्ति या अवयव की समस्त वृद्धि का मान लगाना भी प्रायः कठिन होता है। उद्भिज-काय त्रिवैम (Three dimensional) वस्तु है। इसकी वृद्धि किसी एक या एक से अधिक दिशाओं में हो सकती है और भिन्न २ दिशाओं में होने वाली वृद्धि एक साथ अथवा भिन्न भिन्न समयों पर हो सकती है। इसी लिये किसी एक समय में केवल लम्बाई या केवल मोटाई की वृद्धि को जान लेने से ही वृद्धि की मात्रा या अर्घ (Rate) का सर्वदा ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। शुष्कभार की वृद्धि से भी इनका ठीक २ पता नहीं लगाया जा सकता क्योंकि कभी भार बढ़ने की जगह घट भी जाता है। इसीलिये वृद्धि की मात्रा या वेग को जानने के लिये परिस्थिति के अनुसार क्षेत्रफल, परिमाण (Volume) लम्बाई और शुष्कभार आदि भिन्न २ गुणों की वृद्धि का पता लगाना पड़ता है।

औतिकी खण्ड में वर्धनशील ऊतिओं की स्थिति और वर्धन-विधा का संकेत किया जा चुका है। वर्धन-क्रिया में प्रायः कोशा-विभाजन और कोशा-विस्तरण दो मुख्य क्रियायें होती हैं। पहले कोशा-विभाजन और फिर कोशा-विस्तरण होता है। विस्तरण के साथ २ अथवा उसके बाद रचना-भिन्नन की क्रिया होती है। मूल और काण्ड के वर्धमान अग्रों पर जहाँ कोशा-निर्माण होता है, प्रायः जल अनुपाततः कम होता है। इसलिए वहाँ एमिनो अम्ल और शर्करा कोटि के पदार्थों का संघनन होकर प्रोभूजिनों और कोशाधुओं की उत्पत्ति सुगम हो जाती है जो नवीन कोशाओं के निर्माण के लिए एक आवश्यक अवस्था है। जहाँ कोशा

विस्तरण होता है वहाँ प्रविभाजी प्रदेश की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है। कोशा-विभाजन के बाद कोशा-विस्तरण प्रायः प्रारम्भ हो जाता है परन्तु कहीं २ दोनों के क्रियाकालों में बहुत अन्तर होता है।

अधिकतम दीर्घण-प्रदेशः—बीजोद्भेद के समय वर्धमान मूल के ऊपर एक २ सहस्रमान की दूरी पर चिह्न बनाकर कुछ समय (लगभग ३ घंटा) के बाद देखने से मालूम होता है कि प्रायः अग्र के ६ या ७ सहस्रमान पीछे के प्रदेश में अधिकतम दीर्घण हुआ है और अग्र के लगभग १५ सहस्रमान पीछे दीर्घण बिलकुल नहीं हुआ है। ज्यों २ समय बीतता जाता है अधिकतम दीर्घण वाला प्रदेश अपने पीछे की ओर दीर्घण होते रहने के कारण आगे की ओर खिसकता जाता है। मूल में दीर्घण-प्रदेश मूलाग्र के ठीक पीछे होता है परन्तु काण्ड में यह प्रदेश अधिक लम्बा होता है और भिन्न २ पर्वों की वृद्धि प्रायः स्वतन्त्र रूप से होती रहती है। पत्ती के विकास में कोशा-विभाजन बहुत पहले समाप्त हो चुका रहता है और कोशा-विस्तरण तथा रचना-भिन्नन प्रायः बहुत पीछे होता है। अनेक एक-बीज पौधों में पत्राधारों के पास माध्यमिक प्रविभाजी रहता है जो बहुत समय तक क्रियाशील बना रहता है।

वृद्धि-वेग (Rate of growth):—किसी कोषा की वृद्धि में वृद्धि की तीन अवस्थायें होती हैं। विभाजन के बाद नवीन कोशा का अल्प विस्तरण होता है और उसकी मन्द वृद्धि होती है। इसके पश्चात् उसमें गह्वरिता आती और फिर सवेग विस्तरण होता है जो क्रमशः मन्द होकर बन्द हो जाता है। अतः पहले मन्द, फिर तीव्र और अन्त में मन्द वृद्धि-इन तीन अवस्थाओं में समस्त वृद्धि समाप्त होती है। वृद्धि वेग का यही क्रम प्रत्येक अंग, उसके प्रत्येक खण्ड एवं सम्पूर्ण शरीर के विकास में देखा जाता है। जितने समय में ये तीनों अवस्थायें समाप्त होती हैं उतने समय को **भव्य वृद्धि-काल** (Grand Period of Growth) कहते हैं। वृद्धि-काल में भीतर जो परिवर्तन होते हैं उनकी अभिव्यक्ति ऊपर वृद्धि के रूप में होती है परन्तु बाहरी दशाओं का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। भीतर की चयापचयात्मक क्रियाओं का अन्तिम परिणाम वृद्धि के रूप में सामने आता है अतः ताप का वृद्धि पर वैसाही प्रभाव पड़ता है जैसा चयापचयात्मक व्यापारों पर। भा-संश्लेषण आदि क्रियाओं की तरह वृद्धि के लिये भी अल्पिष्ठ (Minimum), अधिकतम (Maximum) और अनु-

कूलतम (Optimum) तापांश होते हैं। अल्पिष्ठ ताप के गिरने या अधिकतम ताप के अधिक होने पर ये क्रियायें बन्द हो जाती हैं और अनुकूलतम ताप पर इनका अधिकतम वेग होता है।

एक सीमित तापांश माला के अन्दर प्रत्येक १०° ताप की वृद्धि करने से वेग दूना हो जाता है। तापमाला के ऊपर जाने पर ताप का एक दूसरे प्रकार का अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने लगता है जो ह्रासात्मक होता है। परन्तु ह्रास की मात्रा उतनी ही अधिक होगी जितनी अधिक देर तक उच्च तापांश का प्रभाव रहेगा। इससे यह विदित होता है कि वृद्धि-क्रिया का नियन्त्रण ऐसी रासायनिक क्रियाओं के द्वारा होता है जो तापग्राही होती हैं अर्थात् जिनमें ताप-हृषत्व होता है।

प्रकाश का प्रभाव वृद्धि-वेग पर बहुत जटिल होता है और प्रकाश की तीव्रता पर यह अंशतः निर्भर करता है। पूर्ण अन्धकार में वृद्धि अधिक होती है यदि प्रांगोदीय पदार्थों की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध हो। परन्तु, चूंकि खाद्य-पदार्थों का निर्माण अन्धकार में बन्द हो जाता है इसलिये इसके अप्रत्यक्ष प्रभाव से वेग शिथिल हो जाता है। इसलिये यह कहना चाहिये कि आरम्भिक वृद्धि के समय प्रकाश का विमन्दन प्रभाव (Retarding effect) होता है परन्तु अपने अप्रत्यक्ष प्रभाव से, जिसे भा-उद्दीपन कहते हैं, यह वृद्धि के लिये आवश्यक हो जाता है।

जल और आवश्यक खनिज लवणों का सद्यस्क और बिलम्बित दोनों तरह का प्रभाव होता है। जल की न्यूनता से वृद्धिवेग में कमी आ जाती है क्योंकि वर्धमान अवयवों की आशूनता वृद्धि के लिये परम आवश्यक होती है। यदि वर्षायु उद्भिज्जों की आरम्भिक वृद्धि में जल की कमी से कोई रुकावट पड़ती है तो बाद में जल मिलने पर भी उसका प्रभाव बना रहता है। जल की कमी होने पर श्वसनरन्ध्र भी बन्द हो जाते हैं और प्र ज, न मिलने से प्रांगोदीय पदार्थों की उत्पत्ति रुक जाती है। जल का यह अप्रत्यक्ष प्रभाव है। वृद्धि के लिये जारक-प्रदाय भी आवश्यक है क्योंकि बिना इसके ऊर्जा-विमोचन नहीं होता। पोषक पदार्थों की आय भी वृद्धि के लिये आवश्यक है क्योंकि नवीन कोशाओं के निर्माण के लिये प्ररस और कोशाधु आदि आधार-द्रव्य और ऊर्जा पोषक पदार्थों से ही प्राप्त होती है।

वृद्धि-सहाय (Auxins):—उपर्युक्त आवश्यक कारकों के उपस्थित रहने पर भी वृद्धि पर एक विशेष प्रकार के पदार्थों का नियन्त्रण रहता है। जिन्हें वृद्धि-सहाय कहते हैं। ये वस्तुतः उद्भिज्ज-न्यासर्ग (Plant growth harmones) होते हैं और इनकी उत्पत्ति काण्ड के अग्रों तथा नवीन पत्तिओं में होती है। अग्र पर उत्पन्न होकर और नीचे की ओर क्रमशः व्याप्त होकर ये वहाँ पहुंचते हैं जहाँ कोशा-विस्तरण होता रहता है। अग्र की कोशाओं में इनका अन्तःस्रवण होता है और कोशा-विस्तरण प्रदेश में जाकर ये कार्य करते हैं। ये सम्भवतः आवेजक पदार्थ होते हैं और वृद्धि में होने वाली रासायनिक क्रियाओं का ये आवेजन करते हैं। अभी तक कुल तीन उद्भिज-न्यासर्गों का पता लगाया गया है। उद्भिज-काय के विभिन्न अङ्गों की वृद्धि में एक अद्भुत सापेक्षता (Correlation) देखने में आती है उसके भी कारण वृद्धिसहाय ही होते हैं। जब किसी पौधे में पत्तिओं की अधिक उत्पत्ति होती है तो प्रचूषक और संवाहक प्रदेशों में वृद्धि का होना अनिवार्य हो जाता है। सम्भवतः नवनिर्मित पत्तिओं में वृद्धि-सहायों की उत्पत्ति होती है जो दूसरे भागों में जाकर उन्हें वृद्धि के लिये उत्तेजित करते हैं।

संज्ञान और गति

संज्ञान (Irritability):—सजीव पदार्थों में संज्ञान या हृषत्व का होना उनका एक लक्षण होता है। वाह्य उद्दीपनों को ग्रहण करने और उनका प्रतिकार करने की क्षमता उनमें होती है। वनस्पतिओं में प्रतिकार का स्वरूप भिन्न २ हो सकता है परन्तु अधिकतर उनमें एक न एक प्रकार की गति पैदा होती है और उच्च श्रेणी की स्थलज वनस्पतिओं में यह गति प्रायः वर्धमान प्रान्त के नमन (Curvature) के रूप में प्रगट होती है। अनेक जलज अणु-जीवों एवं उनके उत्पादक भागों में वाह्य उद्दीपनों के कारण गति का निर्देशन भी होता है। वाह्य उद्दीपनों के अतिरिक्त गति के अन्य कारण भी होते हैं। निर्जीव ऊतिओं में भी कभी २ गति होती है परन्तु उसका कारण उनकी अवयव-योजना और तात्कालिक कारण प्रायः उन्देक्षीयता (Hygroscopism) होती है।

गति (Movement):—सजीव वनस्पतिओं तथा उनके अङ्गों और ऊतिओं

में गतियाँ तीन प्रकार की होती हैं जिन्हें (१) **यदृच्छ** (Autonomic) **गति**, (२) **आशूनता-गति** (Turgor movement) और (३) **उद्दीपना-गति** (Stimulus movement) कहते हैं। कारण भेद से गति के ये तीन भेद होते हैं। परिणामभेद से भी गति के (१) **प्रचलन-गति** (Movement of locomotion) और (२) **नमन-गति** (Movement of Curvature) दो भेद होते हैं। सम्पूर्ण शरीर या उसके किसी स्वतन्त्र अवयव की स्थानान्तर कराने वाली गति को प्रचलन-गति कहते हैं और जिस गति के कारण किसी अंग का नमन होता है उसे नमन-गति कहते हैं।

(१) **यदृच्छ-गतिः**—प्ररस की गतिशीलता का वर्णन करते हुये उसकी परिवाह-गति और परिभ्रम-गति का वर्णन किया गया था और साथ ही मुक्त प्ररस-पुंज की पक्ष्म, कशा तथा कूटपाद द्वारा होने वाली गति का भी उल्लेख किया गया था जो कभी स्वेच्छा से और कभी २ बाहरी प्रेरणा से होती है। काण्ड के वर्धमान अग्रों में प्रायः एक विशेष प्रकार की स्वेच्छा-गति होती है जिसे **प्रेंखण-गति** (Nutation) कहते हैं। काण्ड प्रायः बिल्कुल उदग्र (Vertical) स्थिति में नहीं बढ़ता वल्कि उसका अग्र झूमता और चक्कर लगाता हुआ आगे बढ़ता है। वल्लियों के काण्डाग्रों की प्रेंखण-गति बहुत स्पष्ट होती है और यह उनके लिये उपयोगी भी होती है क्योंकि इस प्रकार से बढ़ने में उन्हें किसी आश्रम को पा जाने की अधिक सम्भावना हो जाती है। प्रचलन और प्रेंखण दोनों प्रकार की गतियाँ यदृच्छ अथवा प्रेरित (Induced) दोनों प्रकार की हो सकती हैं।

(२) **आशूनता-गतिः**—किसी अंग की कोशाओं की आशूनता में भिन्नता होने से उसमें प्रायः नमन-गति होती है। पहले बतलाया जा चुका है कि रक्षक कोशाओं की आशूनता के कारण उनमें जो नमन-गति होती है उसी पर श्वसनरन्ध्रों का खुलना या बन्द होना निर्भर करता है। कटीले फल की इन्द्रायण का स्फुटन आशूनता के ही कारण होता है। बीज फल के अन्दर एक तनुभित्तिक ऊति में रहते हैं जो जल का प्रचूषण करके फैलने का प्रयत्न करती है परन्तु फलभित्ति की दृढ़ कोशा-भित्तियों के कारण अधिक फैल नहीं पाती जिससे फल के अन्दर आशूनता-निपीड़ बढ़ जाता है। जब फल टूट कर अलग होता है तो फलमज्जा मय बीजों के उस स्थल से बाहर निकल आती है जो

फल-वृन्त के पृथक् हो जाने से कमज़ोर हो जाता है। कवकों में बीजाणु-धानियों से बीजाणुओं की मुक्ति में भी आशूनता ही कारण होती है।

(३) **उद्दीपना-गतिः—**वाह्य उद्दीपनों की प्रेरणा से जो गति होती है उसे उद्दीपना-गति अथवा प्रेरित-गति कहते हैं। प्रेरित गति (१) **प्रेरित प्रचलन** (Tactic movement), (२) **अनिर्दिष्ट** (Nastic) **गति** और (३) **निर्दिष्ट** (Tropic) **गति**—तीन प्रकार की होती हैं। इनका पृथक् २ वर्णन नीचे किया गया है।

(क) **प्रेरित प्रचलनः—**इस प्रकार की गति से सम्पूर्ण शरीर अथवा स्वतन्त्र अवयवों का प्रचलन या स्थानान्तरण हो जाता है। प्रचलन को प्रेरित करने वाले उद्दीपकों में रासायनिक पदार्थ, प्रकाश और ताप मुख्य हैं। उद्दीपकों की प्रकृति के अनुसार प्रेरित प्रचलन को क्रमशः **रासाय-प्रचलन** (Chemotaxis), **भा-प्रचलन** (Phototaxis) और **ताप-प्रचलन** या **तापक्रम** (Thermotaxis) कहते हैं। रासाय-प्रचलन के उदाहरण हरिता (Moss) और पर्णांग श्रेणी की वनस्पतियों में मिलते हैं जहाँ शर्करा तथा मैलिक अम्ल सदृश पदार्थों के द्वारा उनके पुं-जन्युओं का आकर्षण होता है। अनेक शाकाणु जारक तथा खाद्य पदार्थों की ओर आकर्षित होकर गति करते हैं और विषैले पदार्थों से उनका अपकर्षण होता है। सपुष्प उद्भिज्जों में निषेचन के समय कुक्षि से शर्कर-रस के उत्पन्न होने पर परागनाल की उत्पत्ति और वृद्धि के रूप में जो गति होती है उसे रासाय-प्रचलन कह सकते हैं।

भा-प्रचलन शादि-घटनों में होता है। मध्यम प्रकाश में वे ऐसी स्थिति में हो जाते हैं कि उन्हें अधिकतम प्रकाश मिलता है। बहुत तीव्र प्रकाश में उनकी स्थिति बदल जाती है जिससे प्रकाश की किरणें उनके तल के समानान्तर आने लगती है और उनका अत्यधिक प्रभासन नहीं होने पाता। क्लैमिडोमोनाज़ सदृश अनेक जलीय एककोशा आप्यकों में भी भा-प्रचलन के उदाहरण मिलते हैं जो प्रायः मध्यम प्रकाश से आकर्षित होते हैं। वे प्रायः तैरकर अपने को ऐसी स्थिति में रखते हैं कि भा-संश्लेषण का भी कार्य होता है और प्रकाश की प्रचण्डता से शाद का विघटन भी नहीं होने पाता। परिभ्रम और परिवाह गति के वेग में कभी २ ताप के कारण भिन्नता आ जाती है। यह ताप-प्रचलन का उदाहरण माना जा सकता है।

(ख) अनिर्दिष्ट गति (Nastic Movement):—जो प्रेरित गति उद्दीपक की दिशा पर निर्भर नहीं करती, अर्थात् गति को उत्पन्न करने वाला उद्दीपक चाहे जिस दिशा में हो गति की दिशा में परिवर्तन नहीं होता, उसे अनिर्दिष्ट गति कहते हैं। ऐसी गति प्रायः वृद्धयात्मक होती है अर्थात् गतिमान अवयव के दो परस्पर विपरीत भागों में असमान वृद्धि होने से यह पैदा होती है। कभी कभी आशूनता-भेद से भी ऐसी गति होती है। उद्दीपक की प्रकृति के अनुसार इसे **भा-अनिर्दिष्ट** (Photonastic), **ताप-अनिर्दिष्ट** (Thermonastic) अथवा **संस्पर्श-अनिर्दिष्ट** (Seismonastic) गति कहते हैं जिनमें क्रमशः प्रकाश, ताप या संस्पर्श उद्दीपक का कार्य करते हैं। क्रोकस के मुकुलित पुष्पों का १०–१५° ताप बढ़ा देने से वे विकसित हो जाते हैं और ताप के अचानक घट जाने से वे फिर बन्द हो जाते हैं। यहां आभ्यन्तर दलों में ताप-भेद से कभी बाहर की ओर कभी भीतर की ओर अधिक वृद्धि होती है और इस प्रकार के वृद्धि-भेद से वे संकुचित या विकसित होते हैं। अनेक वनस्पतिओं के पुष्प और शिम्बि-कुल में बहुतों की पत्तियां भी अत्यधिक अथवा अत्यल्प ताप में संकुचित हो जाती हैं और मध्यम ताप में वे फैल जाती हैं। बहुत तीव्र प्रकाश होने पर भी बहुतों की पत्तियाँ और पुष्प संकुचित हो जाते हैं और मध्यम या अनुकूल मात्रा के प्रकाश में वे फैल जाते हैं।

प्रकाश और ताप दोनों अथवा दोनों में केवल एक (अधिकतर प्रकाश) के प्रभाव से अनेक पौधों की पत्तियों और पुष्पों की स्थिति दिन और रात में भिन्न भिन्न होती है। जब दिन और रात की स्थितिओं में अन्तर होता है तो रात की स्थिति उत्पन्न करने वाली गति को **शयन-गति** (Sleep अथवा Nyctinastic movement) कहते हैं। शयनावस्था में पुष्प या सदल पत्तियाँ संकुचित हो जाती हैं जिससे पुष्प मुकुलित हो जाते हैं और सदल पर्णों के पत्रक दो दो एक साथ सट जाते हैं। शयनावस्था कभी कभी तो प्रकाश और अन्धकार पर निर्भर करती है और कभी संस्पर्श या ताप आदि के कारण भी उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं संकोच और विकास को उत्पन्न करने वाली गतियाँ अकारण और स्वभावसिद्ध होती है अर्थात् चाहे प्रकाश हो या अन्धकार संकोच और विकास अबाध रूप से होता रहता है। टेलीग्राफ़ उद्भिज्ज (Telegraph plant) में यह बात देखी जाती है। यह यदृच्छ गति का

उदाहरण है। लजावन्ती के पर्ण साधारणतः संध्या के समय शयन-स्थिति में आ जाते हैं परन्तु दिन में भी यदि उन्हें किसी प्रकार आघात पहुंचाया जाय तो वे शयनावस्था में आ जाते हैं।

(ग) **निर्दिष्ट गति** (Tropic movement):—जब उद्दीपकों के प्रभाव से किसी अंग में एक ओर दूसरी ओर की अपेक्षा अधिक वृद्धि होती है तो उस अंग का नमन होता है और नमन की दिशा उद्दीपक की दिशा पर निर्भर करती है। ऐसी गति को निर्दिष्ट या आवर्तन-गति कहते हैं। जिन उद्दीपकों के कारण आवर्तन-गति होती है उनमें भ्वाकृष्टि (Gravity), प्रकाश, रासायनिक पदार्थ, संस्पर्श और आर्द्रता मुख्य हैं। इनके कारण उत्पन्न निर्दिष्ट गति को क्रमशः भ्वाकृष्ट्यावर्तना (अथवा भ्वाकृष्ट्यावर्कि गति), भावर्तना, रासायावर्तना, संस्पर्शावर्तना तथा आर्द्रतावर्तना कहते हैं।

(१) **भ्वाकृष्ट्यावर्तना** (Geotropic movement):—जब किसी शिशु-वनस्पति को क्षैतिज समतल में रख दिया जाता है तो कुछ समय के बाद उसके काण्ड और मूल के वर्धनशील भाग अग्रों के कुछ पीछे टेढ़े होने लगते हैं और काण्ड ऊपर की ओर और मूल नीचे की ओर बढ़ने लगता है। यदि किसी दूसरी शिशु-वनस्पति को एक परिभ्रामक यन्त्र में लगाकर क्षैतिक समतल में रख दिया जाता है तो मूल और काण्ड की वृद्धि-दिशाओं में कोई परिवर्तन नहीं होता। पहले प्रयोग में भ्वाकृष्टि के प्रभाव से मूल के वर्धनशील भाग में ऊपर की ओर की अपेक्षा नीचे की ओर और काण्ड के वर्धनशील भाग में नीचे की अपेक्षा ऊपर की ओर अधिक वृद्धि होती है जिससे मूल भ्वाकृष्टि की दिशा में और काण्ड उसके विपरीत दिशा में बढ़ने लगता है। दूसरे प्रयोग में घूमते रहने के कारण मूल और काण्ड के चारो ओर भ्वाकृष्टि का समान प्रभाव पड़ता है अतः उनका नमन नहीं होता। भ्वाकृष्टि के कारण मूल और काण्ड की शाखायें अपनी वृद्धि इस प्रकार करती है कि वे प्रधान काण्ड या मूल से न्यून कोण या समकोण बनाती हैं। अन्तर्भूमिशायी और वहिर्धावी काण्ड भी प्रायः इसी दिशा में बढ़ते हैं। वल्लिओं के काण्ड पर भ्वाकृष्टि का प्रभाव पार्श्विक दिशा में भी पड़ता है जिससे उनका वर्धनशील अग्र कभी बाईं ओर और कभी दाईं ओर अधिक

वृद्धि करता है और अपने आश्रय को लपेट कर आगे बढ़ता है। जौ, गेहूं आदि पौधे जब कभी आँधी-पानी के कारण ज़मीन पर गिर जाते हैं तो कुछ समय के बाद वे फिर खड़े हो जाते हैं। इनकी ग्रन्थियाँ बृद्धिशील होती हैं और गिरने पर भ्वाकृष्टि के प्रभाव से साधारण काण्डों की तरह उनका नमन होता है और पौधे सीधे हो जाते हैं।

(२) भावर्तना (Phototropic movement):—यदि किसी शिशु-वनस्पति को खिड़की के पास अथवा ऐसे स्थान पर रख दिया जाय जहाँ प्रकाश केवल एक दिशासे आता हो तो कुछ समय के बाद काण्ड टेढ़ा होकर प्रकाश की दिशा में बढ़ने लगता है। यदि इसे किसी परिभ्रामक यन्त्र में लगाकर रखा गया होता और घूमते रहने के कारण काण्ड के चारों ओर प्रकाश समान रूप से मिलता तो काण्ड की वृद्धि-दिशा में कोई परिवर्तन न होता। इससे यह सिद्ध होता है कि काण्ड प्रकाश की दिशा में ही बढ़ता है। इसी तरह मूल का प्रकाश की दिशा के विरुद्ध बढ़ना दिखाया जा सकता है अर्थात् काण्ड की वृद्धि प्राकाशाभिमुखी (Positively Phototropic) और मूल की वृद्धि प्रकाशविमुख (Negatively Phototropic) होती है। सामान्य द्वि-पृष्ठक पत्तिओं पर प्रकाश का प्रभाव इस प्रकार का होता है कि पत्रपृष्ठ से प्रकाश की किरणें समकोण बनाती हैं। प्रकाश की दिशा बदलने पर वे प्रायः पर्णवृन्त को मरोड़ कर अपनी स्थिति बदल लेती हैं।

(३) स्पर्शावर्तना (Haptotropic Movement):—तन्तु, बल्ली-काण्ड तथा मूलों की वृद्धि-दिशा पर प्रायः दूसरी वस्तुओं के संस्पर्श का प्रभाव पड़ता है। वर्धमान मूल के मार्ग में यदि कोई कठोर वस्तु बाधास्वरूप आ जाती है तो वह अपनी वृद्धि-दिशा में परिवर्तन करके अपना मार्ग बदल देता है। अमरबेल के काण्ड तथा लताओं के तन्तु आश्रय का स्पर्श करते ही आश्रय को लपेटते हुये आगे बढ़ते हैं। तन्तुओं के वर्धनशील अग्र प्रायः टेढ़े होते हैं और उन पर स्पर्श का प्रभाव तभी पड़ता है जब स्पर्श नतोदर तल पर होता है। संस्पर्शज गति सूत्रारोहिणी लताओं के अतिरिक्त अन्य पौधों में भी देखी जाती हैं जैसे-लजावन्ती तथा ड्रोसेरा में। परन्तु इनमें गति वृद्ध्यात्मक नहीं होती बल्कि आशूनताभेद से इसकी उत्पत्ति होती है।

(४) **रासायावर्तना** (Chemotropic movement):—परागकण के कुक्षि के ऊपर पहुंचने पर इससे परागनाल की उत्पत्ति होती है जो कुक्षि तथा कुक्षि-वृन्त के भीतर २ आगे की ओर बढ़ता है। इसकी वृद्धि-दिशा पर उस शर्करा विलयन का प्रभाव पड़ता है जो गर्भाधान के समय कुक्षि में उत्पन्न होता है। कवकश्रेणी की वनस्पतिओं में खाद्य पदार्थों की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है और मानग्रोव वृक्षों में मूल ऐसी ही प्रवृत्ति के कारण अपनी नियमित वृद्धि-दिशा बदल कर जारक के लिये ऊर्ध्वमुख होकर बढ़ते हुये पृथ्वी के ऊपर निकल आते हैं।

(५) **आर्द्रतावर्तना** (Hydrotropic movement):—मूलों की वृद्धि आर्द्रताभिमुखी होती है। प्रकाश तथा भ्वाकृष्टि की अपेक्षा आर्द्रता का प्रभाव मूल की वृद्धि-दिशा पर अधिक पड़ता है।

उद्दीपना-ग्राहक प्रदेश:—प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रकाश तथा भ्वाकृष्टि आदि उद्दीपनों का ग्रहण मूल या काण्ड के अग्रों पर होता है पर उनका प्रभाव उस भाग में प्रगट होता है जहाँ कोशा-तल-विस्तरण के द्वारा सब से अधिक वृद्धि होती है। प्रकाश अथवा भ्वाकृष्टि की उपलब्धि जब एक निश्चित दिशा से होती है तो वर्धनशील अग्र के कुछ पीछे नमन होता है। यदि अग्र त्रपु-पर्ण (Tin foil) आवरण में ढक दिया जाता है अथवा अग्र काटकर अलग कर दिया जाता है तो तल-विस्तरण वाले प्रदेश में नमन के लक्षण नहीं दिखाई देते। इससे यह सिद्ध होता है कि उद्दीपकों के प्रभाव से वृद्धि-न्यासर्गों का निर्माण अग्रों पर होता है और वे तल-विस्तरण वाले प्रदेश में आकर अधस्तल की ओर संकेन्द्रित होते हैं। काण्ड में उनके संकेन्द्रण से अधस्तल की ओर अधिक वृद्धि होती है जिससे अग्र ऊर्ध्वमुख होकर बढ़ता है। मूल में अधस्तल की ओर वृद्धि-न्यासर्गों के अधिक संकेन्द्रण से वहाँ वृद्धि का ह्रास होता है जिससे ऊर्ध्वतल की ओर अधिक वृद्धि होती है और मूल अधोमुख होकर बढ़ता है।

चतुर्थ भाग

क्रमिक औद्भिदी (Systematic Botany)

परिच्छेद १४

वर्गीकरण के सिद्धान्त और पद्धतियां

क्रमिक औद्भिदी:—आज तक कुल लगभग दो लक्ष तैंतालिस सहस्र उद्भिज्ज-जातिओं का पता लगाया गया है और उन का वैज्ञानिक नामकरण किया जा सका है। सम्भवतः एक लक्ष से अधिक जातियाँ अभी भी अज्ञात और अवर्णित पड़ी हुई हैं। क्रमबन्धन विज्ञान का मुख्य लक्षण है, और दूसरे, ऐसे विशाल उद्भिज्ज-साम्राज्य के अध्ययन को सुगम और रोचक बनाने के लिये भी किसी न किसी प्रकार के वर्गीकरण का आश्रय अनिवार्य था, इसीलिये प्राचीनकाल से ही वनस्पतिओं के वर्गीकरण के अनेक प्रयास समय २ पर किये गये। ज्यों २ उद्भिज्ज-शास्त्र का विकाश होता गया, ज्ञात जातिओं की संख्या बढ़ती गई और उनका अध्ययन क्रमशः सर्वांगीण और विस्तृत होता गया, त्यों २ वर्गीकरण के आधारभूत सिद्धान्त और उन पर आधारित पद्धतियाँ भी बदलती गईं जिनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है।

वर्गीकरण के सिद्धान्तः—उद्भिज्ज-सृष्टि प्राणि-सृष्टि के जीवन और शक्ति का स्रोत है। मनुष्य के जीवन और स्वास्थ्य एवं मानव सभ्यता के अनेक उपकरण उद्भिज्ज-सृष्टि से ही प्राप्त होते हैं इसलिये बुद्धिजीवी मानव का उद्भिज्जों से सम्बन्ध समय के साथ क्रमशः घनिष्ट ही होता गया। साथ ही साथ उद्भिज्ज सम्बन्धी मानव जिज्ञासा भी दिन पर दिन बढ़ती ही गई। यह स्वाभाविक है कि पहले केवल अपने काम में आने वाले उद्भिज्जों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ होगा। लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व ग्रीस और भारत के प्राचीन लेखकों ने प्रायः चिकित्सोपयोगी वनस्पतियों का अपूर्ण वर्णन लिखा था। सोलहवीं शताब्दी तक पश्चिमी देशों में पूर्व के औद्भिद्-ज्ञान की कुछ भी अभिवृद्धि नहीं हुई बल्कि उसमें कितनी ही कपोलकल्पित बातें आ गई थी। इसके बाद ज्यों २ जिज्ञासु-प्रवृत्ति को उ`जना मिली वनस्पतियों का प्रत्यक्ष परीक्षण होने

लगा और कल्पित गाथाओं का परित्याग करके वनस्पतियों का वास्तविक और निर्णयात्मक ज्ञान प्राप्त किया जाने लगा। परन्तु अब भी केवल चिकित्सोपयोगी उद्भिजों का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के ही उद्देश्य से वनस्पतिओं का अध्ययन होता रहा। साथ २ अन्य उद्भिज-जातियों की ओर धीरे २ ध्यान आकृष्ट हुआ और वैज्ञानिक दृष्टि से उद्भिज्ज-सृष्टि का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। ज्यों २ ज्ञात जातिओं की संख्या बढ़ती गई वर्गीकरण की आवश्यकता बढ़ती गई।

प्रारम्भ में वर्गीकरण की जो पद्धतियाँ अपनाई गईं वे प्रायः वर्धि-कायिक लक्षणों पर आधारित थीं। चूंकि प्रारम्भ में केवल व्यवहारोपयोगी पौधों ही तक हमारा वनस्पति शास्त्र सीमित था इसलिये प्राचीनों की कोई २ वर्गीकरण-पद्धति व्यवहारिक उपयोगिता पर आधारित पाई जाती हैं। आयुर्वेद में बनौषधियों के प्रायः शाकवर्ग, पुष्पवर्ग, फलबर्ग, कंदवर्ग अथवा मूलिनी और फलिनी औषधियों के वर्ग मिलते हैं। यहाँ उनके प्रयुक्त भाग को वर्गीकरण का आधार बनाया गया था। इसके अतिरिक्त कहीं २ वनस्पतिओं की रहन-सहन, जीवनक्रम तथा साधारण रचना आदि को भी वर्गीकरण का आधार बनाया गया था। चरकाचार्य ने पौधों को उद्भिज्ज कहकर उन्हें वनस्पति, वानस्पत्य, ओषधि तथा वीरुध नामक वर्गों में विभक्त किया था। इस वर्गीकरण के अनुसार वनस्पति-वर्ग में बिना फूल के ही फल आते हैं, वानस्पत्य वर्ग में पुष्प के बाद फल आते हैं, औषधि वर्ग में फल के आने के बाद पौधे सूख जाते हैं और वीरुध वर्ग में लतायें होती हैं। सुश्रुत तथा चरक ने छ रसों अथवा रोगनाशक गुणों के आधार पर भी वनौषधियों का वर्गीकरण किया है। कहीं २ रचना और उपयोगिता दोनों को ध्यान में रखकर वर्गीकरण किया हुआ मिलता है जिससे शूकधान्य और शिम्बीधान्य जैसे वर्गों का निर्माण हुआ जो आधुनिक वर्गीकरण के शिम्बिकुल और गोधूमकुल से साहश्य रखते हैं।

लीनियस नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने सन् १७३५ में लैंगिक अवयवों के लक्षणों के आधार पर सम्पूर्ण वनस्पति-साम्राज्य को चौबीस वर्गों में विभक्त किया। इनमें चौबीसवें वर्ग में समस्त अपुष्पोद्भिदों का समावेश किया गया था क्योंकि उस समय तक उनके लैंगिक प्रजनन की विधि का ज्ञान नहीं था। पुष्पोद्भिदों को शेष तेइस वर्गों में विभक्त किया गया था जिनका पृथक्करण पुंकेशरों की संख्या तथा अन्य लक्षणों के आधार पर किया गया था। प्रत्येक के अन्दर स्त्रीकेशरों की संख्या आदि के आधार पर भिन्न २ जातियों को अलग किया गया था।

कृत्रिम और प्राकृतिक वर्गीकरण:—लीनियस प्रभृति प्राचीन लेखकों ने जिन २ पद्धतियों को अपनाया वे सब कृत्रिम (Artificial) थीं । इसीलिये इनके वर्गों में ऐसी २ वनस्पतियों का साथहो गया जो देखनेमें बहुत ही असमान मालूम होती थी । डारविन महोदय के 'जातियों की उत्पत्ति' (Origin of Species) के सिद्धान्त के साथ उद्भिज्ज-जातियों के बीच एक परम्परा-द्योतक सम्बन्ध प्रतिपादित हुआ और अब जातियों की बन्धुता वर्गीकरण का आधार बन गई । समस्त वर्धि-कायिक और लैंगिक लक्षणों का अध्ययन करके जातियों की बन्धुता (Affinity) का निर्णय किया जाने लगा । पुरोद्भिदी (Paleobotany) का ज्यों २ विकास होता गया और अनेक लुप्त जातियों पर प्रकाश पड़ता गया त्यों २ बन्धुता-निर्णय में और भी सहायता मिलती गई । बन्धुता पर आधारित होने के कारण आधुनिक वर्गीकरण की पद्धतियाँ अब प्राकृतिक (Natural) कही जाने लगी । चूंकि बन्धुता सम्बन्धी मतभतान्तर भी वैज्ञानिकों में रहा इसलिये प्राकृतिक वर्गीकरण की भी कई पद्धतियों का जन्म हुआ । इनमें 'बेन्थम और हूकर' 'एंगलर और प्रेंटिल' तथा 'हचिंसन' की पद्धतियां मुख्य हैं जिनका आजकल उपयोग किया जाता है ।

वैज्ञानिक नामकरण:—पौधों और जन्तुओं के वैज्ञानिक नामकरण की प्रचलित पद्धति लिनियस की चलाई हुई है जिसे **'द्विपद पद्धति'** (Binomial system) कहते हैं । प्रत्येक नाम में दो पद होते हैं जिनमें पहला पद प्रजाति (Genus) वाचक और दूसरा जाति (Species) वाचक होता है । प्राकृतिक वर्गीकरण में सबसे छोटे एकक को **जाति** (Species) कहते हैं । एक जाति के अन्दर जितने व्यक्ति होते हैं वे सभी प्रायः रचनाकारिकीय लक्षणों में समान होते हैं, अर्थात् वे देखने में एक ही तरह के होते हैं और पत्ती, पुष्प, फल तथा बीज आदि की रचना एक ही तरह की होती है । भूमि और जलवायु के अनुसार उनके शरीर अथवा अवयवों के क़द आदि कुछ छोटी २ बातों में वे एक दूसरे से कुछ भिन्न हो सकते हैं । बहुत सी जातिओं में भूमि, जलवायु तथा अन्य प्रकार की बाह्य परिस्थितिओं के कारण एक से अधिक भेद या व्यक्तिसमूह देखने को मिलते हैं जो प्रायः एक दो बातों में भिन्न होते हैं । इन्हें **भेद** (Variety) कहते हैं । ऐसी भिन्नता प्रायः क़द, रङ्ग तथा आकृति आदि में होती है । धान, आम तथा उद्यानमटर की जातियों में प्रायः ऐसे भेद पाये जाते हैं । परन्तु यह ध्यान

में रखना चाहिये कि परिस्थितियों में परिवर्तन करके एक भेद को दूसरे भेद में बदला जा सकता है।

जो २ जातियां पुष्प की रचना में समान होती हैं उनका समावेश एक **प्रजाति** (Genus) में होता है। एक प्रजाति के अन्तरगत जितनी जातियां होती हैं वे एक दूसरे से प्रायः सूरत-शकल में, पत्तियों के आकार, कद, तथा तल-प्रकार, पुष्प की क़द, आभ्यन्तर दलों के रंग तथा वाह्य और आभ्यन्तर दलों के आकार आदि में तथा वर्धि-कायिक स्वभाव में भिन्न हो सकती है परन्तु सामान्य पुष्प-रचना में वे सब एक ही प्रकार की होती हैं। प्रजाति, जाति तथा भेद आदि वर्गीकरण के एककों का निर्णय जिन लक्षणों के आधार पर किया जाता है उनके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो लक्षण जितने ही स्थायी होते हैं वे उतने ही उच्चतर श्रेणिओं के बीच विभेदक लक्षणों का काम देते हैं। वर्धि-कायिक लक्षणों में अनेक अत्यधिक परिवर्तनशील होने के कारण वर्गीकरण में उपयोगी नहीं होते। इनके विपरीत पुष्प-रचना सम्बन्धी विशेषताओं का विकास प्रायः परिस्थितिओं पर निर्भर नहीं करता और इसीलिये उनका अधिक उपयोग होता है।

जो प्रजातियां कुछ मुख्य २ स्थायी लक्षणों में एक दूसरे के समान होती हैं उनका समावेश एक **प्राकृतिक वर्ग** (Natural Order) या **कुल** (Family) के अन्दर होता है। एक कुल की वनस्पतिओं में पुष्प की सामान्य अवयव-योजना एक प्रकार की होती है। प्रजातिगत भेद पुष्प तथा उसके अवयवों की सूक्ष्म बातों अथवा फल और बीज के लक्षणों पर आधारित रहते हैं। किसी कुल की प्रजातिओं में जितनी समानता होती है उससे कहीं अधिक एक प्रजाति की जातिओं में होती है। इसी तरह आकृतिक समानताओं के आधार पर कुलों से गणों (Orders) का, गणों से श्रेणिओं (Series) का, श्रेणियों से उपविभागों (Sub-orders) और अन्ततः विभागों का निर्माण किया गया है। चूंकि यह वर्गीकरण पौधों के औत्पत्तिक सम्बन्ध के अनुसार किया गया है इसलिये सम्पूर्ण वनस्पति-साम्राज्य का एक वंशवृक्ष के अन्दर समावेश हो जाता है।

आवृत-बीज वनस्पतियों का वर्गीकरण—

बीजोद्भिद् विभाग पहले (१) नग्नबीज और (२) आवृतबीज दो उपविभागों

में बांटा गया है। आवृत बीज फिर (१) **द्वि-बीजपत्र** (२) **एक-बीजपत्र**–दो श्रेणियों में निम्नलिखित लक्षणों के आधार पर विभक्त किया गया है:—

(१) द्वि–बीजपत्रों में प्रायः दो बीजपत्र और एक–बीजपत्रों में केवल एक बीजपत्र होता है।

(२) द्वि–बीजपत्रों में प्रायः भ्रूणाग्र अग्र्य और बीजपत्र पार्श्विक और एक–बीजपत्रों में इसके विपरीत भ्रूणाग्र पार्श्विक तथा बीजपत्र अग्रथ होते हैं।

(३) द्वि–बीजपत्रों में प्रायः अधिमूल-संहति और एक-बीजपत्रों में अनियमित तन्तुमय मूल-संहति होती है।

(४) द्वि–बीजपत्रों में नाड़ी–विन्यास प्रायः नियमित रूप से जालिका सदृश और एक–बीजपत्रों में प्रायः समदिश विन्यास होता है। अपवाद स्वरूप चोवचीनी (Smilax) तथा वाराही प्रजातिओं में जालिका विन्यास और पुन्नाग (Calophyllum) में समदिश-विन्यास होता है।

(५) द्वि–बीजपत्रों में पुष्प प्रायः द्व्यंश, चतुरंश, अथवा पंचांशभागी होते हैं और एक–बीजपत्रों में वे प्रायः त्र्यंशभागी होते हैं।

आन्तर रचना में दोनों के मूल और काण्ड दोनों भिन्न होते है (देखो पृष्ठ १४६ और १५५)

आवृतबीज की दोनों श्रेणियां फिर निम्नलिखित उपश्रेणिओं (Subclasses) और गणों (Series) में विभक्त की गई है:—

द्विबीजपत्रः—(१) पृथग्दल (Polypetalae):– वाह्य और आभ्यन्तर कोश दोनों उपस्थित, आभ्यन्तर दल स्वतन्त्र; पुंकेशर और स्त्रीकेशर भी प्रायः उपस्थित; पुंकेशर प्रायः बहुसंख्यक (अनियत) और स्त्रीकेशर संयुक्त अथवा स्वतंत्र।

(क) **थैलेमीफ्लोरी** (Thalamiflorae):–वाह्यदल प्रायः स्वतन्त्र; पुंकेशर अधःस्थ और अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ जैसे:—वत्सनाभ-कुल, अहिफेन-कुल, राजिका–कुल और कार्पास–कुल।

(ख) **डिस्सीफ्लोरी** (Disciflorae):— मधु–चक्र से युक्त पुष्प, पुंकेशर बहुसंख्यक और मधुचक्र के ऊपर या बाहर स्थित जैसे:—निम्बु-कुल

(ग) **कैलिसीफ्लोरी** (Calyciflorae) वाह्यकोश प्रायः संयुक्तदल, आभ्यन्तरदल वाह्यकोश पर स्थित; पुंकेशर परि-अथवा अधोजाय जैसे:—शिम्बि-कुल तथा गर्जर-कुल।

(२) **संयुक्तदल** (Gamopetalae):—आभ्यन्तर कोश संयुक्तदल, पुंकेशर प्रायः सर्वदा नियत और आन्तःकौशम; स्त्रीकेशर प्रायः दो या कभी २ अधिक भी, संयुक्त या स्वतन्त्र; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ अथवा अधःस्थ।

(क) **इन्फेरी** (Inferae):—अण्डाशय अधःस्थ; पुंकेशर और आभ्यन्तर दल संख्या में बराबर; स्त्रीकेशर प्रायः दो और संयुक्त जैसेः—मंजिष्ठा-कुल और मुण्डक-कुल ।

(ख) **हेटेरोमेरी** (Heteromerae):—अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; पुंकेशरों की संख्या आभ्यन्तर दलों की संख्या के बराबर अथवा द्विगुण; स्त्रीकेशर दो से अधिक और परस्पर संयुक्त, जैसे–अरिष्टक-कुल ।

(ग) **बाईकार्पेलेटी** (Bicarpellatae): —अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ; पुंकेशरों की संख्या आभ्यन्तर दलों की संख्या के बराबर या कम; स्त्रीकेशर दो, संयुक्त अथवा कभी २ स्वतन्त्र जैसे:-त्रिवृत-कुल, कंटकारी-कुल, कटुका-कुल और तुलसी-कुल ।

(३) **अपूर्णपुष्प** (Incompletae):—पुष्प अपूर्ण और प्रायः एक-लिंग; वाह्य और आभ्यन्तर कोशों में कभी एक और कभी दोनों अनुपस्थित जैसेः-एरण्ड-कुल ।

इस समुदाय में वेन्थम और हूकर की पद्धति के अनुसार आठ गण सम्मिलित हैं ।

एक-बीजपत्र:—यह श्रेणी वेन्थम और हूकर के अनुसार सात गणों में विभक्त हैं । वाइन्स के वर्गीकरण में एक–बीजपत्रों का विभाजन निम्नरीति से किया गया है:—

(१) **पेटलायडी** (Petaloideae):—इस उपश्रेणी में सवर्णकोश प्रायः अन्तर्दलायित होते हैं ।

(क) **अधोजाय** (Hypogynae):—पुष्प अधोजाय अतः अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ जैसे–पलाण्डु-कुल ।

(ख) **उपरिजाय** (Epigynae): —पुष्प उपरिजाय अतः अण्डाशय अधःस्थ जैसे—हरिद्रा–कुल ।

(२) **स्पडिसीफ्लोरी** (Spadiciflorae): पुष्प-व्यूह पत्रावृत अवृन्त काण्डज और एक या अधिक पत्रकोशों से आवृत जैसे—ताल–कुल ।

(३) **ग्लूमीफ्लोरी** (Glumiflorae):—पुष्प बुसपत्र (Glume) नामक विशेष प्रकार के कोणपुष्पकों से घिरे हुये जैसे–गोधूम-कुल ।

परिच्छेद १५

कुछ आवृत-बीज कुलों का वर्णन

१—वत्सनाभ-कुल

RANUNCULACEAE

कुल-लक्षण:—एक-वर्षायु अथवा बहु-वर्षायु क्षुप या आरोही गुल्म; पर्ण-विन्यास मूलोद्भव, एकान्तर अथवा कभी २ अभिमुख; पर्ण अपत्रक और बहु-खंडित अथवा सपत्रक, प्रायः अनुपपत्र, पर्णमूल कोषाकार और पर्णवृन्त आरोहण के निमित्त कहीं २ कुण्डलित; पुष्प-व्यूह प्रायः बहु-वर्ध्यक्ष अथवा कहीं २ एक-वर्ध्यक्ष (वत्सनाभ और जद्वार प्रजातियों में सवृन्त—काण्डज और अगेती (Anemone) में एकल अवसान पुष्प); पुष्प समच्छेद (नियताकार) अथवा समैकच्छेद (वत्सनाभ और जद्वार प्रजातियों में), अर्धचक्रित (Hemi-cyclic), कभी २ चक्रित, एककोश अथवा उभयकोश (अपृथक्कोश और अन्तर्दलायित), प्रायः उभयलिंग और अधोजाय (दल्यक्ष प्रायः लम्बीभूत); दलों और पुंकेशरों के बीच में प्रायः मधु-ग्रन्थियाँ; पुंकेशर बहुसंख्यक (अनियत) स्वतन्त्र और प्रायः कुण्डलित क्रम में, परागाशय वहिःस्फुट; जायांग प्रायः बहु-केशरक (स्त्रीकेशर कभी २ तीन तक या केवल एक) और पृथगांगक (मगरैल में अंशतः संयुक्तांगक), कुक्षि प्रायः अवृन्त, प्रत्येक अण्डाशय में बीजभव १—अनेक और बीज भ्रूणपोषी; फल युतोत्फल-संहत अथवा भग्नैकसंधिक-संहत, कभी २ बीजिमांसल या एकीभाव के कारण सामान्य स्फोटी ।

इस कुल की वनस्पतियां प्रायः पर्वतों के ऊपर ठंढी जगहों में जैसे प्रायः ६ हज़ार फीट के ऊपर हिमालय, पश्चिमी घाट एवं नीलगिरि पर पाई जाती हैं। कुछ जातियाँ नदी-नालों के समीप नम ज़मीन में उगती हैं। देवकांडर (जल-धनियाँ) मोरवेल, छागलवाती तथा जद्वार और वत्सनाभ की उद्यान-जातियाँ मैदानों में भी होती हैं।

वाह्य और आभ्यन्तर दलों में प्रायः अन्तर नहीं होता क्योंकि सभी दल प्रायः अन्तर्दलायित होते हैं। केवल देवकाण्डर प्रजाति में पुष्प पृथक्कोश होता है परन्तु यहाँ भी वाह्य दल किंचित अन्तर्दलायित होते हैं। जब दलों का केवल एक चक्र उपस्थित रहता है तो वह अन्तर्दलायित होता है और उसके तथा पुमंग के

बीच में प्रायः मधु-ग्रंथियाँ होती हैं जिन्हें प्रायः अन्तर्दलों का रूपान्तर माना जाता है। मधु-ग्रंथियाँ कभी २ वाह्य दल, पुंकेशर तथा स्त्री-केशरों से सम्बद्ध रहती हैं। पुष्प के वर्णन में केवल एक कोश के रहने पर उसे वाह्य कोश और दोनों के रहने पर उन्हें वाह्य और अभ्यान्तर कोश मान कर वर्णन किया जाता है। वाह्य दल संख्या में प्रायः पाँच और आभ्यन्तर दल पाँच या पाँच से कम होते हैं। कहीं इनके स्थान में मधु-ग्रंथियाँ होती हैं और कहीं इनका पूर्णतः लोप हो गया रहता है।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—वत्सनाभ (*मूल-स्तम्भ), शृंगी विष (मूल-स्तम्भ), अतिविषा या अतीस (मूल-स्तम्भ), प्रतिविषा या विखमा (मूल-स्तम्भ), निर्विषा या जद्वार (मूल-स्तम्भ), ममीरा (अन्तर्भूमिशायी और मूल), ममीरी (मूल), कलौंजी या मगरैल (बीज), मोरवेल या मूर्वा-प्रतिनिधि (मूल), उदसलीव (मूल), देवकाँडर या काण्डीर (पंचांग)।

२-गुडुची-कुल (Menispermaceae)

कुल-लक्षण:—पौधे प्रायः अद्विधैकलिंगक; पुष्प सूक्ष्म, एकलिंग और अधोजाय; वाह्य दल संख्या में प्रायः ६ और दो चक्रों में (कभी कभी ९, या ६ से कम), वाहरी चक्र के दल वहुत छोटे, आभ्यन्तर दल प्रायः ६, कभी २ कम या अनुपस्थित, स्वतंत्र या संयुक्त पुंपुष्प में पुंकेशर संख्या में आभ्यन्तर दलों के वरावर, उनके अभिमुख और अधोजाय, पुंकेशर-सूत्र और परागाशय स्वतंत्र या संयुक्त और स्त्रीकेशर अर्ध-विकसित (Rudimentary) या अनुपस्थित; स्त्रीपुष्प में जायांग प्रायः त्रि-स्त्रीकेशरक (कभी १, ६ या अधिक), कुक्षिवृन्त प्रायः पार्श्विक, क्लीवकेशर प्रायः ६ या पुंकेशर अनुपस्थित, बीजीभव प्रायः एकाकी और अनुप्रस्थ-वपुस्क; फल अष्ठिफल और प्रायः एक-बीज, बीज वृक्काकार या अर्धचन्द्राकार।

इस कुल में आरोही गुल्म होते हैं। स्वावलम्बी वृक्ष या क्षुप बहुत कम होते हैं। पर्ण कुन्तल क्रम में, अनुपपत्र और नाडी-विन्यास प्रायः पाणिवत् होता है।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—गुडूची (काण्ड और उससे निकाला हुआ मण्ड जिसे गुडूची सत्व कहते हैं), पाठा की दो-तीन जातियाँ (मूल, पत्र और

---

*वनौषधियों के नामों के आगे कोष्ठ में उनके प्रयुक्त भागों के नाम दिये गये हैं।

पंचांग), पाताल-गरुड़ो या जलजमनी (मूल, पत्र), विदेशी कलम्बा और उसका देशी प्रतिनिधि कलम्बक (मूल) जो दारुहरिद्रा का भी प्रतिनिधि होने से बल्ली दारुहरिद्रा कहा जाता है, काकमारी (फल)।

३-अहिफेन-कुल (Papaveraceae)

कुल-लक्षण:-क्षुप और प्रायः दुग्ध सदृश श्वेत अथवा पीत वर्ण के आक्षीर (Latex) से युक्त; पर्ण सखण्ड, मूलोद्भव या काण्डोद्भव, एकान्तर और अनुप पत्र; पुष्पदण्ड प्रायः एक-पुष्प (अवसान पुष्प); पुष्प नियताकार, अधोजाय और प्रायः बड़ा और दर्शनीय; वाह्य दल संख्या में दो (कभी कभी तीन भी), नियताक और कलिकाद्रुष्क; आभ्यन्तर दल संख्या में प्रायः चार (कभी कभी ६ भी) और दो चक्रों में; पुंकेशर बहुसंख्यक, स्वतंत्र और परागाशय वद्धमूलक; स्त्रीकेशर दो अथवा दो से अधिक और संयुक्तांगक; अण्डाशय एक-गह्वर, ऊर्ध्वस्थ और जरायु-न्यास अभिभित्तिग (कभी २ जरायु भीतर की ओर निकले हुये); कुक्षिवृन्त अनुपस्थित और कुक्षि टोपीरूप और तारकाकार; बीजीभव वहुसंख्यक और प्रतीप वृपुष्क; फल सामान्य स्फोटी, रन्ध-,या दन्त-स्फुट; बीज अनेक और भ्रूण पोष तैलयुक्त।

इस कुल की वनस्पतियाँ अधिकतर उत्तरी समशीतोष्ण कटिबन्ध में पाई जाती हैं। पोस्त और स्वर्णक्षीरी के पौधे प्रायः शीत काल में यहां होते हैं। उद्यान पोस्त की एक-दो जातियां वागों में लगाई हुई मिलती हैं। इस कुल में जरायु कभी २ अण्डाशय के भीतर मध्य की ओर इतने अधिक वढ़े हुये रहते हैं कि अण्डाशय-गह्वर कई कोठरियों ये विभक्त प्रतीत होता है पर वस्तुतः ये कोठरियां एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं होती।

पर्पट और भूतकेशी (Corydalis) प्रजातिओं में कोशा-रस पानी की तरह पुष्प अनियताकार और ६ पुंकेशरों का द्वि-सौत्रक पुमंग होता है। इन्हें कभी पर्पट-कुल (Fumariaceae) के अन्दर रखकर अहिफेन-कुल से पृथक् कर दिया जाता है। पर्पट (पित्तपापड़ा या धमगजरा) शीत काल में खेतों में उगता है।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियां:-पोस्त (फल-दुग्ध जिससे अहिफेन बनता है और बीज जिसे खस-खस कहते हैं), स्वर्णक्षीरी या भड़भाड़ (बीज, मूल

और दुग्ध), लाल पोस्त (आभ्यन्तर दल), क्षेत्रपर्पट या धमगजरा और विदेशी पर्पट जिसे शहतरा कहते हैं (पंचांग), भूतकेशी (मूल) ।

४-राजिका-कुल (Cruciferae)

कुल-लक्षण :—पुष्प चक्रित, उभयलिंग और समच्छेद, पुष्पसूत्र क २ + २ द ४ (विकर्ण) पु २ (प्रायः छोटे) + ४ (प्रायः बड़े) जा (२); जरायु-न्यास अभिभित्तिग; अण्डाशय प्रायः द्वि-गह्वर (कूटपटी के कारण); कुक्षिवृन्त छोटा या अनुपस्थित; बीजीभव प्रतीप-,या वक्रितवपुष्क; फल कूटपटीक अथवा कूटपटीका, कभी २ अनुपस्थ-पटीक; बीज मुक्तभ्रूणपोष और चोल प्रायः निर्यासोदयुक्त; भ्रूण प्रायः सर्वदा भंजित ।

इस कुल में वनस्पतियाँ प्रायः क्षुप (कोई २ गुल्म) श्रेणी की होती हैं परन्तु वे एक-वर्षायु, द्वि-वर्षायु अथवा बहु-वर्षायु-किसी प्रकार की हो सकती हैं। कोशा-रस पानी की तरह और स्वाद में प्रायः कटु होता है। बहुत सी वनस्पतिओं में मूल-पत्रों का गुच्छ पाया जाता है पर अधिकतर पत्तियाँ एकान्तर और अनुपपत्र होती हैं।

पुष्पव्यूह प्रायः सवृन्त-काण्डज अथवा पुष्पकलिकायें समस्थ-काण्डज होती हैं और कोणपुष्पक नहीं होते। दो पार्श्विक बाह्यदल प्रायः तुन्दिल होते हैं। इनके सामने समीप में जो दो छोटे पुंकेशर होते हैं जिनके मूल के पास हरित मधु-ग्रंथियाँ होती हैं जिनसे मधु निकल कर तुंदिल बाह्य दलों के मूल में एकत्र होता है। पुमंग प्रायः चतुष्क-युग्म होता है। इसके चार बड़े पुंकेशर अग्र-पश्च समतल में होते हैं।

आभ्यन्तर कोश काकार और दल-दण्डों से युक्त रहते हैं। कहीं २ समस्थ-काण्डज व्यूह होने पर गुच्छ के बाहरी पुष्पों के बाहरी आभ्यन्तर दल मध्य की ओर के आभ्यन्तर दलों से बड़े होते हैं और पुष्प समैकच्छेद होता है।

पुष्पों के प्रायः युगपत्पाकी अथवा किंचित् प्राक्पुंपाकी होने के कारण स्वयं-परागण में भी बाधा नहीं होती और वह भी प्रायः होता रहता है। अपर-परागण मक्षी, शलभ तथा पतंग आदि के द्वारा होता है। इस कुल के पौधे उष्ण कटिबन्ध में अधिक नहीं मिलते, समशीतोष्ण कटिबन्ध में तथा अनेक पौधे पर्वतों पर पाये जाते हैं। इनमें अनेक तैल-बीज होते हैं और कितने शाकार्थ पैदा किये जाते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :—राजिका या राई और सर्षप के सब भेद (बीज, पत्रशाक और तैल), चन्द्रशूर या चनसुर (बीज), मूली (पंचांग), खाकसीर (बीज), तीनों प्रकार की गोभी (शाकार्थ प्रयुक्त), तोद्री (बीज) और सलजम (शाकार्थ अधिमूल प्रयुक्त) ।

५—वरुण-कुल (Capparidaceae)

कुल-लक्षण :—क्षुप, आरोही गुल्म अथवा कोई २ वृक्ष ; पत्तियाँ एकान्तर या अभिमुख, अपत्रक या सदल (दल पाणिवत् और ३–९ तक), सोपपत्र (उपपत्र सामान्य या कंटकीभूत) या अनुपपत्र; पुष्पव्यूह एक–वर्ध्यक्ष, प्रायः समस्थ-काण्डज या सवृन्त–मूर्धज; पुष्प प्रायः बड़े और दर्शनीय, उभयलिंग, अधोजाय, नियताकार अथवा अनियताकार, बाह्य दल चार, काकार क्रम में और दो चक्रों में, आभ्यन्तर दल प्रायः चार; पुंकेशर स्वतंत्र, प्रायः ४ से ८ या बहुसंख्यक, पुंकेशर-तन्तु लम्बे और कोमल; स्त्रीकेशर दो या अधिक, संयुक्त, जायांगधारक अथवा उभयधारक प्रायः उपस्थित ; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, प्रायः एक-गह्वर अथवा मिथ्या पटिओं के कारण गह्वर अधिक, कुक्षिवृन्त छोटा या अनुपस्थित; जरायु–न्यास अभिभित्तिग, बीज बहुसंख्यक, वृक्काकार और मुक्तभ्रूणपोष; फल बीजिमांसल अथवा फलबीजभेदक ।

यह कुल प्रधानतः उष्णप्रदेशीय है । इसकी और राजिका–कुल की पुष्प-रचना में जैसे सादृश्य है उसी तरह दोनों कुलों की वनस्पतिओं में दाहक (Rubefacient) और स्फोट–कारक (vesicant) गुण भी होते हैं ।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :— श्वेत और पीत हुरहुर या आदित्यभक्ता (बीज, पत्र), वरुण (त्वक्), हिंस्रा (मूल), व्याघ्रनखी या करेरुआ (मूल), कवर (मूल) करीर (फल), मुरहरी या मधुरसा मूर्वा या मूर्वा प्रतिनिधि (मूल) ।

६—कार्पास-कुल (Malvaceae)

कुल-लक्षण :—क्षुप, गुल्म अथवा वृक्ष, प्रायः रोमश (रोम तारकाकार); अन्तस्त्वक् प्रायः रेशेदार (तन्तुमय) और स्वरस प्रायः निर्यासोदयुक्त; पर्ण एकान्तर, सोपपत्र (उपपत्र मुक्त-पार्श्विक) और नाड़ी-विन्यास कम से कम पत्रमूल पर पाणिवत् ; पुष्पव्यूह बहु-वर्ध्यक्ष अथवा एकल अवसान पुष्प; पुष्प नियताकार, प्रायः

उभयलिंग और अधोजाय; अधःबाह्यकोश प्रायः उपस्थित; बाह्य और आभ्यन्तर कोश पंचांगभागी ; बाह्यकोश प्रायः संयुक्त-दल और संश्लिष्टदलक ; आभ्यन्तर कोश नियतारूढ़ और पुमंग-नाल से संयुत होने के कारण देखने में संयुक्त-दल परन्तु वस्तुतः विभक्त-दल ; पुंकेशर प्रायः अनियत (कभी२ केवल पाँच), एक-सौत्रक और आन्तःकौशभ; परागाशय अनुपस्थित या एक-धानी (One-celled) और परागकण बड़े तथा कंटकित; स्त्रीकेशर पाँच या पाँच से अधिक और परस्पर संयुक्त; कुक्षिवृन्त नीचे एक और ऊपर उतने ही जितने स्त्रीकेशर अथवा दूने; अण्डाशय बहु-गह्वर, जरायुन्यास लग्नमध्यग और बीजीभव प्रत्येक गह्वर में एक-अनेक; फल सामान्य स्फोटी अथवा बद्धविदारी (कभी २ कठोर और अस्फोटी); गर्भ प्रायः वक्रित और भ्रूणपोष से आवृत।

इस कुल की बहुत सी प्रजातिओं में वृन्त-पत्रकों और उनके उपपत्रों के द्वारा अधःबाह्यकोश बना होता है-जैसे जपापुष्प में। पुंकेशरों के परागाशय प्रायः एक-धानी होते हैं और वे पांच अन्तर्दलाभिमुखी पुंकेशरों के अति-विभाजन से प्रायः संख्या में बहुत अधिक हो जाते हैं। पाँच बाह्यदलाभिमुखी पुंकेशर प्रायः लुप्त हो गये रहते हैं और कहीं २ विभक्त होकर क्लीबकेशरों के रूप में विद्यमान रहते हैं और सभी के सूत्र मिल कर एक-सौत्रक पुमंग की रचना करते हैं। शाल्मली और कूटशाल्मली के वृक्षों में पाणिवत् सदल पर्ण होते हैं और पुमंग बहु-सौत्रक होता है।

इस कुल में पुष्प प्रायः प्राक्पुंपाकी होते हैं और संतानोत्पत्ति प्रायः अपर-परागण से होती है। आभ्यन्तर दलों के बीच २ में पाँच छोटे गड्ढे होते हैं जहाँ मधु एकत्र रहता है। इन गर्तों के ऊपर रोम होते हैं।

इस कुल की वनस्पतियाँ प्रायः समशीतोष्ण और उष्ण कटिबन्धों में अधिक पाई जाती हैं। मैदानों में अनेक जातियों की खेती होती है जिनके रेशे, कपास, बीज या फल (शाकार्थ) का उपयोग होता है। औषध रूप में अनेक वनस्पतिओं के बीज और मूल लिये जाते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—कार्पास और उद्यानकार्पास (मूल, बीज और पुष्प), बला महाबला, भूमिबला (नागबला प्रतिनिधि), श्वेत बला तथा अतिबला (कंघी) की जातियाँ (मूल, बीज और पंचांग), जपा (पुष्प), पटवा, लालपटवा (मांसल निर्यासोदयुक्त बाह्यकोश), भिण्डी (फलशाक),

लताकस्तूरी (बीज), सुगन्धबला (मूल), रक्तशाल्मली (मूलत्वक् और निर्यास जिसे मोचरस कहते हैं), श्वेत या कूट शाल्मली, पारीश या पारस पीपल, गोरख इमली (फल और छाल), सौंचल या सुवर्चला (पत्रशाक), खुबाजी (बीज), खतमी (मूल)।

७–निम्बु-कुल (Rutaceae)

कुल-लक्षण:— प्रायः वृक्ष और गुल्म (कोई २ क्षुप भी); पत्तियाँ अपत्रक या सदल, एकान्तर अथवा अभिमुख, अनुपपत्र और अर्धपारदर्शक उत्पततैल-ग्रन्थिओं से युक्त; पुष्पव्यूह प्रायः बहु-वर्ध्यक्ष; पुष्प प्रायः उभयलिंग, अधोजाय और नियताकार (कभी २ समैकच्छेद); बाह्यकोश और आभ्यन्तरकोश पञ्चांग-या चतुरङ्गभागी; बाह्य दल स्वतन्त्र अथवा संयुक्त, नियतारूढ़ और प्रायः कटोररूप; आभ्यन्तर दल स्वतन्त्र और प्रायः नियतारूढ़ (कभी २ संश्लिष्टदलक); पुंकेशर संख्या में आभ्यन्तर दलों के बराबर, द्वि-गुण अथवा इससे भी अधिक (कभी २ तीन या दो), प्रायः स्वतन्त्र, कभी २ बहु-सौत्रक; परागाशय अन्तःस्फुट; जायांग प्रायः (४) अथवा (५), कभी २ तीन, एक या बहुत अधिक; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, बहु-गह्वर, मधु-चक्रयुक्त (मधुचक्र पूर्ण अर्थात् मुद्रिकाकार अथवा खण्डित और चषकाकार), प्रत्येक अण्डाशय-गह्वर में बीजीभव दो या अधिक, जरायुन्यास लग्नमध्यग, कुक्षिवृन्त संयुक्त (एक) या विभक्त और स्थूल, कुक्षि प्रायः गोल और टोपी-रूप।

इस कुल की वनस्पतियाँ अधिकतर उष्ण और अनूष्ण (Sub-tropical) कटिबन्धों में पाई जाती है। इनमें अनेक फल-वृक्ष होते हैं जो बागों में लगाये जाते हैं। सुगन्धित उत्पत-तैल की ग्रन्थियाँ प्रायः समस्त उद्भिज्ज में पाई जाती हैं परन्तु पत्तिओं और फल-त्वक् में वे बहुत स्पष्ट होती हैं। इनके कारण पौधों में कुछ न कुछ गन्ध होती है। नीबू आदि की पत्ती अपत्रक और वृन्त सपक्ष मालूम होता है परन्तु सपक्ष वृन्त और फलक के बीच में संधि होती है अतः फलक सदलपर्ण का एक दल और वृन्त के पक्ष उसके अन्य प्रह्रासित दल माने जाते हैं। नीबू आदि में पत्रकोणों में जो काँटे होते हैं वे शाखाओं के रूपान्तर होते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ।—नीबू और नारंगी की अनेक जातियाँ (फल), बिल्व (फल, मूल, छाल और पत्ती), कपित्थ (पत्ती और फल),

मीठी नीम (पत्ती और मूल), हरमल (बीज), सुदाब (पत्ती या पञ्चांग), तेजबल (फल और दातुन), कामिनी (दातुन) तथा वननिम्बू, दहन (जंगली काली मिर्च) आदि ।

८—शिम्बि-कुल (Leguminosae)

कुल-लक्षण:—पुष्प चक्रित, पृथक्कोश, पंचांगभागी, अधोजाय या कुछ २ परिजाय, उभयलिंग (कहीं एकलिङ्ग) नियताकार अथवा समैकच्छेद; पुंकेशर प्रायः संख्या में दस; स्त्रीकेशर प्रायः एकाकी (कहीं २ दो अथवा ५ से १५ तक परन्तु यह विरल अवस्था है) ; अण्डाशय एक-गह्वर, कहीं २ अनुऽस्थ-पटीक; वीजीभव प्रायः अनेक (कहीं २ एकाकी) और औदर्य संधि पर दो जरायुओं से एकान्तर क्रम में निकले हुये; कुक्षिवृन्त अग्रस्थित; फल प्रायः भग्नोभयसंधिक और कभी २ अस्फोटी; भ्रूणपोष स्वल्प अथवा अनुपस्थित ।

यह कुल बहुत बड़ा और जगत-विस्तृत है और जाति-संख्या की दृष्टि से इसका द्वितीय स्थान है । इसमें हर प्रकार की मिट्टी और जलवायु में होने वाली वनस्पतियाँ होती हैं इसलिये क्षुप, गुल्म, वृक्ष, लतायें, शुष्कोद्भिद् , मध्योद्भिद् अथवा जलोद्भिद् सभी तरह के पौधे इसमें होते हैं । उपयोगिता की दृष्टि से भी इसका बहुत बड़ा महत्व है । मनुष्यों का भोजन, पशुओं का चारा, अनेक प्रकार के निर्यास, उद्वास, रङ्ग और तन्तु इनसे प्राप्त होते हैं । अनेक वनस्पतिओं के मूल में ग्रन्थिकायें होती हैं जिनमें निवास करने वाले शाकाणुओं की सहायता से वे वायुमण्डलिक भूयाति का उपयोग कर लेती हैं। इसीलिये जिस ज़मीन में ये उगती हैं उसे और भी उपजाऊ बना देती हैं । अन्य वनस्पतियों की फसलों के बाद मिट्टी को ज़ोरदार बनाने के लिये अथवा कमज़ोर खेतों में इनकी फसलें बोई जाती हैं ।

लतायें तन्तुभूत काण्डों, पत्तियों अथवा पत्रकों के द्वारा आरोहरण करती हैं और कहीं २ अंकुशभूत पत्तिओं अथवा सामान्य वाह्य वृद्धियों की सहायता से अपने २ आश्रय के ऊपर फैलती हैं । मालभन तथा लतापलाश सदृश प्रतानिनी जाति की अनेक लतायें भी होती हैं ।

पत्तियाँ प्रायः एकान्तर, सदलपर्ण, विशिष्टतल से युक्त, सोपपत्र और उपपत्र मुक्तपार्श्विक और कहीं २ पत्रसम और कंटकीभूत होते हैं । अनेक पौधों में स्पर्शग्राही और निद्रागति का प्रदर्शन करनेवाली पत्तियाँ होती हैं ।

पुष्पव्यूह प्रायः एक-वर्ध्यक्ष, ऊर्ध्वमुख या अधोमुख होता है। दल्यक्ष उन्नतोदर या कभी २ चिपटा होता है अतः पुष्प कभी २ किंचित् परिजाय मालूम होता है।

पुष्प-रचना के अधार पर इस विशाल कुल को तीन उपकुलों में विभक्त किया गया है :—

(१) **प्रजापति उपकुल** (Papilionatae) :— पुष्प समैकच्छेद, आभ्यन्तर कोश प्रजापति-रूप और उसका दलबन्ध अनियतारूढ़-दलक (जिसमें ध्वज-दल के दोनों किनारे पक्ष-दलों के ऊपर होते हैं) पाँच बाह्य दलों में दो पश्च-दल और तीन अग्र-दल परस्पर मिले रहते हैं। इनमें पाँचवाँ दल अग्र-दल होता है। पाँच अन्तर्दलों में ध्वज-दल पश्च, दोनों पक्ष-दल पार्श्विक और नौका-दल अग्र स्थिति में होते हैं। नौकादलों के पेट में दस पुंकेशरों का एक-सौत्रक अथवा द्वि-सौत्रक नालाकार पुमंग छिपा रहता है। द्वि-सौत्रक अवस्था में दसवाँ पुंकेशर स्वतंत्र और अग्र-पुंकेशर होता है। स्त्रीकेशर एकाकी और प्रायः सवृन्त होता है और इसके मूल के पास मधुस्रावि चक्र होता है। किसी २ जाति में बीजीभव एक ही होता है।

परागण :—इस उपकुल के पुष्पों का परागण बहुत रोचक ढंग से होता है। पुमंगनाल और अण्डाशय के बीच में जो अवकाश होता है वहाँ मधु रहता है और केवल लम्बे शुण्ड वाले कीड़ों को ही मिल सकता है। पुष्पों के नौका-दल क्षैतिज होते हैं और यहीं कीड़े आकर बैठते हैं। जब कीड़े मधु लेने की चेष्टा करते हैं तो पक्ष-दल बगल में हट जाते हैं और नौका-दल दब जाते हैं जिससे परागाशय बाहर निकल कर कीड़ों के उदर से टक्कर लेते हैं जो पराग कणों से ढक जाता है। कीड़ों के चले जाने पर नौका-दल और पक्ष-दल फिर यथास्थान चले जाते हैं। कुक्षि प्रायः रोमश होता है और परागलिप्त कीड़ों के शरीर से पराग ग्रहण कर लेता है।

इस उपकुल में वृक्ष, गुल्म अथवा क्षुप और लतायें तथा स्वावलम्बी सभी प्रकार के पौधे होते हैं। पत्तियाँ प्रायः असम-पक्षवत् होती हैं परन्तु कहीं २ तन्तुभूत अग्रय पत्रकों के कारण वे सम-पक्षवत् मालूम होती हैं। कुक्षिवृन्त कुछ २ टेढ़ा, प्रायः रोमश और परागाशयों के ऊपर निकला रहता है और कीड़ों को सबसे पहले स्पर्श करता है। पुष्प प्रायः प्राक्पुंपाकी होते हैं।

हमारे उपयोग में आनेवाले शिम्बि-धान्य (दालें) इसी उपकुल से प्राप्त होते हैं।

उपयोगी वनस्पतियाँ :—अपराजिता (बीज, मूल, पुष्प), पलाश (पुष्प, निर्यास, बीज), मधुयष्टी या मुलेठी (मूल, काण्ड), गुंजा (मूल, पत्ती, बीज), अगस्त (पुष्प, पत्ती, मूल), नील (पत्ती, मूल, नीला रङ्ग), शण (पत्ती, बीज), शणपुष्पी (पत्ती), शालिपर्णी या सरिवन (मूल, पंचांग), पृश्निपर्णी या पिठवन (मूल, पंचांग), वनमूंग (पंचांग), वनमाष या माषपर्णी (पंचांग), यवासा (पंचांग), वाकुची (बीज), शरपुंखा (पंचांग), पारिभद्र (छाल, पत्ती), मूंगफली (बीज-तैल), कपिकच्छु या केंवाँच (फल के ऊपर के रोम, बीज और मूल), विदारीकंद या भूमिकूष्माण्ड (कन्द), वृक्षकरञ्ज (बीज-तैल), रक्त चन्दन (काष्ठ), मेथी (बीज), विजयसार (गोंद, काष्ठ)। इनके अतिरिक्त शीशम तथा मूंग, उड़द, कुलत्थ, सेम, लोबिया, चना, मटर, मसूर, अरहर तथा अन्य दाल वाले सभी अन्न इसी उपकुल के हैं।

(२) **अम्लिका उपकुल** (Caesalpinoideae):—पुष्प समैकच्छेद, विभक्तदल आभ्यन्तर कोश का दलबन्ध अनियतारूढ़ (जिसमें पक्ष-दल के दोनों किनारे पार्श्विक दलों के नीचे रहते हैं); पुंकेशर प्रायः दस और स्वतन्त्र जिनमें कई क्लीबकेशर होते हैं।

इस उपवर्ग में वृक्ष तथा गुल्म (आरोही या स्वावलम्बी) होते हैं। पत्तियाँ प्रायः सकृत्पक्षवत् अथवा द्वि-पक्षवत् और प्रायः सम-पक्षवत् होती हैं। काँचनार प्रजाति में अपत्रक पर्ण होते हैं परन्तु वे द्वि-खण्ड होते हैं। कहीं २ तन्तुभूत काण्ड और कण्डकीभूत पत्र पाये जाते हैं। काँचनार प्रजाति में बाह्यकोश पत्र-कोशसम (Spathaceous) होता है। अम्लिका में केवल तीन आभ्यन्तर दल और तीन पुंकेशर होते हैं और इसका फल अनुप्रस्थ-पट्टीक परन्तु इसकी मध्यभित्ति मांसल होती है। अमलतास का फल अस्फोटी होता है।

उपयोगी वनस्पतियाँ :—अम्लिका या इमली (फल, पत्ती, छाल), लताकरंज (बीज, पत्ती और मूल), कांचनार और कोविदार (पुष्प, छाल), अमलतास (फलमज्जा, मूल, पत्ती), चक्रमर्द और कासमर्द (बीज, पंचाङ्ग), चाकसू या चाक्सुस (बीज), सनाय (पत्ती, फल), आवर्तकी और देशी सनाय (पत्ती, फल), अशोक (छाल), पतंग (काष्ठ)।

(३) बब्बूल उपकुल (Mimosoideae) :—पुष्प नियताकार (समच्छेद), आभ्यन्तर कोश प्रायः संयुक्तदल, संश्लिष्ट-दलक और प्रायः छोटा; पुंकेशरों की संख्या अन्तर्दलों के बराबर, द्विगुण अथवा कभी २ अनियत, प्रायः स्वतन्त्र, कभी २ एक-सौत्रक; पत्तियाँ द्वि-पक्षवत् या कभी २ सकृत्पक्षवत्।

यहाँ पुष्पव्यूह प्रायः गोल, कन्दुक सदृश अथवा अवृन्त काण्डज होता है। पुष्प प्रायः उभयलिङ्ग होते हैं किन्तु कहीं २ व्यूह के कुछ पुष्प पुंपुष्प या क्लीब पुष्प होते हैं। बब्बूल और लज्जालु प्रजातिओं के पौधे यहाँ अधिक पाये जाते हैं। बब्बूल प्रजाति में पुंकेशर अनियत और स्वतन्त्र होते हैं। इसकी अनेक जातिओं में फलकाभास पर्णवृन्त होते हैं और अनेक कंटकीभूत उपपत्रों से युक्त होती हैं।

उपयोगी वनस्पतियाँ :—बब्बूल (छाल, गोंद, बीज), इरिमेद (छाल), खदिर (छाल, काष्ठसार, निर्यास, कत्था), शिकाकाई या सप्तला प्रतिनिधि (फल, पत्ती), शिरीष (बीज, छाल, लज्जावन्ती (मूल), शमी (काष्ठ), वीरतरु या वेलन्तर।

९-पाटल (गुलाब)-कुल (Rosaceae)

कुल-लक्षण :—पुष्प चक्रित, उभयकोश (कभी २ आभ्यन्तर कोश का लोप), प्रायः पंचांगभागी (कभी ३-, ४-, ६-, या ८- अंगभागी), नियताकार (कभी २ समैकच्छेद); दल्यक्ष चिपटा या प्याले के आकार का और मध्य में प्रायः उन्नतोदर; बाह्य दल, आभ्यन्तर दल और पुंकेशर प्रायः परिजाय अथवा अण्डाशय का बाह्यनाल से एकीभाव हो जाने के कारण उपरिजाय; पुंकेशर संख्या में बाह्यदलों से द्वि, चतुर्गुण तक अथवा बहुसंख्यक (कभी २ एक से पाँच तक), पुष्पकलिका में भीतर और नीचे की ओर झुके हुये; स्त्रीकेशर बाह्य दलों के बराबर, २-३ गुने अथवा बहुसंख्यक (कभी २ एक से चार तक), स्वतन्त्र अथवा दल्यक्ष की अन्तर्भित्ति से संयुक्त; अण्डाशय एक-गह्वर, बीजीभव संख्या में प्रायः दो और प्रतीप-वपुष्क; कुक्षिवृन्त अग्र्य अथवा अण्डाशय के आधार के समीप से निकला हुआ; फल युतोत्फल-अथवा अष्ठिफल-संहत, अथवा एकज अष्ठिफल या अन्तर्वस्तुफल।

इस कुल की वनस्पतियाँ समशीतोष्ण कटिबन्धों में अधिक पाई जाती है और क्षुप, गुल्म तथा वृक्ष तीनों प्रकार की होती हैं। पत्तियाँ अदल या सदल

और प्रायः सोपपत्र होती हैं। वाह्य कोश प्रायः संयुक्त-दल होता है और कभी २ अधःवाह्यकोश (तृणवदर में) भी पाया जाता है। वाह्यनाल के किनारे २ अथवा उसके आधार के पास भीतर की ओर मधु-चक्र होता है। आभ्यन्तर कोश विभक्तदल और आपद्मसम होता है जिसमें दल पाँच और अनियतारूढ़ होते हैं। दलयक्ष की प्रकृति तथा आकृति में बहुत विषमता होने के कारण इस कुल की वनस्पतिओं में परिजायता (Perigyny) की कई अवस्थायें तथा फल के कई भेद पाये जाते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :—गुलाब और लतागुलाब (पुष्प), बादाम (फल), पद्मकाष्ठ (काण्ड), एल्वालुक या आलूवालू (फल), गहुला या प्रियंगु-प्रतिनिधि (फल), आरुक या आलूबुखारा (फल) और आड़ू की अन्य जातियाँ, ब्रीही, नासपाती तथा सेव आदि (फल), वज्रदन्ती (मूल या पंचांग)।

१०-लवंग कुल (Myrtaceae)

कुल-लक्षण :—वृक्ष, गुल्म तथा कोई २ क्षुप; पत्ती अदल, अभिमुख (कभी २ एकान्तर), प्राय: अखण्ड और ग्रंन्थि-विन्दुकित (Gland-dotted), अनुपपत्र और प्रायः भंगुर; पुष्प नियताकार, द्विलिंग, उभयकोश और उपरिजाय; वाह्य दल ४-५, संयुक्त या विभक्त, पुष्पायुष्क या फलायुष्क, संश्लिष्ट-दलक अथवा अनियतारूढ़; वाह्यकोश-नाल अण्डाशय से संयुक्त, ४, ५-दन्तुर अथवा अखण्ड; मधु-चक्र वाह्यकोश-नाल की अंतर्मित्ति पर फैला हुआ और उससे संयुक्त; आभ्यन्तर दल स्वतन्त्र, संख्या में वाह्य दलों के बराबर, उनके एकान्तर और मधु-चक्र की वारी से निकले हुये अथवा कभी२ लुप्त; पुंकेशर प्रायः बहुसंख्यक (कभी २ नियत-संख्यक), स्वतंत्र, एक-सौत्रक या बहु-सौत्रक और प्रायः रङ्गीन; जायांग २-५ या अनियत-संख्यक, संयुक्तांगक; अण्डाशय अधःस्थ, एक-गह्वर और एक-बीजीभव अथवा २—बहु-गह्वर और बहु-बीजीभव, जरायु-न्यास लग्नमध्यग; फल बीजिमांसल अथवा सामान्य स्फोटी, प्रायः फलायुष्क वाह्य कोश से युक्त; बीज भुक्तभ्रूणपोष।

यह प्रधानतः उष्णप्रदेशीय कुल है। इसमें दोनों पत्र-तटों के साथ प्रायः दो बड़ी नाड़ियाँ होती हैं और काण्ड में प्रायः द्वि-सपार्श्वस्थ पूल होते हैं। वाह्य कोश और आभ्यन्तर कोश कभी २ पुष्प के खिलने पर टोप की तरह अलग

हो जाते हैं। दल्यक्ष के बने हुये वाह्य नाल और अण्डाशय का संयोग कहीं २ अपूर्ण होता है। इस कुल के कई पौधे फल के निमित्त बागों में लगाये हुये मिलते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :—जम्बू या जामुन की जातियां (फल, बीज और छाल), अमरूद (फल), यूकलिप्टस (पत्तियों से निकाला हुआ उत्पत तैल), लवंग (पुष्प-कलिका), कायपुटी (तैल), विलायती मेंहदी (फल, पत्र-तैल) हिज्जल या समुद्रफल (फल), कुम्भी (छाल)

११—कर्कटी-कुल (Cucurbitaceae)

कुल-लक्षण :—सूत्रारोहिणी लतायें; काण्ड प्रायः नालाकार (पोला) और सूत्र सशाख या निःशाख; पत्ती अपत्रक, अनुपपत्र और एकान्तर, नाड़ी-विन्यास पाणिवत् और पृष्ठ प्रायः खरस्पर्श; पुष्प नियताकार, प्रायः एक-लिंग (पौधे द्विधैक-लिंगक अथवा अद्विधैकलिंगक) और उपरिजाय; वाह्य दल और आभ्यन्तर दल दोनों संख्या में पाँच २ और परस्पर संयुक्त; पुंकेशर नियमतः पाँच, प्रायः दो २ एक साथ मिले हुये; परागाशय सर्वदा द्वि-गह्वर परन्तु संयुक्त परागाशय चतुर्गह्वर, परागाशय-गह्वर प्रायः वक्रित, जायांग त्रि-स्त्रीकेशरक और संयुक्तांगक; कुक्षि तीन और प्रत्येक प्रायः द्वि-खण्ड, कुक्षिवृन्त एक; अण्डाशय अधःस्थ, १-, या ३-गह्वर, जरायु-न्यास अभिभित्तिग (कुछ लोगों के मत से लग्नमध्यग); फल विशेष प्रकार के बीजिमांसल (कूष्माण्डसम), बीज भुक्तभ्रूणपोष; बीजपत्र बड़े और तैलमय।

इस कुल के पौधे एक-वर्षायु और आरोही होते हैं। तन्तु प्रायः पत्रकोण से कुछ हट कर निकले रहते हैं और अधिकतर काण्ड और पत्र दोनों के रूपान्तर माने जाते हैं। काण्ड में द्वि-सपार्श्वस्थ पूल होते हैं। द्वि-गह्वर परागाशयों से युक्त पाँच पुंकेशर बहुत कम पाये जाते हैं। अधिकतर पुंकेशर तीन दिखाई देते हैं जिनमें दो के परागाशय चतुर्गह्वर और एक के द्वि-गह्वर होते हैं क्योंकि पहले के दोनों पुंकेशर दो २ के मिलने से बने होते हैं। जरायु भीतर की ओर बहुत अधिक बढ़ कर बीच में मिल जाते हैं जिससे अण्डाशय त्रि-गह्वर प्रतीत होने लगता है। इस कुल की अनेक जातियाँ फलशाक के लिये लगाई जाती हैं और और बहुतों के फल, बीज, मूल तथा पत्र चिकित्सा में लिये जाते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :—कर्कटी या ककड़ी (फल, बीज) त्रपुस या खीरा (फल, बीज), तरबूज़ और खरबूजा (फल, बीज), फूट (फल, बीज), इन्द्रायण के कई भेद (मूल, फल-मज्जा), कद्दू (फल-बीज), कोषातकी और राजकोषातकी, देवदाली या वंदाल, करेला, चिचिन्हा, ककोड़ा या खेखसा, शिवलिंगी (बीज) पटोल (मूल, पत्र, फल), कूष्माण्ड और काशी फल (फल और बीज), बिम्बी।

१२-उच्छत्र (गर्जर)-कुल (Umbelliferae)

कुल लक्षण:—पुष्पव्यूह सामान्य अथवा प्रायः संयुत उच्छत्र, पुष्प पंचांग-भागी, प्रायः उभयलिङ्ग, समच्छेद अथवा समैकच्छेद और उपरिजाय; बाह्य कोश अस्पष्ट और सूक्ष्म अथवा कहीं२ अनुपस्थित; आभ्यन्तर कोश विभक्त-दल; जायांग द्वि-स्त्रीकेशरक और संयुक्तांगक ; अण्डाशय द्वि-गह्वर, अधःस्थ और शीर्षपर द्वि-खण्ड मधु-चक्र, प्रत्येक गह्वर में एक २, अधोलम्ब और प्रतीप-वपुष्क बीजीभव; फल युग्मवेश्म और बीज भ्रूणपोषी तथा तैल और प्रोभूजिनों से युक्त।

सवृन्त-मूर्धज व्यूह कहीं २ बहु-वर्ध्यक्ष प्रकृति के होते हैं। एक-लिङ्ग पुष्प भी कहीं २ मिलते हैं और प्रायः प्रान्तीय पुष्पों के बाहरी दल शेष दलों की अपेक्षा बड़े होकर आभ्यन्तर कोश को अनियताकार बना देते हैं। आभ्यन्तर दल सफेद या पीले होते हैं और प्रायः अग्र पर मुड़े हुए रहते हैं। द्वि-भाग कुक्षिवृन्त के फूलने से मधु-चक्र की रचना हुई रहती है। कुक्षि दो होते हैं। फल के दोनों एक-बीज खण्डों (वेश्मों) के बीच में फलधारक होता है जिससे वे स्फोटन के बाद कुछ समय तक जुड़े रहते हैं। प्रत्येक वेश्म के ऊपर प्रायः पाँच मेड़ें (Ridges) होती हैं जिनके बीच में हलखात (Furrows) होते हैं। हलखातों के नीचे प्रायः तैल-प्रणालियाँ होती हैं। मुख्य २ मेड़ों और प्रणालिओं के बीच २ में द्वितीय मेड़ें और प्रणालियाँ भी होती हैं। इस कुल का पुष्प-सूत्र क ५ अथवा ० द ५ पु ५ जा $\overline{(२)}$ होता है।

यह बहुत बड़ा और उपयोगी कुल है जिसकी वनस्पतियों की पहचान उनकी रहन-सहन, पुष्प-व्यूह तथा फल के द्वारा आसानी से हो जाती है। इसमें अधिकतर क्षुप और कुछ गुल्म श्रेणी की वनस्पतियाँ होती है। इनके पर्व लम्बे और पोले, पर्व-सन्धियाँ प्रायः चौड़ी और पत्तियाँ प्रायः एकान्तर, अनुपपत्र, खण्डित और पर्णतल कोशाकार तथा काण्ड-संसक्त होता है। ब्राह्मी की पत्तियाँ

अपत्रक और वृक्काकार होती हैं। उत्पत तैलों के कारण इनमें प्रायः प्रिय गन्ध होती है।

पुष्प प्राक्पुंपाकी होते हैं और उपरिजाय मधु-चक्र में मधु बनने के कारण भौंरों और मक्षियों के द्वारा अपर-परागण हो जाता है। पुष्प बहुत छोटे होते हुये भी विशेष प्रकार के व्यूह में रहने के कारण तथा गन्ध आदि के कारण बड़े आकर्षक होते हैं। पुष्पकलिका में पुंकेशर टेढ़े होकर अन्तर्दलों में छिपे रहते हैं और एक २ करके सीधे होते और पराग निकालते हैं।

इस कुल की वनस्पतियाँ अधिकतर उत्तरी समशीतोष्ण कटिबन्ध में पाई जाती हैं। बहुतों के फल मसाले और औषधि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। उनसे निकाले हुये सुगन्धित उत्पत तैल औषध रूप में प्रायः बहुत उपयोगी होते हैं। इसी लिये कई जातियां खेतों में पैदा की जाती हैं। अन्य वनस्पतियाँ अधिकतर पर्वतों पर पाई जाती हैं जिनमें कोई २ वर्फीली चोटिओं पर पाई जाती हैं और बहुत तीव्र गंध वाली होती हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँः—गर्जर या गाजर (मूल, बीज), मण्डूकपर्णी या ब्राह्मी (पंचांग), हिंगु (निर्यास-उद्वास), सौंफ (फल और मूल), धनियाँ (फल), कृष्ण जीरक (फल), श्वेत जीरक (फल), यवानी या अजवाइन (फल और उत्पत तैल), सोया (फल), अजमोद (फल, मूल), वादियान (फल) तथा चोरक (मूल)।

१३-मंजिष्ठा कुल (Rubiaceae)

कुल-लक्षणः—पुष्प प्रायः पंचांग-, अथवा चतुरंगभागी, उपरिजाय, उभयलिंग (कभी २ एक-लिंग) और समच्छेद (कभी २ समैकच्छेद); बाह्य कोश संयुक्त-दल और प्रायः सूक्ष्म, कभी २ एक दल बहुत बड़ा और दर्शनीय; स्त्रीकेशर प्रायः दो और संयुक्त, कभी-कभी १—(अनेक); अण्डाशय अधःस्थ और २-,१०-गह्वर, प्रत्येक गह्वर में बीजीभव १—अनेक और प्रतीप-वपुष्क; कुक्षिवृन्त एक और कुक्षि टोपी-रूप अथवा खण्डित ; फल प्रायः सामान्य विदारी या बीजिमांसल (कभी २ वद्धविदारी); बीज भ्रूणपोषी, बीजपोष बड़ा और गर्भ सूक्ष्म।

इस कुल में वृक्ष और क्षुप अधिक होते हैं और अनेक जातियाँ क्षुप श्रेणी की भी होती हैं। लतायें और वृक्षरुह उद्भिज भी इसमें पाये जाते हैं। पत्तियाँ

प्रायः अभिमुख (कभी २ एकान्तर), सोपपत्र और उनका तट प्रायः अखण्ड होता है। इस कुल में उपपत्र कई प्रकार के होते हैं। मुक्त-पार्श्विक उपपत्र विरल पौधों में होते हैं। कभी तो दो अभिमुख पत्तिओं के चार उपपत्रों में समीप के दो २ उपपत्र परस्पर मिलकर एक हो गये रहते हैं और वृन्तमध्यग कहे जाते हैं और कहीं प्रत्येक पत्ती के दोनों उपपत्र वृन्त और काण्ड के बीच में स्थित रहते हैं और पत्रकोणीय कहे जाते हैं। फिर, कभी २ चारों उपपत्र और दोनों पत्तिओं के वृन्त परस्पर मिलकर काण्ड के चारों ओर एक कोश बना कर रहते हैं। मजीठ प्रजाति में ये बड़े और पर्ण सदृश होते हैं। इस अवस्था में कभी दो २ उपपत्र मिले रहते हैं और प्रत्येक संधि पर चार २ पत्तियों का चक्र दिखाई देता है और कभी वे अलग रहते हैं जिससे प्रत्येक चक्र में ६ पत्तियाँ दिखाई देती हैं। बहुत सी वनस्पतिओं में कंटकीभूत शाखायें पाई जाती हैं।

पुष्प छोटे परन्तु लम्बे आभ्यन्तर-नाल वाले और प्रायः गुच्छबद्ध होते हैं। पुष्पव्यूह बहु-वर्ध्यक्ष होता है।

इस कुल के अनेक पौधों से रंग निकाला जाता है और उनके मूल भी प्रायः रंगीन होते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :—सिनकोना वृक्ष (छाल से निकाला हुआ कुनैन नामक एल्कोलायड), काफी (बीज), इपीकाक (मूल), मंजिष्ठा या मजीठ (मूल), मैनफल (फल), गंधप्रसारिणी (पंचांग), कदम्ब (छाल), हरिद्रु वृक्ष, पर्पट अर्थात् वंगीय वैद्यों का पित्तपापड़ा (पंचांग) लता-खदिर (एक प्रकार का विदेशी कत्था), पिडार (फल) तथा नाड़ी हिंगु (गोंद)।

१४-मुण्डी (मुण्डक)-कुल (Compositae)

कुल-लक्षण :—पुष्पव्यूह मुण्डक; पुष्प पंचांगभागी, उपरिजाय, उभयलिंग, एकलिंग अथवा क्लीबलिंग, नियताकार अथवा समैकच्छेद; बाह्यकोश अनुपस्थित अथवा उसके स्थान में रोमश, दन्त सदृश, शल्क-सम अथवा तीक्ष्ण कंटकीभूत रचनाओं का बना हुआ रोमकण्टक; आभ्यन्तर कोश जिह्वाकार या नालाकार (कहीं कहीं द्वयोष्ठ भी); पुंकेशर पाँच, आन्तःकोशभ, श्लिष्टाशय और अन्तः-स्फुट; स्त्रीकेशर दो और अग्र-पश्च समतल में परस्पर संयुक्त; अण्डाशय एक-गह्वर और अधःस्थ; बीजीभव एक और जरायु-न्यास अधोभित्तिग; कुक्षिवृन्त एक परन्तु

कुक्षि दो और उनके परागग्राही तल भीतर की ओर; फल युताधःफल और बीज भुक्तभ्रूणपोष।

यह कुल सबसे बड़ा, सबसे अधिक विस्तृत और विकास की दृष्टि से इसका सबसे ऊँचा स्थान है। भिन्न भिन्न परिस्थितिओं में होने के कारण इसके अन्दर वर्धि-कायिक अंगों में बहुत अधिक रूप-बाहुल्यता पाई जाती है। अधिकतर इसमें क्षुप श्रेणी की वनस्पतियाँ होती हैं परन्तु प्रायः उष्ण प्रदेशों में कुछ गुल्म और कोई कोई वृक्ष भी पाये जाते हैं। वृक्षरुह, आरोहिणी लतायें तथा जलोद्भिद् इस कुल में बहुत कम होते हैं। अनेक जातिओं (जैसे दुग्धफेनी और डहलिया) में कन्द सदृश मूल होते हैं। पत्तियाँ मूलोद्भव अथवा एकान्तर (कहीं २ अभिमुख भी) और प्रायः अनुपपत्र होती हैं। आक्षीरवाहिनी नलिकायें और तैल प्रणालियाँ भी प्रायः पाई जाती हैं। संचित खाद्य द्रव्य प्रायः इन्यूलिन के रूप में पाया जाता है।

मुण्डक व्यूह के चारों ओर कोण-पुष्पकों से बनी हुई अधःपत्रावलि होती है। व्यूहासन समतल (चिपटा) अथवा किंचित् उन्नतोदर होता है। मुण्डक के पुष्प सभी नालाकार या सभी जिह्वाकार अथवा कुछ-प्रायः बीच के-नालाकार और कुछ (किनारे के) जिह्वाकार होते हैं। पुष्पों के मूल के पास भी कहीं २ श्वेताभ शल्कसम कोण-पुष्पक पाये जाते हैं और कभी कभी इनके स्थान में रोम या काँटे होते हैं। व्यूह सामान्य, मिश्र या संयुत तीनों प्रकार के होते हैं। बहुत से पौधों में मुण्डक के सभी पुष्प उभयलिंग होते हैं पर बहुतों में केवल मध्य के उभयलिंग और किनारे के स्त्रीपुष्प अथवा क्लीबलिंग होते हैं। प्रायः सभी अनियताकार (जिह्वाकार) पुष्प स्त्रीपुष्प होते हैं पर जहाँ मुण्डक के सभी पुष्प अनियताकार होते हैं वहां ऐसा नहीं होता। कहीं २ बीच के नालाकार (नियताकार) पुष्प पुंपुष्प और किनारे के स्त्रीपुष्प होते हैं।

परागण:—इस कुल की परागण-विधि बहुत रोचक होती है। पुष्प प्राक्पुंपाकी होते हैं। पहले कुक्षिवृन्त छोटा होता है और संयुक्त कुक्षि का शीर्ष श्लिष्टाशय-नाल के नीचे रहता है। चूंकि परागाशय अन्तःस्फुट होते हैं अतः परागकण उनसे निकल कर श्लिष्टाशय-नाल में गिरते हैं। परागाशयों के स्फुटन के बाद कुक्षिवृन्त बढ़ कर श्लिष्टाशय-नाल के बाहर आ जाता है। इस समय तक दोनों कुक्षि इस प्रकार एक दूसरे से सटे रहते हैं कि पराग से ढके रहने पर भी

उनके ग्राही भाग पर परागकण नहीं पहुँच पाते। बाहर आ जाने पर दोनों कुक्षि-खण्ड खुल कर अलग हो जाते हैं और कीटादिकों के द्वारा अपर-परागण आसानी से हो जाता है। अन्त में दोनों कुक्षि-खण्ड नीचे की ओर इस प्रकार झुक जाते हैं कि उनके ग्राही तल कुक्षि-वृन्त को स्पर्श करने लगते हैं जिससे कुक्षि-वृन्त के रोमों में फसे हुये परागकण कुक्षि के ग्राही तल पर पहुँच कर स्वयं-परागण को सम्भव बनाते हैं। इस व्यवस्था का अभिप्राय इतना ही है कि यदि किसी कारण से अपर-परागण न हो सका हो तो स्वयं-परागण से पुनरुत्पत्ति होने में कोई बाधा न रहे। कुक्षिवृन्त के मूल के पास मधु-चक्र होता है जिससे निकला हुआ मधु प्रायः हर प्रकार के कीड़ों की पहुँच में रहता है और इसलिये परागण में अनेक प्रकार के कीड़े भाग ले सकते हैं।

इस कुल की पुष्प-रचना, पुष्प-व्यूह तथा परागण और फल-विकिरण की क्रियाओं को देखने पर इस कुल की वनस्पतिओं की कार्य-कुशलता और मित-व्ययिता का परिचय मिलता है जिनके कारण इसे उद्भिज्ज-सृष्टि में विकास की दृष्टि से सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है। अनेक पुष्पों का एक साथ आसानी से अपर-परागण, अपर-परागण न होने पर स्वयं-परागण की व्यवस्था, सम्पूर्ण व्यूह को आकर्षक बनाने के लिये प्रान्तीय पुष्पों का बड़ा और दर्शनीय हो जाना, अधःपत्रावलि की उपस्थिति में प्रत्येक पुष्प के लिये विना प्रयोजन बाह्य-कोश न उत्पन्न करना और अर्धविकसित अवस्था में उत्पन्न हो जाने पर उसका फल-विकिरण में उपयोग कर लेना-इत्यादि बातें इसे सर्वोच्च स्थान देने के लिये पर्याप्त कारण मानी जा सकती हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—मुण्डी (पुष्पव्यूह, पंचांग), भृंगराज (पंचांग), रास्ना (मूल, पत्र), कुष्ठ (मूल), पुष्करमूल (मूल), सहदेवी (मूल, पंचांग), अयापान (पत्ती), कुसुम (फल), अकरकरा (मूल, पुष्प), कासनी (फल, मूल, फूल), करजीरी या अरण्यजीरक (फल), कुकरौंधा (पत्ती), दुग्धफेनी (मूल), दमनक (पत्ती), चौहार या सान्टोनीन की दमनक-प्रजातीय वनस्पति (जिससे सान्टोनीन नामक एल्कोलायड़ निकलता है), हिल-मोचिका (पत्रशाक), मरेठी (पुष्पव्यूह) सूर्यमुखी, गेंदा, गुलदाउदी, बाबुना (पुष्प), छिक्किका या नकछिकनी (पंचांग), आर्तगल (फल), उत्कंटक या ऊँटकटेरा (पंचांग), ब्रह्मदण्डी, वनगोभी इत्यादि।

१५-यूथिका कुल (Oleaceae)

कुल-लक्षण: - वृक्ष अथवा गुल्म, स्वावलम्बी अथवा परप्रसरी; पत्ती प्रायः अभिमुख (कभी २ एकान्तर), अपत्रक अथवा सपत्रक (असम-पक्षवत्) और अनुपपत्र; पुष्प नियताकार, प्रायः उभयलिंग अथवा कभी २ एकलिंग (पौधे द्विधैकलिंगक अथवा सर्वभव); पुष्पव्यूह प्रायः द्वि-,अथवा त्रि-शाखी बहु-वर्ध्यक्ष; बाह्य कोश अधोजाय, संयुक्तदल, कोशनाल ४-,५,-या बहु-दन्तुर या खण्डित, कभी रुण्डित या लुप्त; आभ्यन्तर कोश संयुक्तदल ४-,५-, या बहु-खण्डित और कलिकावस्था में अनियतारूढ़ अथवा संश्लिष्टदलक, आभ्यन्तर नाल प्रायः लम्बा और पतला; पुंकेशर प्रायः दो (कभी२ चार), आन्तःकौशम और अबहिर्गत, पुंकेशर सूत्र प्रायः बहुत छोटे और परागाशय प्रायः द्वि-गह्वर और शूकी; जायांग द्वि-स्त्रीकेशरक और संयुक्तांगक; अण्डाशय द्वि-गह्वर और ऊर्ध्वस्थ, प्रत्येक गह्वर में बीजीभव १-२ और जरायु-न्यास लग्नमध्यग; कुक्षिवृन्त एक और कुक्षि अखण्ड या द्वि-खण्ड; फल बीजिमांसल, अष्ठिफल या सामान्य स्फोटी और बीज प्रायः भ्रूणपोषी।

इस कुल के पौधे समशीतोष्ण और उष्ण कटिबन्धों में पाये जाते हैं। पुष्प सुगन्धित , प्रायः श्वेत, रात्रि में खिलने वाले और शलभ-परागित होते हैं। सुगन्धित पुष्पों के लिये बहुतों की खेती की जाती है और बहुतों के पुष्प तथा पत्र चिकित्सा में काम देते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ—यूथिका या जूही, जाति या चमेली, मल्लिका या बेला, शेफालिका या पारिजाता, कुन्द, नैपाली या नेवारी आदि की पत्ती और पुष्पों का चिकित्सा में उपयोग होता है।

१६-करवीर-कुल (Apocyanaceae)

कुल-लक्षण :—स्वावलम्बी अथवा आरोही गुल्म या वृक्ष कोई २ क्षुप भी, प्रायः आक्षीरयुक्त; पत्ती अखण्ड प्रायः अभिमुख (कभी २ चक्रिक या एकान्तर); पुष्प पंचांगभागी अथवा कभी २ चतुरंगभागी, नियताकार, अधोजाय, उभयलिंग, एकल या बहु-वर्ध्यक्ष व्यूह में; वाह्य कोश विभक्त-दल अथवा किंचित् संयुक्त-दल और दल प्रायः पाँच, अनियतारूढ़; आभ्यन्तर कोश संयुक्त-दल, चक्राकार अथवा व्यस्त-छत्राकार, प्रायः नियतारूढ़; पुंकेशर संख्या में प्रायः पाँच (कभी २ चार) और दलों के एकान्तर, आन्तः कौशभ; परागाशय अन्तः स्फुट, कभी २ नीचे की

और चंचूचण (बाणमुखाकार) अथवा आयताकार-रेखाकार, स्वतंत्र अथवा आपस में कुक्षि के साथ संयुक्त होकर कण्ठ-कुड्मल की सृष्टि, मधु-चक्र उपस्थित; जायांग प्रायः द्वि-केशरक, पूर्णतः संयुक्तांगक अथवा अण्डाशय परस्पर पृथक् और शेष भाग संयुक्त; अण्डाशय द्वि-गह्वर (जरायु-न्यास लग्नमध्यग) अथवा एक-गह्वर (जरायु-न्यास प्रान्तीय); कुक्षिवृन्त प्रायः एक और कुक्षि प्रायः स्थूल; फल प्रायः भग्नैकसंधिक, बीजिमांसल अथवा अष्ठिफलों का जोड़ा; बीज अधोलम्ब; प्रायः शीर्ष पर रोमगुच्छ से सम्पन्न अथवा कभी २ सपक्ष।

यह मुख्यतः उष्णप्रदेशीय कुल है। इस वर्ग के बहुत से पौधे चिकित्सोपयोगी होते हैं और कितने बागों में लगाये हुये मिलते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—श्वेत, रक्त और पीत करवीर या कनेर (मूल, पत्र), कुटज दोनों प्रकार का (छाल, और बीज जिसे इन्द्रयव कहते हैं), सप्तपर्ण (छाल), धवल बरुआ या जम्बू (भूल से आजकल यह सर्पगन्धा कही जाने लगी है) दोनों प्रकार का (मूल), करमर्द या करौंदा (मूल, फल), क्षीरचम्पक या गुलाचीन (छाल), मालती (पत्ती और पुष्प), चाँदनी (जिसे भ्रम से तगर नाम दिया जाता है) और नकली कृष्ण सारिवा।

१७-अर्क-कुल (Asclepiadaceae)

कुल-लक्षण:—क्षुप या गुल्म, प्रायः आरोही और आक्षीर-युक्त; त्वचा दृढ़ तन्तुओं से युक्त; पत्ती अभिमुख, अपत्रक, अखण्ड और अनुपपत्र; पुष्प नियताकार, उभयलिंग, पंचांगभागी और प्रायः बहु-वर्ध्यक्ष सवृन्त-मूर्धज व्यूह में; बाह्य कोश प्रायः मूल तक पाँच खण्डों में विभक्त और खण्ड अनियतारूढ़; आभ्यन्तर-नाल छोटा और प्रायः शल्कों से निर्मित कण्ठ-कुड्मल से सम्पन्न, आभ्यन्तर-खण्ड प्रायः संश्लिष्ट अथवा कभी २ परस्परारूढ़; पुंकेशर पाँच, आन्तःकोशाभ, प्रायः संयुक्त होकर (कभी २ स्वतंत्र) एक मांसल पुमंग-नाल में परिवर्तित जिसके ऊपर कई पुसंगज बाह्य वृद्धियों का बना हुआ कण्ठ कुड्मल; आभ्यन्तर कोशज अथवा पुंमंगज कण्ठ-कुड्मलों में से कोई एक उपस्थित; परागाशय कुक्षिबद्ध और कणमय अथवा मोम सदृश एवं दो २ एक साथ जुड़े हुये पराग-पिण्डों से सम्पन्न; स्त्रीकेशर दो, स्वतंत्र (दोनों के केवल कुक्षि संयुक्त होकर पंचकोण रचना में परिवर्तित), दोनों अण्डाशय स्वतंत्र अथवा मूल में किंचित् संयुक्त, प्रत्येक का

जरायु-न्यास प्रान्तीय; फल भग्नैकसंधिक का जोड़ा अथवा ह्रास के कारण केवल एक उपस्थित; बीज अनेक, संपीडित या चिपटे और शीर्ष पर रोमगुच्छ से सम्पन्न तथा भ्रूणपोषी।

इस कुल में कुक्षि के प्रत्येक पार्श्व पर एक नाली होती है जिसमें एक स्राव निकलकर पिण्ड-नाल की रचना करता है और उससे पराग-पिण्ड सम्बद्ध रहते हैं। इस कुल की वनस्पतियाँ करवीर-कुल की वनस्पतिओं से प्रकृति तथा जायांग, फल और बीज की रचना में बहुत मिलती जुलती हैं परन्तु प्रायः संश्लिष्ट आभ्यन्तर दल, पिण्डीभूत पराग और कुक्षिवद्ध परागाशय—इसके मुख्य विभेदक लक्षण हैं। इस कुल की लतायें भी चिकित्सा में बहुत उपयोगी पाई गई हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—अर्क या मदार (मूल, पत्र, पुष्प, दुग्ध और क्षार), सारिवा (मूल), अन्त्रमूल (मूल), उत्तमारणी या उतरन या वृश्चिकाली (पञ्चाङ्ग), गुड़मार (पत्र), जीवन्ती (फल, मूल), अर्कपुष्पी, काकतुण्डी, कृष्ण सारिवा (मूल, काण्ड), मरुआवेल या मूर्वा (मूल), सोमलता (?) सारिवाभेद (Tylophora) आस्फोता और लाखन (Dregea)।

१८-त्रिवृत-कुल (Convolvulaceae)

कुल-लक्षण:—पुष्प पंचांग-, अथवा चतुरंगभागी, प्रायः उभयलिंग और नियताकार; आभ्यन्तर दलों के तट अधःकुण्डलित-संश्लिष्ट (Induplicate-valvate); पुंकेशर प्रायः आन्तःकौशभ और आभ्यन्तर दलों के एकान्तर; जायांग द्वि-स्त्रीकेशरक (स्त्रीकेशर कदाचित् ३-५) संयुक्तांगक; कुक्षि द्वि-खण्ड; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, द्वि-गह्वर (कहीं २ कूट पटिओं के कारण गह्वर चार), प्रत्येक गह्वर में बीजोभव एक या दो; बीजोभव तलोत्थ परन्तु प्रतीप-वपुष्क, द्वारक बाहर तथा नीचे की ओर और चोल एक ; जरायु-न्यास लग्नमध्यग ; मधुस्रावि मधु-चक्र उपस्थित; फल बीजिमांसल, कठिन-कोश या सामान्य स्फोटी।

इस कुल में अधिकतर एक-वर्षायु क्षुप या लतायें होती हैं। कोई २ गुल्म काँटेदार शुष्कोद्भिद् अथवा परोपजीवी (अमरवेल) होते हैं । आरोहणशीलता इस कुल का मुख्य लक्षण है। कुछ जातिओं में आक्षीर और बहुतों में कन्दसदृश मूल होते हैं। पत्तियाँ एकान्तर, प्रायः सवृन्त और अनुपपत्र होती हैं । पुष्पव्यूह बहु-वर्ध्यक्ष होता है।

बाह्य कोश प्रायः संयुक्त-दल, अनियतारूढ, फलायुष्क और इसकापाँचवाँ दल पश्च स्थिति में होता है। आभ्यन्तर कोश घण्टिकाकार अथवा निवापसम होता है और कलिकावस्था में उसका कुञ्चन प्रतिसिराभव होता है। यह प्रायः बड़ा, दर्शनीय और भव्य वर्ण का होता है।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—त्रिवृत या निशोथ (मूल), कृष्णवीज या कालादाना दोनों प्रकार का (बीज), क्षीरविदारी (मूल), वृद्धदारुक या विधारा (मूल और वीज), कलम्बी या करेमू (पत्रशाक), रुद्रवन्ती (पंचांग), शंखपुष्पी (पंचांग), अमरवेल (काण्ड), मर्यादवेल (पञ्चाङ्ग) समुद्रशोष या विधारा प्रतिनिधि (मूल, बीज), मूषाकर्णी (पंचांग), कामलता (पत्ती), जलापा (मूल और उद्वास) फंजी (पत्रशाक), सकरकन्द (कन्दसदृश मूल)।

१९—कण्टकारी-कुल (Solanaceae)

कुल-लक्षण:—पुष्प अधोजाय, प्रायः पंचांगभागी, उभयलिङ्ग, नियताकार (कभी २ समैकच्छेद); आभ्यन्तर कोश का कलिका-दल विन्यास प्रतिसिराभव-नियतारूढ (Plicate-Contorted); पुंकेशर पाँच (कभी २ अनियताकार पुष्प में एक क्लीबकेशर); जायांग द्वि-केशरक और संयुक्तांगक; अण्डाशय द्वि-गह्वर और पटी विकर्ण समतल में अथवा मिथ्या पटिओं के कारण चतुर्गह्वर; जरायु प्रायः मोटा और जरायु-न्यास लग्नमध्यग; बीजीभव प्रत्येक गह्वर में प्रायः अनेक (कभी २ एक तक) प्रतीप-, अथवा अनुप्रस्थ-वपुष्क; फल बीजिमांसल अथवा सामान्य स्फोटी और बीज भ्रूणपोषी।

इस कुल के पौधे उष्ण कटिबन्ध में बहुत मिलते हैं और वे अधिकतर क्षुप अथवा गुल्म होते हैं। पत्तियाँ न्यूनाधिक खण्डित, अपत्रक, अनुपपत्र, वर्धिकायिक भाग में एकान्तर परन्तु पुष्प-व्यूह के प्रदेश में संयुतोत्पत्ति (Adnation) के कारण अभिमुख होती हैं। परिमज्जकीय अधोवाही उपस्थित पाया जाता है। पुष्पव्यूह प्रायः बहु-वर्ध्यक्ष होता है जिसमें कोणपुष्पक अक्ष से संयुक्त रहता है। पुष्प कहीं २ कुछ अनियताकार भी होता है। बाह्यकोश संयुक्त-दल और प्रायः फलोपचयी होता है। रसभरी में वह बढ़कर सम्पूर्ण फल को ढक लेता है। आभ्यन्तर कोश प्रायः चक्राकार अथवा घण्टिकाकार होता है।

पुंकेशर संख्या में पाँच, आन्तःकोशभ और अन्तर्दलों के एकान्तर होते हैं। परागाशय कहीं २ (कंटकारी प्रजाति में) परस्पर संयुक्त रहते हैं और उनका

स्फुटन अन्वायाम अथवा छिद्रकारी होता है। धतूर में मिथ्या पटियों के कारण अण्डाशय बहु-गह्वर होता है। कुक्षिवृन्त एक परन्तु कुक्षि अखण्ड या द्वि-खण्ड होता है और गर्भ विशेष रूप से वक्रित रहता है। पुष्प कीट-परागित होते हैं। कण्टकारी प्रजाति के पुष्पों का परागण प्रायः परागाशी कीड़ों द्वारा होता है।

कटुका-कुल से कण्टकारी-कुल की वनस्पतियों को पृथक करने वाले मुख्य लक्षण केवल दो होते हैं। कटुका-कुल में पुष्प प्रायः अनियताकार और अण्डाशय की पटी अग्र-पश्च समतल में होती है। इस कुल के पौधे न्यूनाधिक विषैले होते हैं।

चिकित्सोपयोगो वनस्पतियाँ:-कण्टकारी या कटेरी (मूल, फल, पंचांग), वृहती या बड़ी कटेरी (मूल, पञ्चांग) काकमाची या मकोय (पंचांग), बैंगन (पत्ती, फल), आलू (कन्दशाक), अश्वगन्धा या असगन्ध (मूल और पत्ती), लालमिर्च (फल), श्वेत, कृष्ण और पीत धत्तूर (पत्ती, बीज), पारसीक यवानी या खुरासानी अजवाइन (पत्ती, बीज), बेलाडोना (पत्ती, मूल), तम्बाखू (पत्ती), टमाटर (फल), काकनज (फल)।

२०—कटुका-कुल (Scrophulariaceae)

कुल-लक्षण:—पुष्प अधोजाय, पंचांगभागी, उभयलिंग और न्यूनाधिक अनियताकार; पुंकेशर संख्या में प्रायः ४ या २, कभी २ पाँच; स्त्रीकेशर दो और परस्पर संयुक्त; अण्डाशय द्वि-गह्वर, प्रत्येक गह्वर में प्रतीप-, या अनुप्रस्थ पुष्क बीजीभव बहु-संख्यक; जरायु-न्यास लग्नमध्यग; फल सामान्य स्फोटी या बीजिमांसल; बीज भ्रूणपोषी और गर्भ ऋजु अथवा किंचित् वक्रित।

इस कुल में अधिकतर क्षुप या गुल्म होते हैं। कोई २ लता अथवा आंशिक परिजीवी भी होते हैं। पत्तियाँ अनुपपत्र और एकान्तर अथवा अभिमुख होती हैं। पुष्पव्यूह प्रायः अवृन्त-या सवृन्त काण्डज होता है पर कहीं २ शाखायें वर्ध्यक्ष क्रम में निकलती हैं। कहीं २ पुष्प एकल और पत्रकोणीय होते हैं। कोणपुष्पक और वृन्त-पत्रक प्रायः उपस्थित रहते हैं। पुष्प यद्यपि पंचांगभागी होते हैं पर लोपन या संयोग के कारण कहीं २ भिन्नता देखने में आती है।

बाह्य कोश संयुक्त-दल, ५-खण्डित और फलायुष्क होता है। कहीं २ पश्च-दल का लोप हो गया रहता है। आभ्यन्तर कोश संयुक्त-दल और प्रायः द्वयोष्ठ होता है, पर कहीं कहीं (वन तम्बाखू और गुड़पत्री) यह लगभग नियताकार होता है। यह कहीं द्वयोष्ठ और युक्त (Personate), कहीं दस्ताने की तरह (हृत्पत्री)

कहीं चक्राकार और कहीं चंचूचण होता है। दो पश्च-दलों के मिलकर एक हो जाने से कहां २ यह चार ही खण्डों का दिखाई देता है।

पुंकेशर प्रायः संख्या में चार, विषमयुग्म और आन्तःकौशभ होते हैं। यहाँ पश्च-पुंकेशर का लोप हुआ रहता है। पांचवाँ पुंकेशर कहीं क्लीबकेशर और कहीं पूर्ण पुंकेशर के रूप में पाया जाता है। कहीं २ केवल दो पुंकेशर पाये जाते हैं। यहाँ प्रायः दोनों अग्र-पुंकेशरों का लोप हुआ रहता है। कुक्षि-वृन्त एक और कुक्षि अखण्ड या द्वि-खण्ड होता है। अण्डाशय की पटी अग्र-पश्च समतल में होती है। केवल इसी लक्षण के द्वारा इस कुल को कण्टकारी-कुल से पृथक् करते हैं। फल सामान्य स्फोटी होता है जिसका गह्वर-स्फुटन या छिद्रकारी स्फुटन होता है। बीज प्रायः बहु-संख्यक और भ्रूणपोषी होते हैं।

पुष्प किंचित् प्राक्पुंपाकी और कीट-परागित होते हैं परन्तु स्वयं-परागण भी प्रायः हुआ करता है। मधु-स्रावि मधु-चक्र अण्डाशय के मूल के पास होता है और प्रायः रोमों से ढका रहता है।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—जलनिम्ब या वंगीय ब्राह्मी (पंचांग) कटुका या कुटकी (मूल), हृत्पत्री या डिजिटेलिस (पत्ती), वन-तम्बाखू या मुलीन (पंचांग), तथा भीतचट्टी, गुडपत्री, अगियासन एवं अम्बुज इत्यादि।

२१-पाटला कुल (Bignoniaceae)

कुल-लक्षण:—प्रायःवृक्ष, कभी २ काष्ठीय लतायें परन्तु क्षुप विरल; पत्तियाँ प्रायः अभिमुख, पक्षवत्-सपत्रक, कभी २ अपत्रक और अनुपपत्र; पुष्प द्विलिंग, अनियताकार और दर्शनीय (बड़े), प्रायः बहु-शाखी सवृन्त-काण्डज व्यूहों में; वाह्य कोश २-५ खण्ड वाले, संश्लिष्ट, रुण्डित अथवा पत्र-कोशाकार (Spathaceous); आभ्यन्तर कोश ५-खण्ड वाले, द्व्योष्ठ अथवा असम-खण्ड, खण्ड अनियतारूढ़; पुंकेशर आन्तःकौशभ, प्रायः चार और विषमयुग्म, पाँचवाँ अनुपस्थित अथवा अर्धविकसित या कभी २ पूर्णविकसित अवस्था में उपस्थित; स्त्री-केशर दो और संयुक्त; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, द्वि-गह्वर और मुद्रिकाकार मधु-चक्र से युक्त; कुक्षि-वृन्त सूत्राकार और कुक्षि द्वि-खण्ड; वीजीभव अनेक; फल सामान्य स्फोटी और लम्बीभूत; बीज सपक्ष और भुक्तभ्रूणपोष।

यह एक उष्ण-प्रदेशीय कुल है जिसमें प्रायः पुष्प, पत्र और फल बहुत बड़े होते हैं।

चिकित्सोपयोगी पौधे :—श्योनाक या सोनापाठा (छाल), पाटला या पाढल दोनों प्रकार का (छाल और फल जिसके खण्ड अधकपारी के नाम से मिलते हैं), रोहितक या मेवाड़ देश का रोहेड़ा (छाल), आकाशनिम्ब और गोरखककड़ी ? (Kigelia) आदि मार्गवृक्ष।

२१—वासक-कुल (Acanthaceae)

कुल लक्षण :—प्रायः क्षुप या गुल्म; काण्ड-सन्धियाँ प्रायः स्थूल; पत्तियाँ अभिमुख, अपत्रक, अनुपपत्र और प्रायः अखण्ड; पुष्पव्यूह प्रायः बहु-वर्ध्यग्र अथवा अवृन्त-, या सवृन्त-काण्डज; कोण-पुष्पक और वृन्त-पत्रक प्रायः बड़े और फलायुष्क; पुष्प ४-,५-अङ्गभागी, प्रायः उभयलिंग, समैकच्छेद और अधोजायः बाह्य दल चार या पाँच, स्वतन्त्र अथवा कुछ २ संयुक्त; आभ्यन्तर कोश (५), तिर्यक् (Oblique) अथवा प्रायः द्वयोष्ठ; पुंकेशर चार (विषमयुग्म) अथवा दो, आन्तः कौशभ और प्रायः १-३ क्लीबकेशर भी उपस्थित; परागाशय के दोनों खण्ड छोटे-बड़े और नीचे-ऊपर अथवा एक स्तर में और बराबर क़द के, कभी २ एक खण्ड का अभाव; मधु-चक्र प्रायः स्पष्ट ; स्त्रीकेशर दो और संयुक्त (पटी अग्र-पश्च समतल में), कुक्षि-वृन्त लम्बा, सूत्राकार और अग्र्य, कुक्षि-खण्ड दो और प्रायः नीचे का खण्ड छोटा; अण्डाशय द्वि-गह्वर और प्रत्येक गह्वर में बीजीभव २—अनेक; जरायु-न्यास लग्नमध्यग, फल प्रायः सामान्य स्फोटी (गह्वर-स्फोटी); बीज चिकने या रोमश, भुक्तभ्रूणपोष और जरायु की कठोर अंकुशरूप बाह्य वृद्धि से सम्पन्न।

यह एक बहुत बड़ा कुल है जिसमें प्रायः भिन्न २ प्रकृति की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। इनमें कोई २ आरोही अथवा शुष्कोद्भिद् भी होते हैं। यह कुल तुलसी-कुल से बहुत मिलता जुलता है परन्तु अखण्ड एवं द्वि-गह्वर अण्डाशय, अग्र्य कुक्षिवृन्त, बहु-बीज, सामान्य स्फोटी फल और पुष्पव्यूह के बड़े और स्पष्ट कोणपुष्पकों के कारण यह तुलसी-कुल से आसानी से पृथक् किया जा सकता है। जरायु की वक्र बाह्य वृद्धिओं के कारण फल प्रायः झटके से फटता है।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—अडूसा या वासा (पत्र, पुष्प; पंचांग), तालमखाना या कोकिलाक्ष (बीज), सैरेयक नील, रक्त, श्वेत और पीत चारों

प्रकार के (मूल और पञ्चाङ्ग), कालमेघ (पञ्चाङ्ग), पालक जूही, एक प्रकार का पर्पट (Justicia) और उटंगन (बीज)।

२३–निर्गुण्डी·कुल (Verbenaceae)

कुल-लक्षण :—क्षुप, गुल्म अथवा वृक्ष और काण्ड चतुष्कोण, पत्तियाँ अभिमुख अथवा चक्रिक, अपत्रक अथवा पाणिवत् सपत्रक (कभी २ पक्षवत्) और अनुपपत्र; पुष्प अनियताकार (कभी २ नियताकार), प्रायः उभयलिंग; पुष्प व्यूह वहु-वर्ध्यक्ष और कोण-पुष्पकों से सम्पन्न; बाह्य कोश ४ या ५-दन्तुर, संयुक्त-दल और प्रायः फलोपचयी; आभ्यन्तर कोश ४-,५-खण्ड, खण्ड प्रायः छोटे-बड़े, कोश-नाल प्रायः टेढ़ा, द्वयोष्ठ अथवा असम-खण्ड; पुंकेशर प्रायः चार, बराबर अथवा विषमयुग्म (कभी २ कम या अधिक) और आन्तःकौशाम; स्त्रीकेशर दो, संयुक्त, कुक्षिवृन्त अग्रय और कुक्षि द्वि-खण्ड; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, २-या ४-गह्वर, अखण्ड या खण्डित, प्रत्येक गह्वर में बीजीभव प्रायः एक (कभी २-५ भी); फल अष्ठिफल, बीजिमांसल अथवा कभी २ समान्य स्फोटी; बीज भुक्तभ्रूणपोष।

यह कुल वासक-कुल और तुलसी-कुल दोनों से मिलता-जुलता है। ४-गह्वर अण्डाशय और प्रत्येक गह्वर में एक बीजीभव अथवा २-गह्वर अण्डाशय और प्रत्येक गह्वर में दो बीजीभव होने से यह वासक-कुल से और अग्रय कुक्षि-वृन्त तथा प्रायः मांसल फल के कारण तुलसी-कुल से यह कुल आसानी से पृथक् किया जाता है।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :—निर्गुण्डी या सभालू (पत्र, बीज), ईरानी जाति के सँभालू के बीज जिसे रेणुक कहते हैं, शाक या सागौन (बीज, छाल), क्षुद्र अग्निमन्थ या टेकार (छाल), ब्रह्मयष्टी, (पंचांग), गम्भारी (फल, छाल), बड़ा अग्निमन्थ या गनियारी (छाल), फूल प्रियंगु (अपरिपक्व फल), लालटेना (पंचांग), तुवरी या मानग्रीव वृक्ष, भटेस, भार्गी प्रतिनिधि (छाल, मूल)।

२४--तुलसी·कुल (Labiatae)

कुल-लक्षण:—पुष्प अधोजाय, पंचांगभागी (पुमंग और जायांग में लोपन के कारण प्रायः संख्या में न्यूनता) प्रायः उभयलिंग और समैकच्छेद; बाह्य कोश संयुक्त-दल, फलायुष्क और द्वयोष्ठ; आभ्यन्तर कोश नालाकार और प्रायः द्वयोष्ठ;

पुंकेशर चार, विषमयुग्म या दो पूर्ण और दो क्लीवकेशर अथवा केवल दो पूर्ण पुंकेशर, आन्तःकौशभ; स्त्रीकेशर दो और संयुक्त; अण्डाशय चतुर्गह्वर (दो कूट पटिओं के कारण) प्रत्येक गह्वर में बीजीभव एक, तलोत्थ और प्रतीप-वयुक्त; कुक्षिवृन्त अधःजायोद्गत् और कुक्षि द्वि-खण्ड; फल चतुर्वेश्म; बीज कभी २ गर्भनाश के कारण ३-१; भ्रूणपोष अल्प या अनुपस्थित और बीजपत्र मांसल।

इस कुल में प्रायः गंधयुक्त क्षुप या गुल्मक होते हैं जिनमें काण्ड चतुष्कोण और पत्तियां अपत्रक, अभिमुख (चतुर्पंक्ति) और अनुपपत्र होती हैं। वाह्य चर्म से प्रायः तैल-स्रावि रोम निकले रहते हैं जिनमें गंधयुक्त उत्पत तैल रहता है। पुष्प-व्यूह प्रायः चक्राभ अथवा द्वि-शाखी बहु-वर्ध्यक्ष होता है। वाह्य कोश नालाकार अथवा निवापसम और प्रायः फलोपचयी होता है। आभ्यन्तरकोश कभी २ (पुदीना) लगभग नियताकार होता है। कुछ प्रजातिओं के कुछ पौधों में केवल स्त्रीपुष्प निकलते हैं। इससे अपर-परागण को प्रोत्साहन मिलता है।

अण्डाशय के मूल के पास प्रायः अग्रभाग में मधु-स्रावि चक्र होता है। पुष्प प्रायः प्राक्पुंपाकी होते हैं।

इस कुल की अनेक जातियों में परागण करीब २ उसी प्रकार का होता है जैसा साल्विया में (पृष्ठ ८७-८८)। बहुत से पौधों में परागाशयों के स्फुटन से वाद पुंकेशर वाहर या नीचे की ओर हट जाते हैं और कुक्षि-वृन्त उनके स्थान में आ जाता है। जिन जातियों में आभ्यन्तर नाल छोटा होता है और आभ्यन्तर कोश लगभग नियताकार होता है वहाँ अनेक प्रकार के कीड़े पुष्प के ऊपर रेंगते हुए परागण करा देते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ--तुलसी तथा बर्वरी आदि तुलसी की सब जातियां (पत्ती), अर्जक (पंचांग), पुदीना (पञ्चाङ्ग, अर्क), पेपरमिण्ट (उत्पत तैल), द्रोणपुष्पी या गुमा (पञ्चाङ्ग) पानड़ी (पत्ती), जूफा, मरुवक, पत्ता अजवाइन, वन अजवाइन।

२५—अपामार्ग-कुल (Amarantaceae)

कुल लक्षण:—क्षुप अधिक और गुल्म विरल; पत्ती अपत्रक, अनुपपत्र और प्रायः एकान्तर (कभी २ अभिमुख); पुष्प उभयलिंग अथवा एक-लिंग (पौधे द्विधैकलिंगक); पुष्पव्यूह अवृन्त-काण्डज अथवा गुच्छीकृत; पतले, शुष्क और

दृढ़ कोणपुष्पक और दो वृन्त-पत्रक; वाह्य दल (सवर्णदल) पाँच और कोण-पुष्पकों की तरह पतले, शुष्क और स्थायी, आभ्यन्तर कोश अनुपस्थित; पुंकेशर १-५ तक और सवर्णदलों के सामने स्थित, क्लीवकेशर उपस्थित अथवा अनुपस्थित; अण्डाशय एक-गह्वर और ऊर्ध्वस्थ, वीजीभव १-अनेक; फल प्रायः एक-वीज और फलभित्ति पतली और ढीली कभी २ फल वीजिमांसल या स्फोटी; वीज गोल या लट्वाकार और संपीडित, वीजावरण कड़ा और भंगुर।

इस कुल में पुष्प प्रायः बहुत सूक्ष्म होते हैं। मारिष प्रजाति में वात-परागित पुष्प होते हैं। वीज प्रायः काले और चमकदार होते हैं। शल्क सदृश पतले और दृढ़ कोणपुष्पक और वृन्त-पत्रक इस कुल के मुख्य लक्षण हैं। कभी २ इनके अग्र तीक्ष्ण और नोकीले होते हैं और फल विकिरण में सहायक होते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :- चौलाई और मारिष (पत्रशाक, क्षार, मूल और पंचांग), अपामार्ग (मूल, पत्ती, वीज, क्षार), गोरख गाँजा (पंचांग), रामदाना (मारिष-प्रजातीय वीज), मत्स्याक्षी ? (Alternanthera) शितिवार या सिरियारी (वीज), नागदमनी ? (Pupalia)

२६ एरण्ड-कुल (Euphorbiaceae)

कुल-लक्षण :— पुष्प प्रायः एकलिंग (पौधे प्रायः द्विघैकलिंगक, कोई २ अद्विधैकलिंगक भी) और प्रायः अत्यन्त प्रहासित; सवर्ण कोश एक-अथवा उभय-कोश (कभी २ दो से अधिक चक्रों में अथवा अनुपस्थित), प्रायः पंचांगभागी; पुंकेशर संख्या में सवर्ण दलों के बराबर, द्विगुण, बहु-संख्यक अथवा एकाकी; जायांग प्रायः त्रि-स्त्रीकेशरक और संयुक्तांगक (कभी दो, चार या बहुत अधिक); अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ और त्रि-गह्वर और जरायु-न्यास लग्नमध्यग; कुक्षि तीन, प्रत्येक पुनः द्वि-खण्ड; फल प्रायः पुनर्विदारी और विस्फोटक।

यह बहुत बड़ा कुल है जिसमें वृक्ष और गुल्म अधिक और कुछ क्षुप श्रेणी की वनस्पतियाँ होती हैं। इसमें अधिकतर शुष्कोद्भिद् होते हैं जिनमें प्रायः आक्षीर होता है। आमलकी, एरण्ड तथा दन्ती आदि कुछ प्रजातिओं में आक्षीर नहीं होता। शुष्कोद्भिदों में अनेक मांसल या पत्राभास कांडों से सम्पन्न रहते हैं जो पर्णरहित या थोड़ी सी जातच्युत पत्तिओं या शल्क-पत्रों से युक्त रहते हैं। पत्तियां प्रायः अनत्रक, सोपपत्र और उपपत्र छोटे और प्रायः कलिकायुक्त अथवा कंटकीभूत होते हैं। कहीं २ वे स्थायी भी होते हैं।

सेहुण्ड और नागफनी प्रजातिओं के पौधे एक ही प्रकार के शुष्कोद्भिद् होते हैं और शारीरिक संघटन में वे प्रायः एक ही प्रकार के दिखाई देते हैं यद्यपि वे दो सर्वथा भिन्न कुलों के पौधे हैं। साधारणतः उनकी पहचान काँटों से की जाती है। सेहुण्ड के काँटे रूपान्तरित उपपत्र होते हैं अतः दो २ एक साथ पाये जाते हैं परन्तु नागफनी प्रजाति में कई काँटों के गुच्छे रहते हैं और वे अस्थायी शल्क-पत्रों के कोण में निकले रहते हैं।

इस कुल में पुष्पव्यूह बहु-वर्ध्यक्ष अथवा एक-वर्ध्यक्ष और प्रायः बहुत जटिल रचना का होता है। दुग्धिका-प्रजाति में एकाभव्यूह होता है जिसका वर्णन पहले (पृष्ठ ६०) किया जा चुका है।

पुंकेशर संख्या में बहुत अधिक होने पर प्रायः कई पूलों में पाये जाते हैं। पुंकेशरों के विभाजन से उनकी संख्या में वृद्धि हुई रहती है। अण्डाशय के प्रत्येक गह्वर में एक या दो प्रतीप-वपुष्प और अधोलम्ब बीजीभव होते हैं। बीज भ्रूणपोषी और द्वारक से प्रायः बीजोपांग (Caruncle) की उत्पत्ति हुई रहती है। पुष्प प्रायः प्राक्पुंपाकी होते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:— एरण्ड (मूल, पत्ती, बीज, बीज-तैल), छोटी और बड़ी दुग्धिका (पंचांग), सब प्रकार के सेहुण्ड (काण्ड, मूल, दुग्ध), आमलकी या आँवला (फल), भूमिआंवला (पंचांग), लवली (फल), दन्ती (मूल, बीज), नागदन्ती (मूल), जयपाल या जमालगोटा (बीज), हरितमंजरी या कुप्पी (पंचांग), कम्पिल्लक (फल के ऊपर का लाल रोममय चूर्ण जिसे **कबीला** कहते हैं), पुत्रजीव (बीज), जंगली आखरोट तथा एकवीर।

२७ वट-कुल (Urticaceae)

कुल-लक्षण :— क्षुप, गुल्म अथवा वृक्ष, प्रायः आक्षीरयुक्त; पत्तियाँ प्रायः एकान्तर, अपत्रक, सोपपत्र (उपपत्र भिन्न २ प्रकार के) और प्रायः तिर्यक्; पुष्प प्रायः एक-लिंग (पौधे द्विधैकलिंगक, अद्विधैकलिंगक अथवा सर्वभव), कभी २ उभयलिंग, सूक्ष्म; व्यूह कुम्भाभ, मुण्डकाकार अथवा अवृन्त-काण्डज; कोण-पुष्पक प्रायः सूक्ष्म अथवा अनुपस्थित (कभी २ अनेक और अधःपत्रावलि के रूप में) और वृन्त-पत्रक सूक्ष्म, अनुपस्थित अथवा कभी २ बड़े; सवर्णकोश बाह्यदलायित और दल ३-५, संयुक्त या स्वतन्त्र; पुंकेशर प्रायः संख्या में सवर्ण-

दलों के बराबर और उनके अभिमुख (कभी २ कम या अधिक), कलिकावस्था में प्रायः नीचे की ओर मुड़े हुये; परागाशय द्वि-गह्वर, स्त्रीकेशर दो और संयुक्त अथवा एक, अण्डाशय एक-गह्वर और एक-बीजीभव, कुक्षिवृन्त अखण्ड या द्वि-खण्ड, प्रायः मध्य से हट कर निकले हुये और कुक्षि प्रायः सशाख; फल एकज (वितत-कोश, कठिनकोश, युतोत्फल अथवा अष्ठिफल) अथवा संग्रथित (अखिलमांसल या कुम्भव्यूहोद्भव)।

यह बहुत बड़ा कुल है और एंगलर की पद्धति के अनुसार तूद-कुल (Moraceae) और वृश्चिक-कुल (Urticaceae) दो कुलों में विभक्त है। पहले में प्रायः वृक्ष और गुल्म और दूसरे में प्रायः क्षुप होते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ :—वट, उदुम्बर, काकोदुम्बर, प्लक्ष, पीपल, अंजीर, पनस, लकुच, रबरवृक्ष, तूद, शाखोट, चिरबिल्व, भंग तथा बिच्छूबूटी (वृश्चिक) आदि।

एक-बीजपत्र (Monocotyledons)

२८--पलाण्डु-कुल (Liliaceae)

कुल-लक्षण :—पुष्प प्रायः अपृथक्कोश, त्रयांगभागी, प्रायः उभयलिंग और समच्छेद (कभी २ समैकच्छेद); सवर्णकोश ३ + ३, विभक्त-, अथवा संयुक्त-दल, बाह्य-, अथवा अन्तर्दलायित, पुमंग ३ + ३ (कभी २ एक या अधिक लुप्त); जायांग त्रि-स्त्रीकेशरक और संयुक्तांगक; अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, त्रि-गह्वर और जरायु-न्यास लम्बमध्यग; फल प्रायः सामान्य स्फोटी (गह्वर-स्फोटी अथवा पटी-स्फोटी) अथवा बीजिमांसल; बीज भ्रूणपोषी और भ्रूणपोष मांसल अथवा कठोर।

यह एक बड़ा कुल है जिसमें क्षुप अधिक होते हैं और वे प्रायः अन्तर्भूमिशायी, पूर्णकन्द अथवा प्रपुष्टपत्रक नाम के भौमिक काण्डों द्वारा प्रति वर्ष वर्धि-कायिक पुनरुत्पत्ति किया करते हैं। कोई २ पौधे कलिका-कन्दों द्वारा भी अपनी पुनरुत्पत्ति करते हैं। इस कुल में कोई २ प्रजातियाँ (ड्रसीना तथा एका) वृक्ष तथा गुल्म श्रेणी की भी होती हैं, जिनमें द्वि-बीजपत्रों की तरह आनन्तर्य वृद्धि होती है।

कलिहारी और चोबचीनी प्रजातियाँ आरोही और शतावरी की लतायें पत्राभास काण्डों से युक्त होती हैं। शतावरी में पत्तियाँ कण्टकीभूत अथवा शल्क सदृश

और केवल उनके अग्र कंटकीभूत और मूल अनियमित, कन्द सदृश और गुच्छाकार होते हैं। घृत-कुमारी सदृश कुछ पौधे शुष्कोद्भिद् श्रेणी के होते हैं।

पुष्पव्यूह बहु-वर्ध्यक्ष अथवा एक-वर्ध्यक्ष-किसी प्रकार का हो सकता है। पलाण्डु में बहु-वर्ध्यक्ष और उच्छत्राकार और कहीं २ एकल अवसान पुष्प भी होता है। कलिहारी में सवर्णकोश विभक्त-दल होता है। पुंकेशर अधोजाय अथवा सावर्णकोशभ और परागाशय प्रायः अन्तःस्फुट होते हैं। चोबचीनी में उपपत्र वृन्तलग्न, उनके अग्र तन्तुभूत और पत्तियों में जालिका-विन्यास होता है। पुष्प भी इसमें एक-लिंग होते हैं। कलिहारी का अन्तर्भूमिशायी कन्द हलाकार और पत्राग्र तन्तुभूत होता है। वंगीय मूर्वा में तन्तुमय अन्तर्भूमिशायी और पलाण्डु तथा कोल-कन्द प्रजातिओं में प्रपुष्टपत्रक होते हैं।

इस कुल में वृष्य और पौष्टिक कन्द (मूल-, या काण्ड-कन्द) की कई विशिष्ट प्रकार की चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ होती हैं जो प्रसिद्ध अष्टवर्ग की औषधियाँ हो सकती हैं। मेदा, महामेदा तथा जीवक के नाम से इस कुल के कुछ पौधे लिये भी जाते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—पलाण्डु और लहसुन या रसोन (प्रपुष्टपत्रक), घृतकुमारी (पत्ती और पत्र-स्वरस से बनाया हुआ मुसब्बर), कलिहारी (अन्तर्भूमिशायी), चोबचीनी, सार्सापरीला और जंगली उशवा (मूल), शतावरी दोनों (अनियमित कन्दसदृश मूल), सफेद मुसली (मूल), कोलकन्द या जंगली प्याज (प्रपुष्टपत्रक), श्वेत वच (पूर्णकन्द), मूर्वा का वंगीय प्रतिनिधि (अन्तर्भूमिशायी), जीवक ? (प्रपुष्टपत्रक), मेदा ? या शकाकुल (अन्तर्भूमिशायी), सुरिंजान या Colchicum (पूर्णकन्द)।

२९—हरिद्रा-कुल (Scitamineae)

कुल-लक्षण:—प्रायः क्षुप (वृक्ष विरल); पत्ती मूलोद्भव अथवा काण्डोद्भव प्रायः विशाल, नाड़ी-विन्यास पक्षवत्, पर्णतल कोशाकार और प्रायः अनेक पर्णतल परस्पर मिलकर काण्ड सदृश स्तम्भ में परिवर्तित; पुष्प अनियताकार, प्रायः उभय-लिंग और उपरिजाय, पुष्पव्यूह प्रायः सामान्य अथवा पत्रावृत अवृन्त-काण्डज अथवा एकल अवसानपुष्प; कोणपुष्पक पत्रकोशाकार, सवर्णकोश दो चक्रों में, प्रत्येक चक्र में दल तीन २; पुंकेशर संख्या में ६ और दो चक्रों में (पाँच पूर्ण पुंकेशर और एक क्लीबकेशर अथवा एक पूर्ण पुंकेशर जिसमें कभी २ एक पराग-

शय-खण्ड भी अन्तर्दलायित, और शेष (प्रायः पाँच या कम) अन्तर्दलायित क्लीवकेशर; जायांग त्रि-स्त्रीकेशरक और संयुक्तांगक; अण्डाशय अधःस्थ और वीर्जाभव प्रायः अनेक, फल सामान्य स्फोटी या बीजिमांसल; बीज प्रायः बीजोपांग से और परिभ्रूण (Perisperm) अथवा भ्रूणपोष अथवा दोनों से सम्पन्न।

यह कुल तीन उपकुलों में विभक्त किया गया है—कदली, आर्द्रक और वैजयन्ती-ये पौधे एक २ के प्रतिनिधि हैं। कदली प्रजाति में पत्रावृत अवृन्तकाण्डज व्यूह होता है जिसमें प्रायः नीचे (आधार पर) के पुष्प स्त्री पुष्प, बीच के उभयलिंग और ऊपर के पुंपुष्प होते हैं। कोणपुष्पक प्रायः बड़े और पत्रकोश सदृश होते हैं। सवर्णकोश नालाकार, एक ओर फटा हुआ और ५-दन्तुर होता है और दूसरी ओर एक स्वतंत्र दल होता है। पूर्ण पुंकेशर पाँच और क्लीबकेशर एक होता है जो कभी २ अनुपस्थित रहता है। इसके क्षुप तथा उनकी पत्तियाँ बहुत बड़ी होती हैं जो प्रायः नाड़ियों के बीच २ में फट जाती हैं। कोशाकार पर्णतलों से बने हुये मिथ्याकाण्ड के बीच से होकर व्यूहाक्ष निकलता है। पन्थ-पादप (Traveller's tree) नामक एक वृक्ष जाति भी इस उपकुल में होती है। कदलीप्रजाति में वन्य और लगाई हुई दोनों तरह की जातियाँ होती हैं। मलाया में होने वाली इसकी एक जाति से मनिल्ला शण (Manilla Hemp) निकाला जाता है।

वैजयन्ती उपकुल (Cannaceae) में केवल एक पूर्ण पुंकेशर होता है परन्तु उसमें भी एक परागाशय-खण्ड अन्तर्दलायित होता है। इसका सूत्र तथा अन्य क्लीबकेशर भी अन्तर्दलायित होते हैं। इस उपकुल में वैजयन्ती, शीतल-पाटी और असली आरारूट के प्रसिद्ध पौधे पाये जाते हैं। असली अरारूट, मरण्था (Maranta arundinacea) नामक पौधे के प्रपुष्टपत्रक से निकाला हुआ मण्ड होता है।

आर्द्रक उपकुल (Zingiberaceae) में केवल एक पूर्ण पुंकेशर होता है परन्तु उसमें दोनों परागाशय-खण्ड होते हैं। शेष क्लीबकेशर अन्तर्दलायित होते हैं। सवर्णकोश के तीन दल न्यूनाधिक बाह्यदलायित और कभी २ पत्रकोशाकार होते हैं। तीन भीतरी दल न्यूनाधिक अन्तर्दलायित होते हैं। इस उपकुल की वनस्पतियों के अन्तर्भूमिशायी कन्दों और प्रपुष्टपत्रकों के अन्दर मण्ड का संचय होता है। किसी २ के मण्ड निकाल कर उपयोग में लाये जाते हैं—जैसे कचूर,

आर्द्रक तथा तीखुर आदि के। वनौषधियों के प्रायः भौमिक काण्ड काम में लाये जाते हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियाँ:—हरिद्रा, आम्रहरिद्रा या आमाहल्दी, वनहरिद्रा, तीखुर (मण्ड), कचूर, शटी या कपूरकचरी, आर्द्रक और शुंठी, कुलंजन दोनों प्रकार का, छोटी और बड़ी इलायची (फल), केमुक, कदली, वैजयन्ती और अरारुट (मण्ड)।

३०—ताल-कुल (Palmae)

कुल-लक्षण:—गुल्म अथवा वृक्ष; काण्ड सीधा, प्रायः निःशाख और स्वावलम्बी (वेत्र में आरोही); पत्तियाँ प्रायः काण्ड के शीर्ष पर समूहबद्ध, प्रायः बहुत बड़ी और पक्षवत् अथवा पाणिवत् खण्डित, कलिकावस्था में उनका कुंचन प्रतिसिराभवः पुष्प अवृन्त, सूक्ष्म पर संख्या में प्रायः बहुत अधिक, नियताकार, अधोजाय, एकलिंग अथवा उभयलिंग; पुष्पव्यूह पत्रावृत अवृन्त-काण्डज (सामान्य या समकम); पत्र-कोष एक या अधिक; पुंपुष्प और स्त्रीपुष्प एक ही अथवा भिन्न २ व्यूहों में अथवा भिन्न २ व्यक्तियों में; सवर्णकोश और पुमंग प्रायः दोनों ३+३; पुंकेशर सूत्र स्वतंत्र अथवा परस्पर संयुक्त, परागाशय लग्नपृष्ठक और द्वि-गह्वर; स्त्रीकेशर संख्या में तीन, स्वतंत्र या संयुक्त, अण्डाशय ऊर्ध्वस्थ, एक-, या त्रि-गह्वर और बीजीभव १ या ३; फल अष्ठिफल या बीजिमांसल और बीज भ्रूणपोषी।

पुष्प प्राक्पुंपाकी, वात-परागित अथवा कभी २ कीट-परागित होते हैं।

इस कुल में व्यवहारोपयोगी वनस्पतियाँ अधिक पाई जाती हैं। ताड़ तथा खजूर आदि से शर्करारस निकलता है जिसके किण्वन से मादक पेय भी तैयार होते हैं। कुछ पौधों से दृढ़ रेशे निकलते हैं। कुछ के फल खाये जाते हैं और कुछ से तैल तथा मण्ड निकाला जाता है। वेत्र से कुर्सियाँ तथा टोकरियाँ बनती हैं।

उपयोगी वनस्पतियाँ:—नारियल, ताल, पूग या सुपारी, खर्जूर, खूनखराबा (गोंद), दरयायी नारियल, वेत्र या बेंत, साबूदाना वृक्ष (मण्ड) की एक जाति।

३१—गोधूम-कुल (Gramineae)

कुल-लक्षण:—पुष्प प्रायः उभयलिंग, कभी २ (मक्का में) एक-लिंग; सवर्णकोश अनुपस्थित अथवा दो दल (कभी २ तीसरा भी) पत्रों के रूप में उपस्थित; पुंकेशर संख्या में प्रायः तीन (कभी २ एक, दो या ६-अनेक); स्त्रीकेशर एक

और कुक्षि दो, तीन अथवा एक; फल संचोल-भित्ति (कभी २ कठिनकोश या बीजि मांसल); बीज भ्रूणपोषी और गर्भ पार्श्विक तथा विशेष रचना का ; पुष्पव्यूह प्रायः संयुक्तशूकी और कोणपुष्पक प्रायः बुसपत्रों के रूप में उपस्थित।

इस कुल की गणना सबसे बड़े और जगतविस्तृत कुलों में की जाती है। इसमें बाँस की तरह कोई २ गुल्म होते हैं अन्यथा सभी पौधे क्षुपश्रेणी के होते हैं। इनके पर्व प्रायः पोले और लम्बे और संधियाँ मोटी तथा स्पष्ट होती हैं। ये प्रायः बहु-वर्षायु होते हैं और अन्तर्भूमिशायी, वहिर्धावी अथवा वहिर्मुखधावी काण्डों के द्वारा इनका पुनरुत्पादन हुआ करता है। अनेक तृण (Grasses) एक-वर्षायु होते हैं और गुच्छाकार निकले रहते हैं। पर्णक्रम कुन्तल और द्विपंक्तिभव, पर्णतल कोषाकार, कोश लम्बा और बन्द या दूसरी ओर खुला हुआ, कोश और फलक के बीच में जिह्विका उपस्थित और फलक रेखाकार से लट्वाकार तक होता है। पुष्पव्यूह प्रायः बहुत जटिल रचना का होता है। यह संयुतशूकी अथवा मिश्रव्यूह (शूकी व्यूह की शाखायें अर्थात शूकिकायें (Spikelets) सवृन्त-काण्डज क्रम में निकली हुई) होता है। प्रत्येक शूकिका में व्यूहाक्ष पर दो पंक्तियों में शल्क सदृश कोणपुष्पक निकले रहते हैं। आधार की ओर के प्रायः दो प्रथम कोणपुष्पक अपुष्प होते हैं और इन्हें बुसपत्र (Glume) कहा जाता है। अन्य शल्कपत्रों के कोण में पुष्प होते हैं जिन्हें **सपुष्प शल्क** (Lemma) कहते हैं। ये प्रायः अग्र पर शूकयुक्त होते हैं।

प्रत्येक शूकीव्यूह में पुष्पों की संख्या भिन्न २ हो सक्ती है। कहीं तो पूर्ण उभयलिंग पुष्प एक ही होता है और शेष पुष्प अर्धविकसित होते हैं। मक्का में पुंपुष्पों का व्यूह अग्रज होता है और स्त्रीपुष्प दृढ़ तथा मांसल पत्रावृत व्यूह में रहते हैं। पुष्प-वृन्त पर कोणपुष्पक की विपरीत दिशा में ऊपर की ओर एक शल्की वृन्तपत्रक (Pale) होता है। इसके ऊपर छोटी २ दो अन्य शल्क सदृश रचनायें होती हैं जिन्हें **परिपुष्पक** (Lodicule) कहते हैं। इन्हें कुछ लोग सवर्ण कोश के दो दल अथवा कुछ लोग दूसरे वृन्त-पत्रकों के दो खण्ड मानते हैं।

पुंकेशर प्रायः तीन और अधोजाय होते हैं। कभी २ ये संख्या में ६ अथवा केवल दो होते हैं। केशरसूत्र लम्बे, पतले और परागाशय लग्नपृष्ठक होते हैं। स्त्रीकेशर केवल एक होता है और कुक्षि प्रयः दो, सशाख एवं पक्षसदृश होते हैं।

अण्डाशय एक-गह्वर, ऊर्ध्वस्थ और बीजीभव एक, तलोत्थ तथा प्रतीपवपुष्क होता है।

पुष्प प्राक्स्त्रीपाकी और वातपरागित होते हैं। पुष्पों के खिलने के समय दोनों परिपुष्पक फूल कर स्थूल हो जाते हैं और ऊपर के दोनों पत्रावरणों को पृथक् कर देते हैं। उसी समय पुंकेशरसूत्र भी लम्बे हो जाते हैं और उनके परागाशय बाहर निकल कर लटकने लगते हैं। वायु में उड़ते हुये परागकणों को सपक्ष कुक्षि ग्रहण करके परागण का कार्य सम्पन्न करते हैं।

यह कुल सबसे अधिक उपयोगी है, क्योंकि मनुष्यों तथा पशुओं के खाद्य द्रव्य (अन्न और चारा) इसी से मिलते हैं। शूकधान्य जैसे—जौ, गेहूं, धान, मक्का, ज्वार, बाजरा, ईख, रागी, कोदौ तथा कंगुनी आदि धान्य इसी कुल के हैं। मकानों की छज्जा, रस्सी, चटाई तथा छप्पर आदि बनाने और काग़ज तैय्यार करने में इसी कुल की वनस्पतियों का अधिक उपयोग होता है। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित चिकित्सोपयोगी वनस्पतियां भी इस कुल में होती हैं।

चिकित्सोपयोगी वनस्पतियां:—इक्षु (मूल), शालि, शर (मूल), दर्भ या कुश (मूल), काश (मूल), दूर्वा (पञ्चांग), उशीर या खस (मूल), रोहिष, गन्धतृण या हरी चाय और लामज्जक आदि के पत्रादि एवं उनसे निकाले हुये उत्पन्न तैल।

परिच्छेद १६

उद्विकास और पित्रागति (Evolution and Heredity)

उद्विकास:—प्राचीनों की ऐसी धारणा थी कि संसार में सजीवों की जितनी जातियां हैं उनमें प्रत्येक जाति की सृष्टि स्वतंत्र रूप से हुई है। सभी जातियाँ आदि-काल से चली आ रही हैं और जिस रूप में उत्पन्न हुईं उसी रूप में आज भी हैं। इस **विशिष्टोत्पत्ति-वाद** (Theory of especial Creation) के अनुसार जीवन की उत्पत्ति भी दैवी शक्ति के कारण मानी जाती थी। परन्तु सांसारिक पदार्थों का वैज्ञानिक अध्ययन ज्यों २ बढ़ता गया वैज्ञानिकों का विश्वास विशिष्टोत्पत्ति-वाद से हटता गया। ग्रीस के दार्शनिकों तक ने यह मान लिया था कि उच्च कोटि के सजीव पदार्थों की सृष्टि क्षुद्र कोटि के सजीव पदार्थों से हुई है। विज्ञानों के विकास के साथ २ सजीव जातियों के क्रम-विकास अर्थात् उद्विकास की

धारणा भी बलवती होती गई और अन्त में डारविन नामक वैज्ञानिक की खोजों से वह परिपुष्ट होकर निर्विवाद रूप से सत्य मान ली गई। उद्विकास के सिद्धान्त (Evolution theory) के अनुसार यह माना जाता है कि जिस प्रकार आज प्राकृतिक परिवर्तनों एवं कृत्रिम उपायों से सजीव पदार्थों में परिवर्तन आते या लाये जाते हैं उसी तरह पहले से ही उनमें परिवर्तन होते रहे हैं। प्रारम्भ के प्राणी बहुत ही सामान्य रचना और आकृति के थे परन्तु सम्भवतः जीवन की परिस्थितियों में समय २ पर विषमता आते रहने के कारण उनमें तथा उनकी संतानों में अनेक प्रकार के रचनात्मक परिवर्तन होते गये और इसके फलस्वरूप भिन्न २ जातियों की उत्पत्ति क्रमशः होती गई। उद्विकास का यही सिद्धान्त है। जीवन की उत्पत्ति के विषय में यह सिद्धान्त कुछ नहीं कहता। जीवन के प्रारम्भ के साथ उद्विकास का प्रारम्भ होता है।

प्राकृतिक परिवर्तनों से किस तरह भिन्न २ प्रकार के पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं यह बात साइकिल के उदाहरण से समझाई जा सकती है। साइकिल पहले काठ की और तीन पहियों की होती थी। इसका क्रमशः रचनात्मक विकास होते २ आजकल इसका जो परिष्कृत स्वरूप हो गया है उसे हम मोटर साइकिल के रूप में पाते हैं। प्रारम्भ की बनी हुई साइकिल में आवश्यकतानुसार समय २ पर भिन्न २ परिवर्तन होते गये और उसकी भिन्न २ जातियों की सृष्टि होती गई। काठ की पहियों के स्थान में लोहे की पहियों का और तीन के स्थान में केवल दो पहियों का लगाना, पहियों पर रबर के ट्यूब टायर का प्रयोग और अन्त में उसके संचालन के लिये मोटर का लगाया जाना—ये साइकिल के उद्विकास के मुख्य २ परिवर्तन हैं। साइकिल के इस क्रम-विकास में आज तक साइकिल की जितनी किस्में बनी हैं उनमें कुछ अब भी पाई जाती हैं जो भिन्न भिन्न परिस्थितियों में काम दे रही हैं और कुछ किस्में वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल न होने के कारण पूर्णतः लुप्त हो गई हैं। सामान्य साइकिल और मोटर साइकिल इन परिस्थितियों के अधिक अनुकूल होने के कारण सबसे अधिक उपयोग में आ रही हैं। ऐसा माना जाता है कि सजीव जातियों की सृष्टि भी एक दूसरे से क्रम-विकास के द्वारा हुई है। इस क्रम-विकास में उत्पन्न कितनी जातियाँ अब लुप्त हो गई हैं और पृथ्वी के गर्भ में उनके अवशेष भी प्रायः पाये जाते हैं। उद्विकासवाद के अनुसार पहले पहल जीवन की उत्पत्ति प्ररस के सूक्ष्म कणों के रूप में हुई। उनमें पहले

उद्भिदों और जन्तुओं के विभेदक लक्षणों का विकास भी नहीं हुआ था। बाद में सजीव प्राणियों की दो शाखायें हो गईं। एक में उद्भिद्-लक्षणों का और दूसरी में जन्तु-लक्षणों का क्रमशः विकास होता गया। जीवन की उत्पत्ति सर्व प्रथम जल के अन्दर हुई। बाद की जातियाँ धीरे २ स्थल में रहने लगीं अर्थात् सब से पहले जलचरों की, फिर उभयचरों की और अन्त में स्थलचरों की उत्पत्ति हुई।

उद्विकासवाद के लिये प्रमाण—

(१) भौमिकीय (Geological) प्रमाणः—पृथ्वी के गर्भ में उन जन्तुओं और वनस्पतिओं की छाप अथवा उनके शरीर के अवयव देखे जाते हैं जो पहले के युगों में हो चुके हैं। उनके अध्ययन के निमित एक शास्त्र का निर्माण हुआ है जिसे **पुरा-जैविकी** (Paleo-biology) कहते हैं। इस शास्त्र के अध्ययन से पूर्वकालीन जातियों का जो लेखा मिलता है उससे विकासवाद में हमारी पूर्ण आस्था हो जाती है। पृथ्वी के भिन्न २ स्तरों के निर्माण-काल का निर्णय भौमिकी-विदों ने किया है और उन स्तरों में जिन २ वनस्पति तथा जन्तु-जातिओं के चिह्न मिलते हैं उनका अध्ययन पुरा—जैविकी के विद्वानों ने किया है। इस प्रकार पूर्व काल में पाई जाने वाली जातिओं के विकास-स्तर एवं उत्पतिकाल आदि का जो परिचय हमें मिलता है उसमें सबसे मुख्य बात यह है कि जो जातियाँ जितनी ही प्राचीन हैं उनका शारीरिक संघटन उतना ही निम्न एवं सामान्य कोटि का है और बाद में उत्पन्न होने वाली जातिओं का शारीरिक संघटन उत्तरोत्तर जटिल और उच्च कोटि का होता गया है। उद्विकास-वाद भी यही कहता है। वर्तमान काल की उपस्थित जातिओं में परम्परा-सम्बन्ध की जैसी कल्पना विकास-वादिओं ने की थी भूगर्भ में वह उसी तरह प्रतिबिम्बित प्रतीत होती है।

विकास-वाद की कल्पनाओं के आधार पर वर्तमान जातियों के जिन परम्परा-सम्बन्ध-द्योतक वंशवृक्षों का निर्माण किया गया था उनमें कहीं २ संयोजक जातियों की आवश्यकता प्रतीत होती थी-अर्थात् कहीं २ दो निकटतम जातियों के बीच इतना अधिक अन्तर होता है कि दोनों के बीच साक्षात् सम्बन्ध की कल्पना नहीं हो सकती थी-ऐसी अवस्थाओं में ऐसी कल्पना करनी पड़ती थी कि अमुक २ प्रकार की संयोजक जातियाँ अवश्य हुई होंगी जो आजकल सम्भवतः लुप्त हो गई हैं। पुरा-जैविकीय अध्ययनों का सबसे बड़ा चमत्कार यही है कि इस तरह की कल्पित

जातिओं के उत्पन्न होने के प्रमाण मिले हैं। ऐसी जातिओं को लोग वंशमाला की **लुप्त कड़ियां** (Missing links) कहते हैं।

(२) क्रामिकीय (Taxonomic) **प्रमाण:**—सजीव पदार्थों की बाह्य तथा आन्तर रचना-विधि का तुलनात्मक अध्ययन करने पर मालूम होता है कि उनमें एक अद्भुत क्रम, सादृश्य और क्रमिक भिन्नता पाई जाती है, जिनके आधार पर वैज्ञानिकों ने समस्त जीव-सृष्टि को स्पष्ट और सुसीमित समुदायों में विभक्त किया है। वर्गीकरण के निम्नतम एकक को जाति (Species) का नाम दिया गया है। किसी जाति के व्यक्तियों में इतना अधिक सादृश्य होता है और उनका वैशिष्ट्य प्रायः इतना स्पष्ट होता है कि दूसरी जाति के व्यक्तियों से उन्हें पृथक् करने में कठिनाई नहीं होती। इसी तरह के सादृश्य के आधार पर समान जातियों से प्रजातिओं (Genera) का, प्रजातियों से कुलों का, कुलों से गणों का, गणों से श्रेणियों का और श्रेणियों से उपविभागों एवं विभागों का निर्माण किया गया है और सम्पूर्ण उद्भिद्-साम्राज्य एक वंश-वृक्ष में तथा सम्पूर्ण जन्तु-सृष्टि दूसरे वंश-वृक्ष में समेट ली गई है। लुप्त अथवा विद्यमान प्राणियों की कोई ऐसी जाति नहीं रह जाती जिसे इन वंश-वृक्षों में स्थान न मिलता हो—अर्थात् जो अन्य जातियों से सर्वथा असम्बन्धित मानी जा सके। इन दोनों वंश-वृक्षों पर मूल से शीर्ष तक दृष्टिपात करने पर जातियों में सादृश्य और वैशिष्ट्य का ऐसा सिलसिला मिलता है जिसे देखकर कोई भी विचारशील व्यक्ति उद्विकास की धारणा से अलग नहीं रह सकता। यदि जातियों की उत्पत्ति में परम्परा-सम्बन्ध न होता और सब की सृष्टि स्वतन्त्र रूप से हुई होती तो उनमें उपर्युक्त क्रम क्यों होता। एक जाति से दूसरी जाति के आविर्भूत होने से ही कभी २ यह भी देखा जाता है कि जनक और जात समुदायों के व्यक्तियों की रचना में ऐसा संतत विभेदन दिखाई देता है कि दोनों के बीच की सीमा को निश्चित करना कठिन हो जाता है।

एक कुल की भिन्न २-जातियों का क्रम-विकास कहीं कहीं बहुत स्पष्ट मालूम होता है। जैसे कटुका-कुल में दो से पांच पुं-केशर पाये जाते हैं। किसी प्रजाति (Verbascum) में पाँच पुं-केशर होते हैं और किसी (Scrophularia) में पाँचवां अर्धविकसित अवस्था में पाया जाता है। किसी में (Digitalis) केवल चार पुं-केशर होते हैं और किसी (Gratiola) में दो पुं-केशर पूर्ण

विकसित और दो अर्ध-विकसित होते हैं। अन्ततः इस वर्ग में कुछ जातियां ऐसी भी होती हैं जिनमें केवल दो पुंकेशर रहते हैं।

(३) रचनाकारिकीय (Anatomical and morphological) **प्रमाण:**—सजीवों की शारीरिक रचना का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उसमें एक यह मौलिक सादृश्य दिखाई देता है कि उन सबका शरीर समान प्ररस से युक्त कोशाओं का ही बना होता है। रचनाकारिकीय समानताओं और विभिन्नताओं के ही आधार पर प्राणियों का वर्गीकरण किया गया है, जो उनके परम्परा सम्बन्ध को ही प्रमाणित करता है। इनके अतिरिक्त रचनाकारिकीय अध्ययनों में ऐसी कितनी रूपान्तरित और अर्धविकसित रचनायें सामने आती हैं जिनकी उत्पत्ति का कारण विकास-वाद से ही स्पष्ट होता है। रचनाकारिकीय खण्ड में ऐसे कितने उदाहरण मिले हैं जिनमें भिन्न २ अवयव परिस्थिति तथा कार्य के अनुसार भिन्न २ प्रकार की रूपान्तरित अवस्थाओं में पाये जाते हैं। ये रूपान्तर व्यक्तिगत विकास में नहीं उत्पन्न होते बल्कि वंश-विकास में उनके क्रमशः उत्पन्न होने के प्रमाण मिलते हैं।

अवशिष्टांगों की सकारणता भी विकासवाद से ही समझ में आती है। मुण्डीकुल में बाह्य-कोश की आवश्यकता नहीं होती तब भी यह रोम-कण्टक के रूप में प्रायः उपस्थित रहता है। इसका कारण यही हो सकता है कि इस कुल के पूर्वजों में यह अंग था इसलिये इसमें भी उत्पन्न हो गया है। इसी तरह ह्वेल जल में रहता है इसलिये इसे रोमश चर्म तथा नाखूनों की कोई आवश्यकता नहीं होती परन्तु तब भी ये अवयव अर्ध-विकसित अवस्था में ह्वेल में पाये जाते हैं क्योंकि इन्हें उत्पन्न करने का स्वभाव उसे अपने पूर्वजों से मिला है जो स्थलचर थे।

(४) भ्रौणिकीय (Embryological) **प्रमाण:**—प्राणियों के भ्रौणिकीय अध्ययन से पता चलता है कि जिस समय उनका भ्रूण-विकास होता रहता है उस समय प्रायः ऐसी अस्थायी रचनायें प्रगट होती और फिर लुप्त हो जाती हैं जो कुछ निम्नतर श्रेणी की प्राणियों में स्थायी रूप से पाई जाती हैं। पर्णांग श्रेणी के बीजकों का उद्भेदन होकर पहले शाप्यक जैसी सूत्राकार रचना तैयार होती है और फिर वह सूकाय-सदृश (Thalloid) होकर अमूलकव्यक्तांग श्रेणी के कुछ उद्भिदों जैसी दिखाई देती है। इसी तरह मेढक की शैशव अवस्था में अस्थायी रूप से मछली का स्वरूप प्रगट होता है। आस्ट्रेलिया में होने वाले बब्बूल-प्रजातीय एक वृक्ष-जाति में बीजांकुरण के बाद सर्वप्रथम निकलने वाले पर्ण द्वि-पक्षवत्-सदल होते हैं,

परन्तु स्थायी पत्र फिर केवल फलकाभास पर्णवृन्त के रूप में निकलते हैं। ऐसी समस्याओं के सुलझाने के लिये विकास-वादियों ने एक सिद्धान्त बनाया है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि प्रत्येक प्राणी व्यक्तिगत विकास में अपने पूर्वकालीन वंशगत इतिहास की न्यूनाधिक मात्रा में पुनरावृत्ति करता है (Ontogeny repeats Phylogeny)। इसीलिये सभी प्राणी पहले एक कोशा के रूप में प्रगट होते हैं और भ्रूणावस्था में प्रायः ऐसी रचनाओं को उत्पन्न करते हैं जो उनके पूर्वजों में स्थायी रूप से पाई जाती हैं। ऐसे प्रमाणों के आधार पर मत्स्य और मेढ़क तथा आप्यक और अमूलक-व्यक्तांगों में जनक और जात के सम्बन्ध स्थापित होते हैं।

भौगोलिक वितरण (Geographical Distribution) **के प्रमाण**—आधुनिक जातियों के भौगोलिक वितरण पर विचार करने से मालूम होता है कि कितनी ही जातियों का प्राकृतिक वितरण एक-देशिक होता है। जैसे, पनसजाति के वृक्ष केवल भारत में और यूकलिप्टस के वृक्ष केवल आस्ट्रेलिया में स्वभावतः उत्पन्न होते हैं। ऐसी जातियां किसी न किसी एक ही प्रदेश या सीमा के भीतर पाई जाती हैं अन्यत्र नहीं होतीं। ऐसे प्रदेश प्रायः वे होते हैं जो अपने निकटवर्ती प्रदेशों से उच्च पर्वत या विशाल समुद्र के समान किसी न किसी प्राकृतिक प्रतिबन्ध के द्वारा पृथक् रहते हैं जिससे इन प्रदेशों के प्राणी दूसरे प्रदेशों में नहीं पहुंच पाते। प्राकृतिक व्यवधानों से घिरे हुये ऐसे प्रदेशों में उत्पन्न होनेवाली जातियों में भी घनिष्ट परम्परा-सम्बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त भौगोलिक वितरण में यह एक सामान्य नियम देखा जाता है कि निकटवर्त्ती देशों की जातियों में जितना निकटतम सम्बन्ध होता है उतना दूरदेश की जातिओं में नहीं रहता। ये सब बातें उद्विकास-वाद को ही पुष्ट करती हैं।

(६) संपरीक्षण-(Experimental) **प्रमाण:**—आज के वैज्ञानिक युग में पित्रागति के नियमों के अनुसार प्रसंकरण की कृत्रिम विधि से जब उद्भिदों और जन्तुओं के नये २ भेद उत्पन्न करने में हम समर्थ हो रहे हैं तो असंख्य वर्षों से प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में जो प्रसंकरण होता रहा है उससे आधुनिक जातियों की क्रमशः उत्पत्ति हुई हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं मालूम होती।

उद्विकास की विधि

यद्यपि उद्विकास के सिद्धान्त से सभी वैज्ञानिक सहमत हैं तथापि उद्विकास के वास्तविक कारणों के सम्बन्ध में उनके भिन्न २ मत हैं। इतना तो सभी लोग समझते हैं कि विभेदन और पित्रागति अर्थात् समान से विशेष की उत्पत्ति और वैशिष्ट्य का संतान में पारेषण होकर विशेष की पुनरावृत्ति–ये दो उद्विकास के आधारभूत तत्व हैं। परन्तु जिन वैशिष्ट्यों के कारण नवीन जातियों का प्रादुर्भाव होता है उनके वास्तविक स्वरूप और उत्पत्ति के कारणों के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। इन्हीं मतभेदों को लेकर क्रम-विकास की विधि को समझाने के लिये लेमार्क (Lamarck), डारविन (Charles Darwin) और डीव्रीज़ (Hugo De Vries) के सिद्धान्त बने हैं जिनका संक्षिप्त परिचय आगे कराया गया है।

(१) लेमार्क का सिद्धान्त

ऐसा देखा जाता है कि प्राणियों में अपने को अपनी परिस्थिति के अनुकूल बनाने की स्वाभाविक शक्ति होती है, जिसके कारण उनमें समायोजन (Adaptation) की क्रिया होती है। इसका फल होता है व्यक्तियों में वैशिष्ट्य की उत्पत्ति होकर उनका विभेदन (Variation)। समायोजन और विभेदन तो सजीव प्रकृति के व्यापक नियम हैं। इनके सम्बन्ध में तो कोई मतभेद नहीं परन्तु मतभेद इस बात पर है कि क्या परिस्थितिजन्य वैशिष्ट्यों का संतान में पारेषण सम्भव है? लेमार्क का यह कहना है कि परिस्थिति आदि की प्रेरणा से व्यक्तिगत शारीरिक विकास में जो वैशिष्ट्य उत्पन्न होते हैं उनका प्रभाव केवल काय-कोशाओं तक सीमित नहीं रहता बल्कि पित्र्य-द्रव्य भी उनसे क्रमशः प्रभावित हो जाता है। इसीलिये इन वैशिष्ट्यों का संतान में पारेषण होता रहता है। आगे की पीढ़ियों में इन वैशिष्ट्यों को उत्पन्न करना पित्र्य-द्रव्य का धर्म हो जाता है, और पूर्व परिस्थिति की अपेक्षा बिलकुल नहीं रह जाती। लेमार्क के सिद्धान्त को इसीलिये परिस्थिति-जन्य गुणों (वैशिष्ट्यों) का पारेषण (Inheritance of acquired Characters) का सिद्धान्त कहते हैं। पौधों की परिस्थिति में शारीरिक वैशिष्ट्य उत्पन्न करने वाले कारणों में मिट्टी, निवास-स्थान की ऊंचाई, आर्द्रता, ताप और प्रकाश आदि मुख्य माने जाते हैं। जन्तुओं में उपर्युक्त परिस्थितिक

कारणों के अतिरिक्त अभ्यास एवं अनभ्यास (Use and disuse) का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। इस मत के विरोधियों का कहना है कि परिस्थिति आदि के कारण उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की उत्पत्ति तभी तक होती है जब तक परिस्थिति नहीं बदलती। परिस्थिति के बदल जाने पर उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ऐसे परिवर्तनों का पित्र्य-द्रव्य पर प्रायः कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

लेमार्कवादी अपने मत के समर्थन में प्रायः पौधों की उन जातियों का उदाहरण दिया करते हैं जो विरोधी परिस्थितियों में उगते हैं। दो विरोधी परिस्थितियों में पाये जाने वाले एक ही जाति के व्यक्तियों की बाह्य और आन्तर रचनाओं में प्रायः बहुत भिन्नता होती है। यदि ऐसे किसी पौधे के बीज को जो स्थल पर उगा है जल में बो दिया जाता है तो नया पौधा जलस्थ पौधे के समान होता है और जल में उगने वाले पौधों की संतान स्थल पर उगकर स्थलीय पौधों के तुल्य हो जाती है। इसी प्रकार शुष्कता या आर्द्रता, प्रकाश या छाया, और पहाड़ या मैदान में उगने वाले एक ही जाति के पौधे परिस्थिति के अनुसार अपना रूपान्तर कर लिया करते हैं। इस प्रकार की सभी जातियों के विषय में विरोधी मत वाले कहते हैं कि इनके पित्र्य-द्रव्य में दोनों विरोधी परिस्थितिओं में उत्पन्न होने वाले गुण अर्थात् उनके कारक पहले ही से मौजूद रहते हैं। जैसी परिस्थिति मिलती है उसी के अनुकूल गुणों का विकास होता है।

लेमार्कवादियों का एक प्रयोग यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कैमरर नाम के वैज्ञानिक ने सैलामाण्डर (Salamander) की दो भिन्न २ जातिओं पर प्रयोग किया। इसकी एट्रा (Atra) जाति कृष्ण वर्ण की होती है और बहुत ऊँचाई पर पाई जाती है। इसमें हरबार दो बच्चे पैदा होते हैं और इनमें बाहरी गलफड़े (Gill) नहीं होते। दूसरी जाति मैकुलोसा (Maculosa) पीली होती है और मैदानों में पाई जाती है। इसके हर बार ३०-४० बच्चे होते हैं जिनमें बाहर की ओर गलफड़ों के छिद्र पाये जाते हैं। पहले एट्रा जाति के जन्तुओं को मैदानों में लाकर पाला गया। इनमें पहली बार तीन और दूसरी बार ५-६ बच्चे पैदा हुये जिनमें गलफड़े भी मौजूद थे। बच्चों की संख्या पिछली पीढ़िओं में क्रमशः बढ़ती ही गई। फिर, मैकुलोसा जाति के जन्तुओं को शीत और शुष्क परिस्थिति में पाला गया जिससे उनके बच्चे संख्या में कम और अर्धविकसित गलफड़ों वाले पैदा हुये। आने वाली पीढ़ियों में ये परिवर्तन और भी स्पष्ट और मात्रा में अधिक होते गये।

इस प्रयोग के परिणामों से लेमार्कवादी अपने मत का समर्थन करते हैं लेकिन विरोधियों के मत से तथाकथित एट्रा और मैकुलोसा जातियाँ वस्तुतः एक ही जाति के दो भेद मात्र माने जा सके हैं जिनके पित्र्य-द्रव्य में कोई अन्तर नहीं होता।

विरोधी मतवाले इतना तो मानते हैं कि बाह्य अवस्थाओं से कभी २ पित्र्य-द्रव्य में भी परिवर्तन हो सक्ता है पर, जैसा लैमार्कवादी कहते हैं कि बाह्य अवस्थायें पहले काय-कोशाओं में परिवर्तन लाती हैं और फिर उसका प्रभाव पित्र्य-द्रव्य पर पड़ता है, ऐसा विरोधी दल वाले नहीं मानते। देखा भी गया है कि यदि कुछ पौधों के अपरिपक्व उत्पादक अवयव एक्स-किरण के प्रभाव-क्षेत्र में रखे जाते हैं तो उनसे बने हुये बीजों से जो पौधे उगते हैं वे कुछ बातों में जनक पौधों से स्पष्टतया भिन्न होते हैं। यहाँ एक्स-किरण से स्वयं पित्र्य-द्रव्य में परिवर्तन हुये विना उपर्युक्त परिणाम नहीं निकल सकता।

लैमार्क के सिद्धान्त में सबसे बड़ी कमी यह है कि इसमें ऐसी कोई विधि नहीं बतलाई गई है जिसके द्वारा काय-कोशा के परिस्थितिजन्य परिवर्तन अपना प्रभाव उत्पादक कोशाओं पर डालकर उनकी न्यष्टि-रचना में परिवर्तन ला सकें। संपरीक्षण—प्रमाणों से भी अभी तक ऐसी किसी बात का समर्थन नहीं हो सका है।

ऐसी आपत्तियों के रहने पर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि कुछ जातियों की कुछ विशेषताओं की सार्थकता समझने में यह सिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त पुरा-जैविकी के अध्ययन से पता चलता है कि उद्विकास अधिकतर उपस्थित अवयवों के रूपान्तरों से ही हुआ है सर्वथा नवीन अंगों की उत्पत्ति से नहीं।

लेमार्कवाद के विरोधियों में सबसे प्रधान वीज़मैन (Wiesman) हुये हैं जिन्होंने **'पित्र्य-द्रव्य का संतत प्रवाह'** नामक सिद्धान्त द्वारा यह मत प्रतिपादित किया था कि चूंकि अण्ड-बीजाणु (Oospore) की वृद्धि के समय उत्पादक कोशाओं की मातृ-कोशायें उन कोशाओं से पृथक् हो जाती हैं जिनसे सामान्य कायवृद्धि होती है अतः काय-कोशाओं के परिवर्तनों का प्रभाव पित्र्य-द्रव्य पर पड़ने की सम्भावना नहीं रह जाती। इनका कहना है कि पित्र्य-द्रव्य का परिवर्तन हो सक्ता है पर केवल संतानोत्पत्ति के समय यह सम्भव है। चीनी स्त्रियों के पैरों अथवा इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों के द्वारा ये लोग लेमार्क के मत का खण्डन करते हैं। वीजमैन के सिद्धान्त में भी पित्र्य-द्रव्य के पूर्ण पृथकत्व की जो

कल्पना है वह बहुत लोगों को खटकती है। चूंकि नित्य-द्रव्य भी पोषक द्रव्यों के द्वारा अपनी मात्रा वृद्धि और विभाजन करता है अतः यह विश्वास करना कठिन है कि पोषक द्रव्यों का प्रभाव भी उस पर न पड़ता होगा।

(२) डारविन का 'प्राकृतिक चुनाव' का सिद्धान्त

जीव-सृष्टि के अन्दर कई ऐसी व्यापक घटनायें घटती रहती हैं जिनके स्वाभाविक परिणामों पर विचार करने से डारविन के सिद्धान्त का निर्माण हुआ है। इन घटनाओं और इनके परिणामों का विवरण इस सिद्धान्त के निम्नलिखित पाँच अङ्गों में दिया गया है।

(१) जीव-सृष्टि में स्वाभाविक उत्पत्ति का आधिक्य (Over-production):—पेड़-पौधे और जीव-जन्तुओं दोनों में ऐसी प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है कि यदि अबाध रूप से उत्पादन होता जाय और सब संतानें जीवित रह जायं तो थोड़े ही समय में एक ही जाति के व्यक्तियों से सारी पृथ्वी भर जाय। काड नाम की मछली अत्युत्पादन का एक उदाहरण है जो एकबार में लगभग दो लाख अंडे देती है। इस व्यापक प्राकृतिक तथ्य का स्वाभाविक परिणाम दूसरी व्यापक घटना के रूप में प्रगट होता है जिसे हम जीव-सृष्टि का 'जीवन-संघर्ष' कहते हैं और जिसका विवरण इस सिद्धान्त के दूसरे अंग में दिया गया है।

(२) जीवन-संघर्ष (Struggle for existence):—चूंकि संसार में खाद्य पदार्थ और स्थान परिमित हैं इसलिये अत्युत्पादन के कारण प्राणियों में घोर संग्राम का ठन जाना अनिवार्य होता है। जीवन-संघर्ष के अनेक अन्य कारण भी होते हैं। प्राणियों में जो परजीविता (Parasitism) देखने में आती है उसके कारण भी संघर्ष चलता रहता है। कितनी बीमारियां—जैसे प्लेग आदि—परजीवी प्राणियों के कारण होती हैं। कितने पौधे परागण और बीज-विकिरण के के लिये जन्तुओं पर निर्भर करते हैं। संघर्ष का तीसरा कारण कितने ही प्राणियों की अतृप्ति एवं असंतोषजन्य अनधिकार चेष्टायें हैं जिनके कारण भिन्न २ जातियों में एक न एक युद्ध छिड़ा ही रहता है।

पारस्परिक संघर्ष के अतिरिक्त प्राणियों को प्रायः प्रकृति से भी समय २ पर युद्ध करना पड़ता है। कभी भूकम्प आता है तो कभी अकाल पड़ता है। कहीं बाढ़ आती है तो कहीं आग या तूफान से कितने जीवों का नाश होता रहता है।

वर्षा, शीत, तथा ताप आदि की चरमावस्थाओं में भी विनाश-चक्र को सहायता मिलती रहती है। इस तरह जीव-सृष्टि में भोजन के लिये, निवासस्थान के लिये तथा आराम या विलास के लिये शत्रु-शत्रु की, मित्र-मित्र की तथा प्रकृति एवं भाग्य से जीवधारियों की लड़ाई होती रहती है।

इन अनेक प्रकार के संघर्षों का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि कुछ प्राणी अपना निवास-स्थान बदल देते हैं और नये स्थानों को जाकर आबाद करते हैं जहाँ उन्हें बहुत घोर संग्राम में प्रवृत्त नहीं होना पड़ता। परन्तु इनका सब से अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि असंख्य जीवों का विनाश हो जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस संघर्ष में कौन विजयी होकर सफल जीवन व्यतीत करने में समर्थ होते हैं और कौन असफल होकर बीच ही में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रश्न का उत्तर डारविन अपने सिद्धान्त के तीसरे अंग से देता है।

(३) प्राणिओं में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य की विद्यमानता:—सृष्टि के कोई दो प्राणी एक दूसरे से पूर्णतः अभिन्न नहीं होते। एक ही माता-पिता की सन्तानों में भी विभिन्नता होती है। किसी भी जाति के प्राणियों में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य अनेक प्रकार के होते हैं। कोई व्यक्ति अधिक बलवान होता है तो कोई अधिक चतुर होता है; कोई अधिक तेज़ दौड़ सकता है तो कोई अधिक तीव्र दृष्टि वाला होता है। वनस्पतियों में भी किसी के पुष्प अधिक बड़े और आकर्षक होते हैं तो अपना परागण पहले करा लेते हैं; कोई रोगाणुओं के आक्रमण को सह सकते हैं और कोई दुर्बल होने के कारण उनके द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं। कोई शीघ्र अपनी वृद्धि करके फूल फल पैदा कर लेते हैं और कोई पिछड़े रहने के कारण फल आने के पहले ही तुषार आदि से नष्ट हो जाते हैं। अतः किसी भी परिस्थिति में पाये जाने वाले प्राणियों में अपनी २ विशेषताओं के कारण कुछ प्राणी इस संघर्ष रूपी प्रतियोगिता में अयोग्य और निकम्मे ठहरते हैं और शेष योग्य, योग्यतर, अथवा योग्यतम साबित होते हैं।

(४) योग्यतम प्राणिओं का संरक्षण और अयोग्य प्राणिओं का विनाश (Survival of the fittest and elimination of the unfit):—जीवन-संघर्ष और व्यक्तिगत वैशिष्ट्य के स्वाभाविक परिणाम के संबंध में डारविन की यह कल्पना है कि परिस्थिति के अनुकूल अपने वैशिष्ट्य के कारण जो प्राणी जीवन-संघर्ष में सफल होते हैं वे ही अपनी संतानें छोड़ जाते हैं।

परन्तु जो परिस्थिति के अनुकूल न होने के कारण नष्ट हो जाते हैं उनका वैशिष्ट्य भी उनके साथ नष्ट हो जाता है। यह हुआ प्राकृतिक चुनाव की पद्धति के द्वारा सम्पन्न होने वाला प्राणिओं का चुनाव जिसे डारविन ने उपर्युक्त युक्तियों के द्वारा जीवसृष्टि की एक स्वाभाविक घटना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। अब डारविन को इस प्राकृतिक चुनाव में उस शक्ति को सिद्ध करना रह जाता है जिसके कारण डारविन के उपर्युक्त सूक्ष्म व्यक्तिगत वैशिष्ट्य उस कोटि के बनाये जा सकें जिससे नवीन जातिओं की उत्पत्ति होती है। यह कार्य सिद्धान्त के पाँचवें अंग से होता है।

(५) वैशिष्ट्यों का संतान में पारेषण :—डारविन का कहना है कि जिन व्यक्तिगत वैशिष्ट्यों के कारण कोई व्यक्ति योग्यतम साबित होता है उनका पारेषण उसकी संतानों में भी होता है। परन्तु सब संतानों में समान मात्रा में उनका पारेषण नहीं होता, इसलिये मात्रा के अनुसार फिर केवल योग्यतम संतानों का चुनाव और संरक्षण होता है। इस प्रकार एक ही परिस्थिति में पारेष्य वैशिष्ट्यों की मात्रा प्रत्येक पीढ़ी में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। बहुत समय के बाद एक ही प्रकार का परिवर्तन एक ही दिशा में होते रहने के कारण वह रूप धारण करता है कि बाद के प्राणी अपने पूर्वजों से, जिनमें उस परिवर्तन का केवल प्रारम्भ हुआ था, बहुत भिन्न हो जाते हैं और नवीन जाति के पद पर आ जाते हैं। नवीन जातिओं की उत्पत्ति (Origin of Species) डारविन के अनुसार इसी प्रकार होती है। इस तरह डारविन प्राकृतिक चुनाव की क्रिया में उस शक्ति की कल्पना करता है जो सूक्ष्म व्यक्तिगत परिवर्तनों के लगातार संरक्षण और संग्रह से उन विशाल वैशिष्ट्यों की उत्पत्ति का कारण मान ली जाती है जिनसे नवीन जातियों की सृष्टि होती है।

डारविन का मत है कि प्राणियों के वैशिष्ट्यों में कुछ परिस्थिति के अनुकूल, कुछ उसके प्रतिकूल और कुछ तटस्थ प्रकृति के होते हैं। जिस तरह प्राकृतिक चुनाव से अनुकूल वैशिष्ट्यों का चुनाव और संरक्षण होता है उसी प्रकार इससे प्रतिकूल वैशिष्ट्यों का क्रमशः लोप भी हो जाता है। अन्य प्रकार के वैशिष्ट्यों पर प्राकृतिक चुनाव का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और संतानों में उनका बराबर पारेषण होता रहता है। जीव-सृष्टि में प्रत्येक जीवधारी में अपनी परिस्थिति के प्रति जो अद्भुत सानुरूपता देखने में आती है उसे समझने में लेमार्क के सिद्धान्त की अपेक्षा डारविन का सिद्धान्त अधिक उपयोगी प्रतीत होता है।

लेमार्क केवल समायोजन की कल्पित शक्ति को अपने सिद्धान्त का एक मात्र आधार बनाता है परन्तु डारविन का प्राकृतिक चुनाव किसी भी प्रकार से उत्पन्न परिवर्तनों का संरक्षण और मात्रा-वृद्धि भी करता जाता है जिससे नवीन जातियों की उत्पत्ति में प्राकृतिक चुनाव अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है। लेमार्क और डारविन के सिद्धान्तों में दूसरा अन्तर यह है कि लेमार्कवाद परिस्थिति, अभ्यास तथा अनभ्यास को ही परिवर्तन की उत्पत्ति का कारण बतलाता है और इन परिवर्तनों को पारेष्य बतलाकर पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी मात्रावृद्धि की कल्पना करता है। डारविन, इसके विपरीत, परिवर्तनों की प्रारम्भिक उत्पत्ति के कारणों का विचार किये बिना प्राकृतिक चुनाव द्वारा उनके संरक्षण और मात्रावृद्धि का व्यावहारिक उपाय भी बतलाता है।

जिराफ नामक जन्तु का क्रमविकास दोनों मतों के अनुसार भिन्न २ तरह से समझाया जा सकता है। लेमार्कवादी कहते हैं कि जिराफ के पूर्वजों को ऐसी परिस्थिति में रहना पड़ा जहां वृक्ष बहुत ऊंचे होते थे। अतः उन्हें पत्ती आदि के लिये अपनी गर्दनों को बार २ उठाना पड़ता था। इस अभ्यास से उनकी गर्दनें पीढ़ी दर पीढ़ी क्रमशः लम्बी होती गई और अन्त में बहुत बड़ी गर्दन वाले जिराफ की उत्पत्ति हुई। डारविन के समर्थकों का कहना है कि लम्बी गरदन की विशेषता का प्राकृतिक चुनाव द्वारा संरक्षण और मात्रावृद्धि होने से ही जिराफ जाति की उत्पत्ति हुई होगी।

प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के प्रति आपत्तियाँ:—इस सिद्धान्त के प्रति सबसे बड़ी आपत्ति यह खड़ी की जाती है कि जिन व्यक्तिगत परिवर्तनों को प्राकृतिक चुनाव का आधार माना जाता है वे संतानी (Continuous) और सूक्ष्म होते हैं, इसलिये प्राकृतिक चुनाव द्वारा उनका पृथक्करण और चुनाव किसी उग्र जीवन-संघर्ष में सम्भव और कार्यकर होता होगा, यह समझना कठिन है। इसके अतिरिक्त डारविन के सूक्ष्म परिवर्तन अधिकतर लेमार्क के परिस्थितिजन्य रूपान्तरों की ही श्रेणी के होते हैं, जिनका पारेषण ही मान्य नहीं है। जोहान्सन (Johannsen) के प्रयोगों से यह मालूम होता है कि इन परिवर्तनों पर प्राकृतिक चुनाव का बहुत कम, परिमित अथवा कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस सिद्धान्त के प्रति दूसरी शंका यह की जाती है कि अङ्गों के क्रमविकास में अनेक प्रकार के परिवर्तनों का एक साथ, एक ही दिशा में और एक ही

लक्ष्य से विकसित होना अनिवार्य मालूम होता है और इस बात को इस सिद्धान्त से समझना कठिन मालूम होता है। इनके अतिरिक्त अनेक प्राणिओं में कुछ अनुपयोगी अवयवों की उपस्थिति पाई जाती है। उनकी उत्पत्ति और पीढ़ी दरपीढ़ी बने रहने के विषय में इस सिद्धान्त से कोई उपयुक्त उत्तर नहीं मिलता।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्राकृतिक चुनाव जातियों की उत्पत्ति में एक सहायक कारण माना जाता है लेकिन इसको नवीन जातियों की उत्पत्ति का एक प्रधान कारण मानना बड़ी भूल है क्योंकि जिन स्थूल और स्थायी वैशिष्टयों से अन्ततः जातियों का पृथक्करण होता है उनके संरक्षण और मात्रावृद्धि में प्राकृतिक चुनाव भले ही कार्यकर हुआ हो, पर उनकी उत्पत्ति का विचार इस सिद्धान्त में नहीं है। लेमार्कवाद के विषय में भी कहा जा सकता है कि चाहे यह सिद्धान्त जातियों को पृथक् करने वाले स्थूल वैशिष्टयों के विकास (व्यक्तिगत जीवन-काल में) का कारण भले ही बतलावे और नवीन जातिओं की उत्पत्ति में एक सहायक कारण भले ही मान लिया जाय पर उपर्युक्त वैशिष्टयों का वास्तविक स्वरूप क्या होता है उसे बतलाने में यह असमर्थ सिद्ध होता है।

(३) डी ब्रीज़ का सिद्धान्त—प्राकृतिक चुनाव की उपर्युक्त कठिनाइयों को देखकर कुछ वैज्ञानिकों ने नवीन जातिओं के प्रश्न को दूसरी तरह से सुलझाने का प्रयत्न किया जिससे डी ब्रीज़ का सिद्धान्त निकला। इस सिद्धान्त के अनुसार जिन वैशिष्टयों के कारण पूर्वज जाति के कुछ व्यक्तिओं को नवीन जाति का पद प्राप्त होता है वे उनमें अकस्मात् प्रगट होते हैं। उनकी उत्पत्ति न तो प्राकृतिक चुनाव के संतत संरक्षण और मात्रावृद्धि से होती और न तो उनकी उत्पत्ति में परिस्थिति का ही एक मात्र हाथ होता है। इसीलिये इस सिद्धान्त को **'असन्तानी (आकस्मिक) वैशिष्ट्य** (Mutation)' का सिद्धान्त कहते हैं। यद्यपि जीव-सृष्टि में इन असंतानी वैशिष्टयों की प्रचुरता और महत्त्व पर बेटसन (Bateson) नामक वैज्ञानिक भी की दृष्टि गई थी पर क्रम-विकास में इनके महत्त्व को प्रायोगिक आधार पर प्रस्थापित करना पहले पहल डी ब्रीज का ही कार्य था।

यह अनेक जातियों के असंख्य पौधों को इस आशा से लगाता रहा कि उसे इसके साक्षात् प्रमाण मिलें। अन्त में उसे सफलता भी मिली। उसे (Oenothera lamarckiana) नाम की एक ऐसी जाति मिली जिसके अन्दर ऐसे वैशिष्टयों की साक्षात् उत्पत्ति देखने में आई। अब यह धारणा प्रबल होने लगी

कि नवीन जातियों की उत्पत्ति सर्वत्र इसी प्रकार होती होगी। इस सिद्धान्त को सब से अधिक बल मेंडल के प्रयोगों से मिला। मेंडल के सिद्धान्त का जितना ही अधिक स्पष्टीकरण और विकास होता गया उतना ही डी ब्रीज़ का सिद्धान्त भी परिपुष्ट होता गया। मेंडल के सिद्धान्त के प्रकाश में इसका जैसा स्वरूप स्थिर होता है उसकी चर्चा आगे की गई है।

अन्त में इतना कहना पड़ता है कि प्राणियों में अपनी २ परिस्थिति के प्रति जो अद्भुत सानुरूपता दिखाई देती है वह इस सिद्धान्त से ठीक २ समझ में नहीं आती। कुछ लोगों का कहना है कि इस तरह उत्पन्न होने वाली नवीन जातियाँ या तो ऐसे स्थानों को ही आबाद करती हैं जिनमें उनके नवीन परिवर्तन उपयोगी होते हैं या अनुकूल परिस्थिति न पाने पर वे नष्ट हो जाती हैं। इनके विनाश और संरक्षण में प्राकृतिक चुनाव का भी हाथ रहता है इसे डी ब्रीज़ भी अस्वीकार नहीं करते।

पित्रागति (Heredity)

जिस क्रिया में पित्र्य गुणों (वैशिष्ट्यों) का संतान में पारेषण होता है उसे पित्रागति कहते हैं। पित्रागति के ही कारण जनक और जात (संतान) में सादृश्य होता है। जनक और जात के बीच जैसे सादृश्य होता है उसी तरह उनमें भिन्नता की मात्रा भी कम नहीं होती। उद्विकास के लिये पित्रागति और विभेदन दोनों ही आधारभूत अवस्थायें मानी जाती हैं। इन्हें समझने की चेष्टा पहले पहल मेंडल नामक एक सन्यासी वैज्ञानिक ने किया था और अपने प्रयोगों के आधार पर उसने जिस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया वह आजतक स्वीकार किया जा रहा है। मेंडल की प्रयोग-पद्धति और सिद्धान्त को अपना कर, आज तक जितने भी प्रयोग हुए हैं उनसे पित्रागति और विभेदन की समस्याओं का अधिकाधिक स्पष्टीकरण होने के अतिरिक्त उद्विकास की विधि पर भी बहुत प्रकाश पड़ा है जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

मेण्डल के प्रारम्भिक प्रयोगः—मेण्डल ने जिन प्रयोगों के परिणामों के आधार पर अपना सिद्धान्त बनाया था वे मटर के पौधों पर किये गये थे। मटर जाति के अन्दर उसे ऐसे कई भेद मिले जिनके विभेदक गुण बहुत स्पष्ट और स्थायी कोटि के थे। किसी भेद में पुष्प लाल और किसी में सफेद, किसी के बीज पत्र हरे और किसी के पीले, किसी का बीजावरण चिकना और किसी का शिकनदार और किसी का क़द छोटा और किसी का बड़ा होता था। प्रयोग के लिए

मटर के ही भेदों को लेने में लाभ यह था कि इनमें नियमतः स्वयं-परागण से ही पुनरुत्पत्ति होती थी जिससे विशुद्ध व्यक्तियों का मिलना आसान था और दो भेदों से उत्पन्न संकरज पौधों में बंध्यत्व का दोष नहीं आता था। उसने पहले इन भेदों में वैकल्पिक गुणों (Alternative characters) की जानकारी हासिल की और दो २ वैकल्पिक गुणों के जोड़े बना लिया जिन्हें उसने **भिन्नयुग्म** (Allelomorph) का नाम दिया। किसी भिन्नयुग्म के केवल एक गुण से युक्त व्यक्तियों को उसने उस गुण के लिये **विशुद्ध** (Pure) अथवा **युग्मैकगुण** (Homozygous) और दोनों वैकल्पिक गुणों से युक्त व्यक्तियों को **युग्मोभयगुण** (Heterozygous) या **संकरज** (Hybrid) की संज्ञाओं से संबोधित करना प्रारम्भ किया। जिन व्यक्तिओं की आत्म-परागण से उत्पन्न होने वाली संतानें हर पीढ़ी में किसी गुणविशेष में एक समान होती थी उन्हें उस गुण के लिये शुद्ध और शेष को संकरज माना जाने लगा। किसी भी भिन्नयुग्म के एक २ गुणों से युक्त दो भेदों के बीच कृत्रिम विधि से प्रसंकरण करा के कई (कम से कम तीन) पीढ़िओं तक उत्पन्न होने वाले व्यक्तिओं की जब उसने परीक्षा की तो उसे हरबार एक ही तरह के परिणाम मिले।

उसने पहले एक छोटी कद वाले और एक बड़ी कद वाले दो व्यक्तिओं के बीच अपर-परागण कराया। इनसे पहली पीढ़ी में जितनी संतानें हुई सब बड़ी कद वाली थीं। इन बड़ी कद वाले पौधों का उसने फिर आत्म-परागण कराया और इनसे दूसरी पीढ़ी में जो सन्तानें हुई उनमें दोनों प्रकार के व्यक्ति थे। परन्तु बड़ी कद वाले पौधों की संख्या छोटे कद वाले पौधों से लगभग तीन गुनी थी। उसने फिर इन पौधों का स्वयं-परागण कराया। इस बार छोटे पौधों की सब संतानें छोटी कद की हुई पर बड़ी कद वाले पौधों की संतानों में भिन्नता थी। तीन में केवल एक ही संतानें बड़ी कद वाली हुई पर शेष दो की सन्तानों में फिर वही तीन और एक का अनुपात देखने में आया। मेण्डल ने फिर ऐसा ही प्रयोग दूसरे भिन्न-युग्म को दृष्टि में रखकर किया। जब उसने लाल और सफेद फूल वाले भेदों को लेकर देखा तो पहली पीढ़ी में केवल लाल फूल वाले पौधे और दूसरी पीढ़ी में लाल और सफेद फूल वाले पौधे तीन और एक के अनुपात से प्राप्त हुये।

इन प्रयोगों में प्रत्येक भिन्न-युग्म के जिस गुण का विकास पहली पीढ़ी की संतानों में हुआ था उसे उसने **प्रभवद्-गुण** (Dominant character)

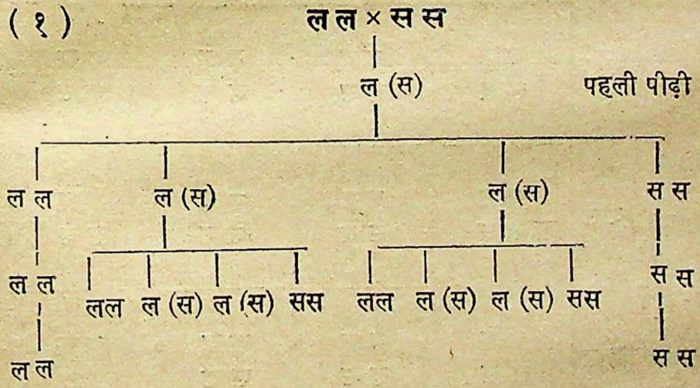
और दूसरे को **पश्चापसारी** (Recessive) गुण का नाम दिया। यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि मेण्डल के बाद के प्रयोगों में कहीं २ पहली पीढ़ी में प्रभवद्-गुण का पूर्ण विकास नहीं होता था। जैसे, गुलावाँस के लाल और सफेद फूल वाले भेदों के प्रसंकरण से गुलावी फूल वाले पौधे उत्पन्न होते थे और दूसरी पीढ़ी में लाल, गुलावी और सफेद फूल वाले व्यक्ति क्रमशः एक-दो-एक के अनुपात में होते थे।

मेंडल ने अब उपर्युक्त प्रयोगों के परिणामों पर विचार किया और कुछ कल्पनायें की। उसने निषेचन में भाग लेने वाले जन्युओं (Gametes) में ऐसे **कारकों** (**Factors**) के उपस्थित होने की कल्पना की जिनसे विभिन्न गुणों की उत्पत्ति होती है। उसकी दूसरी महत्वपूर्ण कल्पना यह थी कि किसी जन्यु में किसी भिन्न-युग्म का एक ही कारक रह सकता है। इस कल्पना के अनुसार किसी व्यक्ति में किसी भिन्न-युग्म के दोनों कारक रह सकते थे पर जन्युओं के निर्माण के समय प्रभवत्-गुण और पश्चापसारी गुणों के कारकों का पृथक्करण अनिवार्य माना गया।

इन कल्पनाओं के आधार पर उसने ऊपर के प्रयोग-सिद्ध परिणामों की जाँच की। चूंकि प्रयोग के प्रारंभ में उसने ऐसे व्यक्तियों को जांच कर लिया था जो अपनी २ विशेषताओं (गुणों) के लिये विशुद्ध थे अतः उनके सब जन्युओं में भिन्नयुग्म की किसी एकही विशेषता के कारक रहे होंगे। अर्थात्, मातृपक्ष के सब जन्यु भिन्नयुग्म के एक कारक से और पितृपक्ष के सब जन्यु उसके दूसरे कारक से सम्पन्न रहे होंगे। इसलिये निषेचन के समय इन भिन्नगुणी जन्युओं के संयोग से केवल युग्मोभयगुणी संतानों की उत्पत्ति हुई होगी। परन्तु, चूंकि भिन्नयुग्म के दोनों कारकों के रहने पर विकास केवल प्रभवद्-गुण के कारकों का होता है, इसलिये पहली पीढ़ी की सब संतानें केवल प्रभवद्-गुण वाली मालूम हुईं। पहली पीढ़ी में सभी सन्तानें लम्बी कदवाली या लाल फूल वाली इसीलिये दिखाई दीं। यहाँ इस बात का ध्यान रखना होगा कि यद्यपि जनक-व्यक्तियों में भी एक लम्बी कद वाला या लाल फूल वाला था पर वह अपनी विशेषता के लिये विशुद्ध या युग्मैकगुण था और इस पीढ़ी के व्यक्ति वाहर से समानगुण मालूम होने पर भी वस्तुतः युग्मोभयगुण थे। जब इन युग्मोभयगुण व्यक्तियों में जन्युनिर्माण हुआ होगा तो दोनों प्रकार के जन्युओं की सृष्टि हुई होगी। आधे जन्यु प्रभवद्-गुण के कारक से और आधे जन्यु पश्चापसारी गुण के कारक से युक्त रहे होंगे। मान लिया

कि पितृपक्ष के चार जन्युओं में दो जन्यु बड़ी क़द के कारक से और दो जन्यु छोटी कद के कारक से युक्त थे। इसी तरह मातृपक्ष के दो जन्युओं में बड़ी क़द के कारक और दो में छोटी कद के कारक रहे होंगे। यदि हर प्रकार के पुं-जन्युओं को हर प्रकार के स्त्री-जन्युओं से मिलकर निषेचन करने का समान अवसर मिले तो चार संन्तानों में तीन को बड़ी क़द वाली और एक को छोटी क़द का होना चाहिये। लम्बी क़द की तीन संतानों में भी एक ऐसी होगी जिसमें केवल बड़ी क़द के कारक होंगे और शेष दो में भिन्नयुग्म के दोनों कारक होंगे। उपर्युक्त परिणामों को नीचे दो बिन्दुरेखीय निरूपणों (Graphic representantion) द्वारा दिखाया गया है। इनमें कारकों को संकेताक्षरों के द्वारा व्यक्त किया गया है। बड़ी क़द के कारक के लिये 'ब', वैकल्पिक कारक के लिये 'छ', लालफूलों के कारक के लिये 'ल' और सफेद फूल वाले कारक के लिये 'स' संकेताक्षरों का उपयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त युग्मोभयगुण सन्तानों के पश्चापसारी कारकों का विकास न होने के कारण उनके संकेताक्षर अभिवार युग्म में रखे गये हैं।

(१)



(२)

	२♂ब	२♂छ
२♀ब	बब	ब (छ)
२♀छ	ब (छ)	छछ

दो भिन्नयुग्मों के पारेषण में संतानों का अनुपात:–उपर्युक्त प्रयोगों में दो भिन्नयुग्मों को दृष्टि में रख कर उनके परिणामों की जांच की जाती है तो वे भी उपर्युक्त कल्पनाओं के अनुसार घटते हैं। जब बड़ी क़द और लाल पुष्प वाले विशुद्ध व्यक्तियों के साथ छोटी क़द और सफ़ेद फूल वाले व्यक्तियों का प्रसंकरण कराया जाता है तो प्रथम पीढ़ी की संतानें लाल फूल और बड़ी क़द वाली होती हैं। दूसरी पीढ़ी में ऊपर से देखने में चार प्रकार की संतानें होती हैं जिनमें ९ बड़ी और लाल फूल वाली, ३ बड़ी और सफ़ेद फूल वाली, ३ छोटी और लाल फूल वाली और एक छोटी तथा सफ़ेद फूल वाली होती है। इस प्रयोग में, चूंकि पहली पीढ़ी के दोनों पक्षों में चार २ प्रकार (बल, बस, छल और छस) के जन्युओं की उत्पत्ति हुई होगी, इसलिये इनके मिलने से सोलह गुण-संयोग हुये होंगे। इनके पित्र्य-द्रव्य का संघटन निम्नांकित निरुपण द्वारा दिखाया जा सक्ता है :—

पुं–जन्यु

स्त्री-जन्यु	ब ल	ब स	छ ल	छ स
ब ल	ब ब ल ल	ब ब ल स	ब छ ल ल	ब छ ल स
ब स	ब ब ल स	ब ब स स	ब छ ल स	ब छ स स
छ ल	ब छ ल ल	ब छ ल स	छ छ ल ल	छ छ ल स
छ स	ब छ ल स	ब छ स स	छ छ ल स	छ छ स स

ऊपर के निरूपण में १६ गुण–संयोग दिखाये गये हैं। ९ प्रकोष्ठों में दोनों भिन्नयुग्मों के कम से कम एक २ प्रभवद्–गुण कारक हैं अतः ९ संतानें दोनों

प्रभवद्-गुणों से युक्त होंगी अर्थात् बड़ी और लाल फूलों वाली होंगी। इनमें भी एक, जिसके पित्र्य-द्रव्य का संघटन ब ब ल ल है, दोनों प्रभवद्-गुणों के लिये विशुद्ध होगी और शेष आठ में दो का पित्र्य-द्रव्य ब ब ल स, दो का ब छ ल ल और ४ का ब छ ल स संघटन वाला होगा। तीन बड़ी और सफेद फूलों वाली सन्तानों में दो के पित्र्य-द्रव्य का संघटन ब छ स स और एक का ब ब स स होगा। इसी तरह तीन छोटी लाल फूलों वाली सन्तानों में दो का संघटन छ छ ल स और एक का छ छ ल ल होगा। सोलहवीं सन्तान के पित्र्य-द्रव्य का संगठन छ छ स स होगा। इससे यह मालूम हुआ कि सोलह सन्तानों में कुल ६ प्रकार (पित्र्य-द्रव्य के संघटन की दृष्टि से) की संतानें होती हैं जिनमें दो का पित्र्य-द्रव्य दो जनक-व्यक्तियों के समान होता है और दो सन्तानें ऐसी होती हैं जो दोनों गुणों के लिये विशुद्ध होती हैं अर्थात् इनमें दो नये विशुद्ध भेद उत्पन्न होते हैं। शेष पाँच प्रकार की सन्तानें संकरज होती हैं। प्रसंकरण की विधि से नवीन विशुद्ध भेदों की उत्पत्ति कैसे होती है इस प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। व्यवहार में भिन्न २ उपयोगी गुणों से युक्त दो भेदों के प्रसंकरण से ऐसे नवीन शुद्ध भेद-जिनमें दोनों उपयोगी गुण आ जाँय—इसी तरह कृत्रिम चुनाव और प्रसंकरण के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं।

पित्रागति के भौतिक आधार पित्र्य-सूत्रः—मेण्डल ने केवल अपने प्रयोगों के प्रत्यक्ष परिणामों को देखकर कुछ कल्पनाओं के द्वारा अपने सिद्धान्त की रचना किया था। उसे गुणों के पारेषण की वास्तविक विधि एवं पित्रागति की रचनात्मक योजना (Mechanism) का ज्ञान नहीं था। परन्तु बाद में यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया कि पारेष्य गुणों का संवहन पित्र्य-सूत्रों द्वारा होता है। मेण्डल ने भिन्न २ गुणों के लिये भिन्न २ कारकों के होने का अनुमान किया था और अपने प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित किया था कि इन कारकों का पारेषण स्वतन्त्र रूप से होता है। परन्तु इन कारकों का स्वरूप क्या होता है और कहाँ रहते हैं इस पर मेण्डल ने विचार नहीं किया था। जब पित्र्य-सूत्रों के द्वारा गुणों के कारकों का संवहन होना सिद्ध हुआ तो पित्र्य-सूत्रों को इन कारकों की शृङ्खलायें बतलाया गया। इन कारकों को समय २ पर कई नाम दिये गये जिनमें सबसे प्रचलित नाम **पैत्र्यक** (Gene) है जो आजतक व्यवहार में आता है। इनकी भौतिक एवं रासायनिक रचना के सम्बन्ध में अभी तक कोई निर्णय नहीं हो

सका है और न तो इसे अब तक प्रत्यक्ष देखा ही जा सका है। इन्हें हम प्रस के अत्यन्त सूक्ष्म और विशिष्ट प्रकार के कण मान ले सकते हैं जो किसी प्राणी की शारीरिक वृद्धि और विकास का नियमन करते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी जाति एवं व्यक्ति के विभेदक लक्षणों (गुणों) की उत्पत्ति में ये ही कारण माने जाते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जन्तुओं को माध्यम बनाकर पहुंचते हैं। पित्र्य-गुणों का विकास कभी एक पैत्र्यक पर और कभी कई पैत्र्यकों के एकत्र होने पर निर्भर करता है। यह भी सम्भव है कि एक ही पैत्र्यक कई गुणों के विकास में भाग लेता हो।

अब पित्रागति और पित्र्य-सूत्रों के उपर्युक्त सम्बन्ध को प्रयोग-सिद्ध परिणामों से मिलाना आवश्यक है। किसी व्यक्ति की काय-कोशाओं में एक तरह के दो दो पित्र्य-सूत्र एक साथ रहते हैं। प्रत्येक जोड़े का एक सूत्र मातृ-पक्ष से और दूसरा पितृ-पक्ष से आया हुआ रहता है। काय-कोशाओं के सामान्य विभाजन में प्रत्येक पित्र्य-सूत्र के दो समान खण्ड हो जाते हैं जिनमें एक खण्ड एक संतति-कोशा में और दूसरा खण्ड दूसरी संतति-कोशा में जाता है। इसलिये काय-कोशाओं में कहीं भी पित्र्य-सूत्रों और पैत्र्यकों की संख्या में भिन्नता नहीं होती। इनके न्यष्टि भी इसीलिये द्वि-गुण (Diploid) कहे जाते हैं। खण्ड-प्रजनन में, जहाँ सामान्य कोशा-विभाजन से ही पुनरुत्पत्ति होती है, इसी लिये जनक और संतान में गुण-वैषम्य नहीं देखा जाता। लैंगिक प्रजनन में भिन्न अवस्था देखने में आती है। जन्तुओं के निर्माण के पूर्व मातृ-कोशाओं में एक बार ह्रास-भाजन होता है जिसमें पितृ-पक्षीय सूत्र मातृ-पक्षीय सूत्रों से पृथक् होकर भिन्न २ संतति-कोशाओं में चले जाते हैं जिससे इनमें पित्र्य-सूत्रों और पैत्र्यकों की संख्या आधी हो जाती है और इन्हीं से अन्ततः सामान्य विभाजन के द्वारा जन्तुओं की उत्पत्ति होती है। जन्तुओं में भिन्नयुग्मों के वैकल्पिक पैत्र्यकों के पृथक्करण की जो महत्वपूर्ण कल्पना की गई थी वह यहाँ कौशिकीय प्रमाणों के द्वारा सत्य सिद्ध हो जाती है। पैत्र्यकों के आचरण के सम्बन्ध में भी जो २ अनुमान किये गये, पित्र्य-सूत्रों के व्यवहार में वे सब क्रमशः प्रत्यक्ष होते गये।

मेंण्डल के सिद्धान्त का विस्तरण और परिवर्धनः—मेण्डल ने प्रभवद्-गुण और पश्चापसारी गुणों के लिये भिन्न२ कारकों (पैत्र्यकों) की कल्पना की थी परन्तु बाद के कई वैज्ञानिकों ने प्रभवद्-गुणोत्पादक पैत्र्यक के अभाव (Absence) को ही पश्चापसारी गुण का कारण माना था। जन्तुओं में भिन्नयुग्म के दोनों वैकल्पिक

पैत्र्यकों के एक साथ न पाये जाने का कारण इस मत से बहुत स्पष्ट हो जाता है। बाद के अध्ययनों से यह भी मालूम हुआ कि गुणों में अधिक गुण ऐसे होते हैं जिनका विकास एक से अधिक पैत्र्यकों पर निर्भर करता है। किसी वंश-परम्परा में गुणों का जो **प्रत्यावर्तन** (Reversion) देखने में आता है उसका कारण प्रायः गुणों के वहु-पैत्र्यक प्रकृति में ही होता है। जब पूर्वजों में पाये जाने वाले किसी गुणविशेष का विकास बहुत पीढ़िओं के बाद किसी वंशज में होता है तो इस अवस्था को प्रत्यावर्तन कहते हैं। जब किसी गुण के भिन्न २ पैत्र्यक किसी समय अलग हो जाते हैं तो वह गुण लुप्त हो जाता है परन्तु यदि संयोगवश प्रसंकरण के क्रम में ये पैत्र्यक फिर एकत्र हो जाते हैं तो उस गुण का प्रत्यावर्तन हो जाता है। मनमाने ढङ्ग से प्रसंकरण होने पर ऐसे व्यक्ति, जो किसी पश्चापसारी गुण के लिये विशुद्ध कहे जा सकते हैं, प्रायः कई पीढ़ियों के बाद उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था भी प्रत्यावर्तन की ही अवस्था कही जाती है।

कहीं २ यह देखने में आता है कि एक से अधिक प्रभवद्-गुणों का (उनके वैकल्पिक गुणों का भी) साथ २ विकास होता है अर्थात् किसी व्यक्ति में वे एक दूसरे के न रहने पर विकसित नहीं होते। इसके विपरीत, कहीं २ कई प्रभवद्-गुणों का एक व्यक्ति में एक साथ विकास नहीं होता। इन दोनों अवस्थाओं को क्रमशः गुणों की **'ग्रथनावस्था या संवद्धता** (Linkage)**' और 'अपकर्षणावस्था अपासनावस्था या अवद्धता** (Repulsion)' कहते हैं। पहली अवस्था के उत्पन्न होने का कारण यह है कि जिन गुणों को उत्पन्न करने वाले पैत्र्यक एक ही पित्र्य-सूत्र में गुँथे हुये रहते हैं वे तो सामान्यतः कभी पृथक् नहीं हो सकते। दूसरीअवस्था केउत्पन्न होने का कारण यह बतलाया जाताहै कि किसी २ जातिविशेष के लिये दो विशेष कारकों का एकत्र होना ही घातक (Lethal) हो जाता है।

संवद्धता कभी तो पूर्ण और कभी अपूर्ण होती है। जैसे, मटर में नीले आभ्यन्तरदल और लम्बे पराग-कणों के पैत्र्यक एक ही पित्र्य-सूत्र में रहते हैं इसलिये इनमें सामान्यतः संवद्धता देखी जाती है। पर यह संवद्धता पूर्ण नहीं होती, क्योंकि कभी २ कुछ व्यक्ति ऐसे भी पाये जाते हैं जिनमें दोनों गुण एक साथ नहीं रहते। इसका कारण यह बतलाया गया है कि भिन्न २ गुणों के पैत्र्यक पित्र्य-सूत्रों के भिन्न २ भागों में होते हैं इसलिये जब कभी प्रहास-भाजन के समय सूत्र-युग्म के दोनों सूत्रों में खण्ड-विनिमय हो जाता है (जैसा कि पृष्ठ १२९ पर बतलाया

गया है) तो परस्पर संबद्ध पैन्यकों का पृथक्करण हो जाता है और वे भिन्न २ संतति-कोशाओं में चले जाते हैं। इस अवस्था को **परोपगमन** (Crossing-over) की अवस्था कहते हैं परोपगमन की सम्भावना भी कहीं अधिक, कहीं कम और कहीं बहुत ही कम या नहीं के बराबर होती है। इसका कारण परस्पर सम्बद्ध पैन्यकों की दूरी बतलाई गई है। ऐसे पैन्यक पित्र्यसूत्र में एक दूसरे के जितने ही समीप होते हैं उनके पृथक् होने की सम्भावना उतनी ही कम और जितने ही दूर होते हैं उतनी ही अधिक होती है। ऊपर की पंक्तियों से यह विदित होता है कि यदि किसी जाति के समस्त पित्र्य गुणों का अध्ययन हो जाय और भिन्न २ गुणों की संबद्धता आदि अवस्थाओं का पूरा पता मिल जाय तो उस जाति में पित्र्य-सूत्रों की संख्या तथा प्रत्येक में भिन्न २ पैन्यकों के स्थान भी निश्चित किये जा सकते हैं। ड्रोसोफिला (Drosophila) नामक मक्षिका प्रजाति में ऐसा प्रयत्न सफल भी हुआ है।

पित्रागति के नियमों की व्यवहारोपयोगिता:—जब मेण्डल की प्रयोग पद्धति से किसी जाति के भिन्न २ भेदों के पारेप्य गुणों और उनके भिन्नयुग्मों की जानकारी हो जाय तो भिन्न २ भेदों के प्रसंकरण से नये अभीष्ट भेद उत्पन्न किये जा सकते हैं। जैसे, यदि किसी भेद में दो गुण ऐसे हैं जिनमें एक उपयोगी और दूसरा अनुपयोगी या अवांछित है और दूसरे भेद में भी ऐसे ही दो वांछित और अवांछित गुण हैं तो इन दोनों के प्रसंकरण से दोनों अभीष्ट गुणों से सम्पन्न तीसरे नवीन भेद को उत्पन्न किया जा सकता है। इस तरह की आजकल कितनी ऐसी संस्थायें हैं जिनमें अभीष्ट गुणों से युक्त घोड़े आदि जन्तुओं तथा गन्ना एवं गेहूं आदि खाद्योपयोगी उद्भिज्ज-जातियों की नई २ नस्लें कृत्रिम प्रसंकरण द्वारा पैदा की जा रही हैं।

पित्रागति सम्बन्धी खोजों से विकासविधि पर प्रकाश:—पहले बतलाया गया था कि डी व्रीज़ द्वारा प्रतिपादित 'आकस्मिक वैशिष्ट्यों' के सिद्धान्त को मेण्डल द्वारा चलाये हुये पित्रागति-शास्त्र से बहुत बल मिला था और मुख्यतः आकस्मिक वैशिष्ट्यों द्वारा नवीन जातियों की उत्पत्ति सम्भव मानी जाने लगी थी। मेण्डल के प्रसंकरण सम्बन्धी प्रयोगों में यह देखा गया है कि गुणों के नये २ मेलों से नवीन भेदों की उत्पत्ति सम्भव होती है। परन्तु चूंकि ऐसे भेदों में किन्हीं नवीन गुणों की वस्तुतः उत्पत्ति नहीं होती इसलिये डी व्रीज़ के सिद्धान्त को इस घटना से पर्याप्त और सन्तोषजनक समर्थन नहीं मिलता। परन्तु जब इन नये

मेलों से ऐसे व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है जैसे पहले कभी भी नहीं हुये थे तो ऐसे व्यक्तियों को नवीन भेद या जाति मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। ऐसा देखा जाता है कि कभी २ किसी २ पित्र्य-सूत्र के खण्ड अलग हो जाते हैं जो या तो अलग ही रहते हैं या दूसरे पित्र्य-सूत्र या उनके खण्डों से मिलकर एक हो जाते हैं। इन अवस्थाओं में जब प्रहास-भाजन होता है तो कुछ जन्तुओं में पैत्र्यकों की संख्या घट जाती है और कुछ में बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि इनसे ऐसे व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है जैसे वंश के इतिहास में पहले कभी नहीं हुये थे। कभी २ जन्तुओं में पित्र्य-सूत्र द्विगुण अथवा त्रिगुण (Triploid) भी हो जाते हैं जिससे त्रिगुण, चतुर्गुण (Tetraploid) अथवा बहुगुण (Polyploid) सन्तानों की उत्पत्ति सम्भव हो जाती है। ऐसी सन्तानें भी अपने वंश के इतिहास में प्रायः नवीन ही मालूम होती हैं अतः नवीन भेद या जाति का पद प्राप्त कर लेती हैं। कुछ जातियों की उत्पत्ति का यही निश्चित कारण माना जाता है।

डी व्रीज़ के सिद्धान्त की वास्तविक पुष्टि ऐसे लोगों ने की है जो सर्वथा नवीन पैत्र्यकों के उत्पन्न होने का प्रमाण देते हैं। इनका कहना है कि पित्र्य-सूत्रों के किसी २ भाग में ऐसे निश्चित परिवर्तन (सम्भवतः रासायनिक) होने के प्रमाण मिले हैं जिनके कारण ऐसे पैत्र्यकों की उत्पत्ति होती है जो सर्वथा नवीन होते हैं अथवा उपस्थित पैत्र्यकों के रूपान्तर से उत्पन्न होते हैं। इस तरह के परिवर्तन बहिः प्रेरित (एक्स-किरण आदि के द्वारा) अथवा अन्तःप्रेरित (Spontaneous) दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

जाति-विभेदक गुणों की उत्पत्ति के कारणों का जैसा स्पष्टीकरण पित्रागति के नियमों द्वारा हुआ है उसे देखते हुये इतना तो कहना ही पड़ता है कि नवीन जातियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डी व्रीज़ का सिद्धान्त एक सार्वभौम सिद्धान्त के रूप में भले ही न माना जाय, पर अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा यह अधिक कार्यकर एवं मान्य प्रतीत होता है। डारविन के 'प्राकृतिक चुनाव' का सिद्धान्त इस अर्थ में कार्यकर माना जा सक्ता है कि प्राकृतिक चुनाव के द्वारा प्रकृति में अनुकूल गुणों का संरक्षण और प्रतिकूल गुणों का लोप होता रहता है। लैमार्कवाद के विषय में पहले ही बतलाया गया था कि चाहे व्यक्तिगत जीवन-काल में पैत्र्यकों का समुचित विकास करने में परिस्थिति का हाथ भले ही हो, पर उनकी उत्पत्ति और विकास में परिस्थिति तथा अभ्यास आदि एकमात्र कारण नहीं माने जा सक्ते।

परिशिष्ट

सपुष्प वनस्पतियों का वैज्ञानिक विवरण

पौधों के वैज्ञानिक विवरण के द्वारा उनके स्वरूप का पूर्ण परिचय कराया जा सकता है अतः इसका अभ्यास प्रत्येक विद्यार्थी के लिये आवश्यक है। इसमें भिन्न २ वर्धि-कायिक और उत्पादक अंगों का वर्णन पृथक् २ और एक निश्चित क्रम में किया जाता है। यद्यपि विभिन्न अंगों के प्रकारान्तरों का परिचय अधिकतर पारिभाषिक शब्दों में कराया जाता है तथापि किसी अङ्ग की विशेष ज्ञातव्य बातों एवं उनके वैज्ञानिक महत्व को स्पष्ट करने के लिये कहीं २ सामान्य भाषा का उपयोग भी किया जाता है। विभिन्न अङ्गों की वाह्य वृद्धियों (मधु-कोश आदि) का वर्णन भी यथास्थान कर दिया जाता है। अस्तु, किसी वैज्ञानिक विवरण का लक्ष्य यह होना चाहिये कि उसके द्वारा पौधों के स्वरूप का अधिक से अधिक परिचय प्राप्त किया जा सके। वैज्ञानिक विवरण में जिस क्रम से विभिन्न अङ्गों एवं उनके ज्ञातव्य विषयों को उपस्थित किया जा सकता है वह निम्नाङ्कित विवरण-दर्शिका में दिया हुआ है:—

मूलः—अधिमूल अथवा आगन्तुक मूल; सशाख अथवा निःशाख; कन्दाकार और मांसल या सूत्र सदृश; मूल के रूपान्तर (वातलम्बी, श्वासग्राही आदि); एक-वर्षायु, द्वि-वर्षायु अथवा बहु-वर्षायु; अन्त में मूलसंहति का भी वर्णन किया जा सकता है।

काण्डः—स्वावलम्बी, प्रसरी अथवा आरोही और इनके अवान्तर भेद; शाकीय अथवा काष्ठीय; रम्भाकार, कौणिक, पर्शुकी अथवा चिपिट-पार्श्व; मसृण, कण्टकी, रोमश अथवा क्षोदलिप्त; ठोस, नलाकार अथवा संयुक्त; वायव्य अथवा भौमिक (वायव्य काण्ड के वहिर्धावी आदि रूपान्तर और भौमिक काण्ड के भेद तथा रूपान्तर); सशाख अथवा निःशाख, शाखोद्भव (एक-वर्ध्यक्ष या बहु-वर्ध्यक्ष; एक-शाखी, द्वि-शाखी अथवा बहु-शाखी और इनके अवान्तर भेद)

पर्णः—वर्षजीवी अथवा सदाहरित; मूलपत्र अथवा काण्ड-पत्र; पर्णक्रम कुन्तल, अभिमुख (द्वि-पंक्ति या चतुर्पंक्ति) वा चक्रिक; सवृन्त अथवा अवृन्त;

सोपपत्र (उपपत्रों के भेद) अथवा अनुपपत्र; पर्णतल अथवा फलक-मूल का वर्णन (कोषाकार, जिह्विकायुक्त, पार्श्वकर्णायत तथा काण्ड-संसक्त आदि भेद) अपत्रक अथवा सपत्रक।

अपत्रक पर्ण का आकार (सूचीवत् इत्यादि), खण्डीभाव (खण्डों के आकार आदि का वर्णन), नाड़ी-विन्यास, पत्र-तट, पत्राग्र, पत्रपृष्ठ, पत्र-वयन आदि का वर्णन। सपत्रक पर्ण के पक्षवत्-प्राङ्गिवत् भेद और इनके अवान्तर भेद; पत्रकों की संख्या और क्रम; पत्रकों का यथासम्भव अपत्रक पर्ण की तरह वर्णन।

पुष्प-व्यूहः—एक-वर्ध्यक्ष, बहु-वर्ध्यक्ष अथवा मिश्र और इनके अवान्तर भेद।

पुष्पः—सवृन्त अथवा अवृन्त; पत्रकोणज अथवा अपत्रकोणज; पूर्ण अथवा अपूर्ण; उभयकोश, एककोश अथवा नग्न; द्विलिंग, एकलिंग अथवा क्लीबलिंग; समच्छेद, समैकच्छेद अथवा विषमच्छेद; अधोजाय, परिजाय अथवा उपरिजाय; पौष्पिक पत्र चक्रिक, कुन्तल अथवा अर्धचक्रिक। यदि पुष्पों के लिंग-वितरण में भेद हो तो भिन्न २ भेदों का आगे चलकर अलग २ वर्णन होना चाहिये।

वाह्यकोशः—विभक्त, अथवा संयुतदल, हरित अथवा अन्तर्दलायित; विभक्त दल होने पर दलों की संख्या, आकार तथा अग्र आदि का वर्णन; संयुतदल होने पर आकार एवं खण्डीभाव का वर्णन; ऊर्ध्वस्थ अथवा अधःस्थ; नियताकार अथवा अनियताकार; कलिकायुष्क, फलायुष्क अथवा फलोपचयी; संश्लिष्टदलक, नियतारूढ़ अथवा अनियतारूढ़ दलबन्ध।

आभ्यन्तरकोशः—विभक्त, अथवा संयुक्तदल; विभक्त-दल होने पर दलों की संख्या तथा आकार आदि; संयुतदल होने पर आकार तथा खण्डीभाव का वर्णन; नियताकार अथवा अनियताकार (समैकच्छेद अथवा विषमच्छेद); अधोजाय, परिजाय अथवा उपरिजाय; दलबन्ध के भेद।

सवर्णकोशः—वाह्यकोश और आभ्यन्तरकोश की तरह वर्णन।

पुं-केशरीः—नियत (संख्या) अथवा अनियत; विभक्तकेशर, श्लिष्टसूत्रक अथवा श्लिष्टाशय; आन्तःकौशभ, सावर्णकौशभ, अधोजाय, परिजाय अथवा उपरिजाय; पुं-केशर-सूत्र का वर्णन और परागाशय के संयोग और स्फुटन का वर्णन।

स्त्री-केशरी:—एक-, द्वि-, त्रि-, अथवा बहु-स्त्री केशरक; पृथगांगक या संयुतांगक; अण्डाशय एक-, द्वि-, त्रि-, अथवा बहु-गह्वर; अधःस्थ अथवा ऊर्ध्वस्थ; जरायु-न्यास एवं बीजीभवों की संख्या, आकार तथा स्थिति आदि का वर्णन; कुक्षि-वृन्त और कुक्षि का वर्णन।

फल:—एकज आदि भेद तथा इनके अवान्तर भेद; फल-विकिरण में उपयोगी रचनाओं का वर्णन।

बीज:—भ्रूण-पोष अथवा मुक्तभ्रूण पोषी; एक-बीजपत्र अथवा द्वि-बीजपत्र; विकिरण में उपयोगी रचनायें।

पुष्प-चित्र और पुष्प-सूत्र:—इनके द्वारा सामान्य पुष्प-रचना का निरूपण; इनके अतिरिक्त विभिन्न अङ्गों की विशेष रचनाविधि एवं आकार आदि को दिखाने के लिये यथासम्भव वर्णन के साथ उनके चित्र भी देना चाहिये।

पौधे का सामान्य परिचय:—वृक्ष, गुल्म अथवा क्षुप; एक-बीजपत्र अथवा द्वि-बीजपत्र; एक-वर्षायु, द्वि-वर्षायु अथवा बहु-वर्षायु; विशेष प्रकार के जीवन-क्रम, परागण एवं फल तथा बीज के विकिरण आदि का यथासम्भव संक्षिप्त परिचय।

पारिभाषिक (एवं कुछ सामान्य) शब्दों की अनुक्रमणिका

(सामने इनके अन्ताराष्ट्रिय पर्याय और प्रायः परिभाषा-स्थल के पृष्ठांक हैं)

अधो-बीजपत्र Hypocotyl ९२
अधोभित्तिग Basal ७७
अधोभूमिक Hypogeal १०९
अधोमहावाहिनी Seive tube १३७
अधोलम्ब Pendulous ७६
अधोवर्ध्य कोशा Hypophysis cell ९२
अधोवाही Phloem १३६
अधोवाही तनुभित्तिक Phloem parenchyma १३६
अधोवाही तंतु Phloem fibre १३७
अनन्तर्कोश Apetalous ६२
अनाधान प्रजनन Parthenogenesis ९३
अनियत Indefinite ७२
अनियताकार Irregular
अनियतारूढ़दलक Imbricate ७०
अनियतारूढ़दलिका „ ५१
अनियमित Adventitious १९, २०
अनिर्दिष्ट गति Nastic movement २०२
अनुकूलतम Optimum
अनुत्पत तैल Fixed oil
अनुद्वाह-प्रजनन Apogamy ९३
अनुपपत्र Ex-stipulate ३८
अनुपपत्रक Ex-Stipellate ३८
अनुपाततः Proportionately
अनुप्रस्थ Transverse
अनुप्रस्थ-पटीक Lomentum ९७
अनुप्रस्थ-पट्टीक Scalariform १२६
अनुप्रस्थ-वपुष्क Amphitropous ७८
अनुविद्ध Saturated
अनुवेधन Saturation
अनूर्ध्वाधःस्थ Half-superior ६३
अनूष्ण कटिबन्ध Sub-tropical zone
अनेकांघ्रिक Sympodial २८

अन्तरतम Innermost
अन्तराकोष अवकाश Intercellular space
अन्तरापूलैधा Interfascicular Cambium
अन्तरारम्भ Endarch १५२
अन्तराविष्ट Included
अन्तरावेश Inclusion
अन्तराऽयूहाणु Intra-molecular १८१
अन्तरूति Internal tissue
अन्तरंग Nucleus
अन्तर्दल Petal ६७
अन्तर्दलायित Petaloid ६२
अन्तर्धावी Stolon २६
अन्तर्पूलैधा Fascicular Cambium १४३
अन्तर्भित्ति (अण्डाशय) Septum ७५
„ (फल) Endocarp ९४
अन्तर्भूमिशायी Rhizome २७
अन्तर्वस्तु फल Pome ९९
अन्तर्वंश Interpolation १२३
अन्तस्त्वक् (बीज) Tegmen १०७
„ Inner bark १४६
अन्तःप्ररस Endoplasm १५८
अन्तःप्रेरित Spontaneous
अन्तःपृष्ठ Inner surface
अन्तःस्तर Endodermis १४१
अन्तःस्फुट Introrse ७२
अन्तःस्रवण Secretion
अन्तःस्रुत Secreted
अन्य वर्ण-घटन Chromoplast ११६
अन्योन्याश्रय Inter-dependence
अन्वर Radial

अन्वर-दीर्घित Radialy elongated
अन्वायाम Longitudinal
अन्वायोजी Closely fitting
अपकर्षण Repulsion
अपकर्षणावस्था „ २६७
अपकिर Helping dispersal
अपकिरण Dispersal १०१
अपकीर्ण Dispersed
अपकीर्ण घटक Dispersed phase ११६
अपचयात्मक क्रिया Katabolic process १८९
अपत्रकोणज Ebracteate ६४
अपत्रक पर्ण Simple leaf ४६
अपत्र-घृन्तक Ebracteolate ६५
अपर-परागण Cross-pollination ८२
अपर-परागि Cross-pollinated
अपरिवर्त्य Irreversible ११५
अपवर्तेद Invertase १८९
अपवादतः Exceptionally
अपसरण To diverge
अपसार-कोण Divergence angle ९३
अपसार Divergent ४३, ७०
अपामार्ग-कुल Amarantaceae २३८
अपासनावस्था Repulsion २६७
अपुष्पोद्भिद् Cryptogams ८
अपूर्ण-पुष्प Incompletae २११
अपूर्ण पुष्प Incomplete flower
अप्रसार्य Indiffusible
अप्रांगारिक Inorganic
अपृथक्कोश Homoio-chlamydeous ६?
अबीजाणुता Apospory ६३
अबीजोद्भिद् Cryptogams

अभिघस्य पदार्थ Plastic substance १२०
अभि-प्रासवत् Ob-lanceolate ४८
अभिभित्तिग Parietal ७६
अभिमुख Opposite ५२
अभिरंजक Stain
अभिरंजन To stain
अभिरंज्य Stainable
अभि-लट्वाकार Ob-ovate ४८
अभिलाग Adhesion ७१
अभिवर्णि Chromatin ११८
अभिवर्णि-जालिका Chromatin net-work ११८
अभिसरण To Converge
अभिसारी Convergent ४३
अभि-हृद्वत् Ob-cordate ४८
अभ्याकृष्टीय Gravitational
अभ्यारावत् Retro-serrate ४४
अभ्यास और अनभ्यास Use and disuse २५३
अमूलकव्यक्ताङ्ग Bryophyta ८
अम्ल Acid
अम्लिका-उपकुल Caesalpinoideae २२१
अम्लीय Acidic
अयस् Iron
अयस्-शाकाणु Iron bacteria
अयसिक जारेय Ferric oxide
अयस्य जारेय Ferrous oxide
अयुक्त Ringent ६९
अर-संमितीय Actinomorphic ७९
अर्क-कुल Asclepiadaceae २३१
अर्घ Rate

अर्ध-कदर्योपजीवी Semi-saprophytic १४९
अर्ध-काण्डसंसक्त Semi-amplexicaul ४१
अर्ध-कोशाणु Hemi-cellulose
अर्धतरल Semi-fluid
अर्ध-न्यष्टि Haploid nucleus ६०
अर्ध-परजीवी Semi-parasitic १९२
अर्धवेध्यता Semi-permeability
अर्धसूत्रणा Reduction division १२८
अर्धानुत्तर-पक्षवत् Pinnatifid ४९
अर्धानुत्तर-पाणिवत् Palmatifid ४९
अलग्नमध्यग Free-central ७६
अल्पिष्ट Minimum
अवक्षेप Precipitate
अवहता Repulsion २६७
अवरुद्ध Blocked
अवार्य (फूल) Closed १४७
अवलम्बक मूल Clinging root १६
अवलम्बन To support
अवसान-कोशा End cell
अवहिर्गत Inserted ७२
अवात-जीव Anaerobe १८८
अवात श्वसन Anaerobic respiration
अविविक्तांग (1) Thallophyta ८
(2) undifferentiated
अविलेय Insoluble
अवेध्य Impermeable
अवृन्त (पर्ण) Sessile ४०
,, (पुष्प) ,,
अवृन्त-काण्डज Spike ९८
अवृन्त-मूर्धज Capitulum ९८

अश्म-कोशा Stone cell १३४
अश्मसदृश Stony
अश्वनाल Horse-shoe
अश्वितिमान Ex-albuminous [illegible]
अष्टवर्ग A group of eight drugs
अष्ठि Stone ९८
अष्ठि-फल Drupe ९८
अष्ठि-फल-संहत Etaerio of drupes १००
असम-पक्षवत् Impari-pinnate ४६
असम-पृष्ठक Dorsi-ventral ४९
असूत्र (पुंकेशर) Sessile ७१
असंतानी Discontinuous
असंतानी वैशिष्ट्य Mutation २१६
असंमितीय Asymmetrical ८०
अस्फुटनार Indehiscent ९४
अस्फुटैकबीजक Achenial ९६
अस्फोटी Indehiscent ९४
अहिफेन-कुल Papaveraceae २१५
शल्कद-पत्रक Scaly bulb [illegible]

आ

आकन्द Tuber २८
आकार Shape
आकारिकीय एकक Structural unit
आकारिकीय प्रकृति Morphological nature
आक्षीर Latex १३७
आक्षीर-जाल Laticiferous vessel १३८
आक्षीर-नाल Laticiferous tube १३८
आक्षीरवाही Laticiferous tissue १३[illegible]
आगन्तुक Adventitious १५
आघात Shock

आणविक भार Molecular weight
आण्वीक्ष Microscopic
आतंचन Coagulation
आतत्यता-बल Tensile strength
आदान-प्रदेश Receptive region
आदि-भित्ति Middle lamella १२३
आद्य Primary १३२
आधार-ऊति Ground tissue
आधार-तत्व Basic element
आनन्तर्य Secondary
आनन्तर्य न्यष्टि Secondary nucleus ७८
आनुभविक Empirical
आन्तरचोल Intine ९०
उद्दीपन (ना) Stimulus
उद्दीपना-गति Stimulus movement २००
उद्दीपना-ग्राहक प्रदेश Perceptive region २०६
उद्भिज्ज Plant
उद्भिज्ज-काय Plant body
उद्भिज्ज-श्वासर्ग Plant growth Harmone १९४
उद्भिज्ज-सृष्टि Vegetable Kingdom
उद्भिद्-शास्त्र Botany १
उद्भेदन Germination १०७
उद्यान-विद्या Horticulture
उद्याम Lever
उद्वाष्पन Evaporation
उद्विकास Evolution
उद्विकास का सिद्धान्त Evolution theory २४७
उन्देवीय Hygroscopic
उन्देवीयता Hygroscopism
उन्मृदा-जल Soil water
उपकुल Sub-order
उपजीवक-मूल Haustoria १६
" " Parasitic root १६
उपजीव्य Host १६
उपत्वचा Phelloderm १४९
उपपत्र Stipule १८
उपपत्रक Stipel १८
उपरिजाय Epigynous ६२
" Epigynae २११
उपरि-प्रसरी Surface feeder १५
उपरिभूमिक Epigeal १०४
उपरि-वृद्धि Growth by apposition ११३
उपविभाग Sub-division २०९
उपसंकोच Constriction
उभयकोश Diplo-chlamydeous ६२
उभयगत पूल Common bundle १४२
उभयधारक Gynandrophore ६४
उभयोद्भव Scorpioid ३१
उष्म Calories

ऊ

ऊति Tissue ११३
ऊति-जन Histogen १३९
ऊति-संहत Tissue system १३१
ऊर्जा Energy
ऊर्जा-विमोचन Liberation of energy
ऊर्ध्व-कुण्डलन Circinate ५१
ऊर्ध्वकूट Ex-current ३१
ऊर्ध्वत्वक् Integument ७७
ऊर्ध्व-द्वारक Orthotropous ७८

ऊर्ध्व-निभाग Anatropous ७८
ऊर्ध्ववाही Xylem १३५
ऊर्ध्वस्थ Superior ६३
ऊष्मा Heat

ए

एक-कोश Mono-chlamydeous ६२
एक-कोशा Unicellular
एक-गह्वर Unilocular ७५
एकज फल Simple fruit ९६
एक-दल Monocotyledon
आन्तरजात Endogenous १३
आन्तः कौशभ Epipetalous ७२
आपद्म-सम Caryophyllaceous ६७
आपूरक Synergidae ७८
आप्यक Algae ८
आभ्यन्तर कोश Corolla ६७
आभ्यन्तर नाल Corolla tube ६७
आयतन Volume
आयताकार Oblong ४८
आयास Strain
आरावत् Serrate ४४
आरीय संगोलन Radial conglomeration
आरोहण To climb
आरोहिणी लता Climber ३४
आर्द्रक-उपकुल Zingiberaceae २४३
आर्द्रता moisture
आर्द्रतावर्तना Hydrotropism २०५
आलग Viscid
आवर्तन-गति Tropic movement २०३
आवर्तन-घटना Periodic Phenomena १६८

आवश्यक अंग Essential parts ६२
आवेजक Catalyst
आवेजन Catalysis
आवेजनिक पदार्थ Catalytic agent
आशून Turgid
आशूनता (1) Turgidity
(2) Turgor
आशूनता-गति Turgor movement २००
आश्लेष्मल Slimy
आसारण Osmosis १६४
आसृति Osmosis १६४
आसृतीय Osmotic
आंशिक Partial

इ

इक्षु-शर्करा Cane sugar
इष्टापत्ति Necessary evil

ई

ईस्ट Yeast

उ

उच्चर्म Cuticle १२४
उच्चर्मक Cutin १२३
उच्चर्मक-व्यापन Cutinization २२४
उच्छत्र Umbel ६८
उच्छत्र-कुल Umbelliferae २२५
$उ_2ज$ H_2O
उत्केन्द्र Eccentric
उत्थित-प्रसरी Decumbent ३४
उत्पत तैल Volatile oil
उत्पाद-द्रव्य Product
उत्सारण Drainage १६३
उत्स्वेदन Transpiration १६८

उत्स्वेदन-मान Potometer १७१
उत्स्वेद-मापन Measurement of transpiration १६९
उत्स्वेद-वाह Transpiration current १७२
उदग्र Vertical
उदंचन To pump
उदजन Hydrogen
उदजन शुल्वेय Hydrogen sulphide
उदासीन Neutral
उद्दास Resin
उद्दीपक Stimulant
एक-दल Uni-foliate ४६
एकदैशिक One sided
एक-धानी (परागकण) One celled
एक-पर्शुक Unicostate ४३
एक-बीज One-seeded
एक-बीजपत्र Monocotyledons
एक-बीजिवेश्म Mericarp ६७
एक-भित्तिग Marginal ७६
एकल अवसानपुष्प Solitary Terminal flower ५७
एकल कक्ष-पुष्प Solitary axillary flower ५७
एक-लिंग Unisexual ६२
एकलिंगता Uni-sexuality ८७
एकलित Isolated
एक-वर्ध्यग्र Racemose ३०
एक-वर्षायु Annual ३३
एज-व्यासी Iso-diametric
एक-शाखी Uniparous ३०
एक-सेवनीक Follicle ६७
एक-सौत्रक Mon-adelphous ७१
एक-स्त्रीकेशरक Mono-carpellary ७४
एक-संमितीय mono-Symmetrical ७९
एकाकी कन्द Simple root-tuber १८
एकांघ्रिक monopodial २८
एकान्तरण Alternation
एकान्वेक Alternate
एकाभव्यूह Cyathium ६०
एकि फल Simple fruit ६५
एकीभाव Fusion
एकोद्भव Helicoid ३१
एधा Cambium १४१
एरण्ड-कुल Euphorbiaceae २३६

औ

औतिकी Histology ६
औदर्य संधि Ventral suture ७४
औद्भिद्-पदार्थ Vegetable matter
औपपत्र नाल Ochrea ३९

ऋ

ऋजु-वपुष्क Orthotropous ७८

क

कटुका-कुल Scrophulariaceae २३४
कटोररूप Cup-shaped
कठिनकोश Nut ५९
कणिका Granule
कण्टकारी-कुल Solanaceae २३३
कण्टकी Spiny
कण्टकीभूत काण्ड Thorn २४
कण्ठ-कुड्मल Corona ६६
कदर्थोपजीवी Saprophyte १९४
कदली-उपकुल Musaceae २४३
कन्दगुच्छ Fasciculated tuberous root १८

कूट-पाद Psuedopodium
कूट-फल False fruit ९४
कूटयुक्त Ridged
कूटान्तर्भित्ति False septum ७५
कूप Cavity
कूर्चंति Penicillium
कूष्माण्ड-कुल Cucurbitaceae
कूष्माण्ड-सम Pepo ४९
केत्वातु नीरेय Cobalt chloride
केशर-सूत्र Filament ७०
केशाल-जल Capillary water १६३
केशाल-बल Capillarity force १७३
कोण-पुष्पक Bract ६४
कोश (1) Cell
(2) Sheath
कोशा Cell ११३
कोशा-काय Cell body
कोशाणु-नाल Celluloid tube
कोशा-निर्माण Cell fo mation १२६
कोशा-पट्ट Cell-plate १२६
कोशा-पाषाण Cystolith १२१
कोशा-प्ररस Cytoplasm ११५
कोशा-भित्ति Cell-wall १२२
कोशामय Cellular
कोशाकार Sheathing
कोष्ठ Chamber
कौणिक Angular ४२
कौशिकी Cytology ६
कौशिकीय Cytological
कौशेय-सदृश Membranous ९०
क्रम-विकास Evolution
क्रमिक औद्भिदी Systematic Botany २०६
क्रामिकीय Taxonomic
क्रियाशील कलिका Active bud २१
क्रोड़काण्डक Perfoliate ४२
क्लीबकेशर Staminode ७१
क्लीबलिङ्ग Neuter
कृत्रिम वर्गीकरण Artificial classification २०८
कृषि-विज्ञान Agriculture
क्षतपूर्ति Healing of wound १९०
क्षारातु Sodium
क्षारीय Alkaline
क्षुप Herb ३२
क्षुपक Small herb ३३
क्षैतिज Horizontal
क्षोद Bloom २३
क्षोदलिप्त Glaucous २३

ख

खण्ड-प्रजनन Vegetative reproduction ८२
खण्डित Lobed ४४
खण्डीभाव Incision ४५
खनिज Mineral
खनिज-व्यापन Mineralisation १२४
खाद्य पदार्थ Food material
खूंटी Peg

ग

गण Order २०९
गति Movement १५९
गतिक ऊर्जा Kinetic energy
गतिशील Motile
गर्जर-कुल Umbelliferae ३२९
गर्जरि Carotin ११९
गर्त Pit १२४

गर्त-पिधान Torus १२६
गर्तमय Pitted १२४
गर्भ-कोश Embryo-sac ७७
गर्भ-पोष Placenta ७६
गलघण्टिका Palate ६६
गलफड़ा Gill
गलितोपजीवी Saprophyte १९४
गह्वर Cavity
गह्वर-स्फुटन Loculicidal ९९
गह्वरिता Vacuolation १९७
गुडूची-कुल Menispermaceae २१३
गुण Character
गुम्बजाकार गर्त Bordered pit १२९
गुलाब-कुल Rosaceae २२२
गुल्म Shrub ३३
गुल्मक Under-shrub ३३
गुहारुध Tyloses १४९
गोधूम-कुल Gramineae २८४
गोपुच्छाकार क्रम Acropetal succession
गोर्दसदृश Pulpy
गोलकाभ Globoid १२२
गोल-छिन्न Crenate ४५
गोल-दन्तुर Crenate ४९
ग्रथनावस्था Linkage २६७
ग्रंथि Node २०
,, Gland १३८
ग्रंथिका Nodule २१९
ग्रंथिमूल-प्रसरी Creeping (creeper) ३४
ग्रंथि-रोम Glandular hair

घ

घण्टाकलश Bell-jar
घण्टिकाकार Companulate ६८
घनता (1) Strength
(2) Concentration
घनाकार Cubical

च

चक्राकार Orbicular ४८
,, Rotate ६८
चक्राभ-व्यूह Verticillaster ६०
चक्रिक Verticillate ५२
चंचु Spur ६८
चंचुकी Beaker
चंचूचण Spurred ६८
चण्डतापन-पात्र
चतुरंशभागी Tetra-merous ८०
चतुर्गुण Tetraploid २६९
चतुर्दल Quadri-foliate ४६
चतुष्पंक्ति Decussate ५२
चतुर्वेश्म Carcerulus ६८
चतुष्क-युग्म Tetra-dynamous २२
चतुष्पार्श्व Quadrangular
चयात्मक क्रिया Anabolic process १७५
चयापचय Metabolism
चर्मपत्र Parchment
चर्मल Leathery
चर्मल फल Achene ९६
चर्मसदृश Leathery
चषकाकार Cup-shaped
चालनी-नाल Sieve-tube १३६
चालनी-पट्ट Sieve-plate १३७
चिकित्सोपयोगी Medicinal
चिक्कण Glabrous
चुक्र-कुल Polygonaceae
चूर्णातु तिग्मीय Calcium oxalate

टोपी-स्फुटन Transverse dehiscence ६४

त

तटस्थत्रयी Antipodal cells ७८
तत्व Element
तनुभित्तिक Parenchyma १३३
तनुविस्तारी Tapering
तन्तु Thread
तन्तुभूत Tendrillar ४४
तन्तुभूत काण्ड Stem-tendril २६
तन्तुमय (अधिमूल संहति) Fibrous branching १५
तन्तुमय मूल-संहति Fibrous root system १५
तन्तुयुत वाहिनी-पूल Fib o-vascular bundle १४१
तरंगसदृश Wavy ४४
तरल Liquid
तललग्न Superficial ७७
तल-विस्तरण Surface expansion
तलोत्थ Erect ७९
तलपाततति Surface tension
ताप-अनिर्दिष्ट Thermo-nastic २०२
ताप-क्रम Thermo-taxis २०१
तापग्राही Sensitive to temperature changes १९८
ताप-पलिघ Thermos flask
ताप-प्रचलन The mo-taxis २०१
तापमान Thermometer
ताप-ग्रहत्व Thermo-sen itiveness १९८
तापांश Temperature
ताम्र Copper
तारकाकार Stellate
तारा-नाभि Centrosphere ११८
तारारूप Stellate
ताल-कुल Palmae २४४
तिक्काति Ammonia
तितिमिक अम्ल Oxalic acid
तिर्यंक (पत्र) Ob'ique ४८
तीक्ष्ण Acute ४४
तीव्रता Intensity
तुंदिल Saccate १७
" Gibbous ६१
तुलसी-कुल Labi‹tae २३७
तुला Balance
तुषसम Pale ६९
तूद-कुल Moraceae २४१
तैल-बीज Oil seed
त्रपु पर्णी Tinfo l
त्रि-गह्वर Tri-locular ७९
त्रिगुण Triploid
त्रि-दल Tri-foliate ४६
त्रि-पक्षवत् Tri-pinnate ४७
त्रि-पंक्ति Tiistichous ९१
त्रिपादानुत्तर-पक्षवत् Pinnati-parti e ४५
त्रिपादानुत्तर पाणिवत् Palmati-partite ४५
त्रिपादोत्तर-पक्षवत् Pinnati-sect ४६
त्रिपादोत्तर-पाणिवत् Palmati sect ४६
त्रिपार्श्व (1) Prismatic
(2) Triquetrous
त्रिवेभ Three-dimensional
त्रिवृत-कुल Convolvulaceae २३२
त्रि-सौत्रक Tri-adelphous ७१

त्रि-स्त्रीकेशरक Tri-carpellary ७४
त्र्यंशभागी Tri-merous ८०
त्याज्य द्रव्य Waste products
त्वचा ऊति Cork tissue १२९
त्वचा भित्तिक Suberin १२३
त्वचा-भित्तिक-स्थापन
Suberisation १२४
त्वक्षैधा Cork cambium १४५
त्वग्भत्र Chalaza ७०

द

दक्षिणावर्तिनी Dextrorse १५
दण्डिका Stick
दन्त-स्फुटन Dehiscence by teeth ८९
दन्तुर toothed ४४
दरी Slit
दल-दण्ड Claw ६७
दलोत्सर limb ६७
दलपद Thalamus ६१
दह-सर्जि Caustic potash
दहातु Potassium
दारु (1) Xylem १३५
(2) Wood
दारु-तनु भित्तिक Xylem paren-
chyma १३६
दारु-सूत्र Xylem fibre १३६
दाहक Rubefacient २१६
दीर्घित Elongated
दुग्धी-ति Euphorbia
दृढ़ अधोवाही Hard bast १४१
दृढ़-भित्तिक कोशा Stone cell १३४
दृढ़-भित्तिक तन्तु Sclerenchymatous
fibre १३४
देह-व्यापारिकी Physiology ७

देहाणु cell
द्राक्षा-शर्करा Grape sugar
द्वारक Micropyle ७७
द्वारसम्भूत Porogamic ९१
द्वारोद्वाह Porogamy ९१
द्वि-गह्वर Bi-locular ७९
द्विगुण-न्यष्टि Diploid nucleus १८०
द्वितीय वृद्धि Secondary growth १४३
द्वितीय श्वसन-रन्ध्र Lenticel १४६
द्वि दल Bi foliate ४६
" Dicotyledons
द्विधैकलिङ्गक Monoecious ६३
द्वि-निषेचन Double fertilisation ९१
द्वि-पक्षवत् Bi-pinnate ४६
द्वि-पंक्ति Superposed ५२
" Distichous ५३
द्विपद-पद्धति Bi-nomial
System २०८
द्वि-बीजपत्र Dicotyledons ९
द्वि-पृष्ठक Bi-facial ४९
द्वि-लिंग (1) Hermaphrodite
(2) Bi-sexual ६२
द्वि-लिंगी Monoecious ६१
द्वि-वर्षायु Bi-ennial ३३
द्वि-विभक्त Dichotomous ३०
" Emarginate ४४
द्वि-विभक्ताभास False dichotomy ३०
द्वि-शाखी Bi-parous ३०
द्वि-सपार्श्वस्थ Bi-collateral १४३
द्वि-सोत्रक Bi-adelphous ७१
द्वि-स्त्रीकेशरक Bi-carpellary ७४
द्वैतीयक स्थौल्य Secondary
thickening

द्व्यंगभागी Bi-merous ८०
द्व्योर्ध्ववाही Diarch १५३
द्व्योष्ठक Bi-labiate ६९

ध

धान्यरुक् Ergot ८
ध्वज-दल Standard ६८

न

नग्न Achlamydeous ६२
नग्न कलिका Naked bud २१
नग्न-बीज Gymnosperm ६
नत Retuse ४४
नमन Curvature
नमन-गति Movement of curvature २००
नम्र अवृन्त-काण्डज Catkin ५८
नलाकार Fistular २२
नाड़ी Vein
नाड़ी-विन्यास Venation ४२
नाभि Hilum ७७
नामकरण Nomenclature
नारंग-सम Hesperidium ८८
नाल Tube
नाल-न्यष्टि Tube nucleus ८१
नालाकार Ochreate ३९
नालाकार Tubular ६८
नालाकार (सामान्य) गर्त Simple pit १२५
निदोल Pendulum
निपीड़ Pressure
निभाग Chalaza ७७
निभाग-सम्भूत Cholazogamy ९२
निभागोद्वाह Chelazogamy ९२
निम्बु-कुल Rutaceae २१८

नियत Definite ७२
नियताकार Regular ६६
नियतारूढदलक Twisted ७०
नियतारूढ़दलिका Twisted ९१
नियमित (मूल) Normal (root) १५
निरूप्य Demonstrable
निर्गुण्डी-कुल Verbenaceae २३७
निर्दिष्ट गति Tropic movement २०१
निर्देशन Direction १९९
निर्यास Gum
निर्यासोद Muscilage
निलम्ब Suspensor ९२
निवाप-सम Funnel-shaped ६८
निवेशन Fixation
निवेष्ट Involucre ५८
निषेचन Fertilization ९०
नीरजी Chlorine
नीरस फल Dry fruit ८६
नीरेय Chloride
नील-लोहित Violet
नीलारुण Purple
नौका-दल Keel ६८
न्यष्टि Nucleus ११८
न्यष्टि-कला Nuclear membrane ११८
न्यष्टिका Nucleolus ११८
न्यष्टि-भाजन Nuclear division
न्यष्टि-रस Nuclear sap ११८
न्यष्टि-विखण्डन Amitosis १२४
न्यष्टि-सूत्र Linin thread ११८

प

पक्ष-दल Wings ६८
पक्षवत् (1) pinnate ४३
(2) Feathery

पर्ण-हरित Chlorophyll
पर्णहरिती Chlorenchyma १३३
पर्णीभूत Foliaceous ३९
पर्पट-कुल Fumariaceae २१४
पर्व Internode २०
पर्शुकी Ribbed
परोपगमन Cross-over २६८
परोपजीवी Parasite
पलाण्डु-कुल Liliaceae २४
पश्च-अवयव Posterior part
पश्च-क्रिया Back reaction १८५
पश्चापसारी गुण Recessive Character २६२
पश्चोर्ध्ववाही Meta-xylem १४२
पंक्ति-चतुष्क Linear tetrad ७८
पाचक Digetive
पाटल-कुल Rosaceae २२२
पाटल-सम Rosaceous ६७
पाटला-कुल Bignoniaceae २३९
पाणिवत् Palmate ४१, ४६
पारदर्श Transparent
पारिणाहिक Transverse ७३
पारिस्थिकी Ecology ७
पारिस्थितिक Environmental
पारेषण Transmission
पार्श्व Side
पार्श्व-कर्णायत Semi-auriculate ४१
पार्श्व-कुण्डलन Convolute ९१
पार्श्वकूट Dilinquescent ३३
पार्श्व-निभाग Amphitropous ७८
पार्श्वमेलक Conduplicate ९०
पार्श्वलम्ब Suspended ७९
पार्श्वाभ: कुण्डलन Rovolute ९१

पार्श्विक Lateral ३०
पार्श्वोर्ध्व-कुण्डलन Involute ९१
पाशी Loop
पार्ष्ठिक संधि Dorsal suture ७४
पित्र्यागति Heredity
पित्र्य द्रव्य Germ-plasm
पित्र्य-द्रव्य का संतत प्रवाह Continuity of germ plasm
पित्र्य-सूत्र Chromosome
पिधान-कला Closing membrane ११९
पीठलग्न Basal ७७
पुं-केशर Stamen ७०
पुं-केशरज Staminal
पुं-केशरी Androecium ७०
पुं-कोशा Male cell ६१
पुनरुत्पादन Reproduction
पुनर्विदारी Regma ९८
पुनस्संगठन Re-organisation
पुमंग Androecium ७०
पुमंग-धारक Androphore ६४
पुं-पुष्प Male flower ६१
पुरा-जैविकी Paleo-biology २६८
पुरा-जैविकीय Paleontological
पुष्प Flower ५७
पुष्प-चित्र Floral diagram ८१
पुष्प-दण्ड Peduncle ६१
पुष्प-ध्वज Scape २४
पुष्प-विन्यास Inflorescence ५७
पुष्प-वृन्त Pedicel ५१
पुष्प व्यूह Inflorescence ५७
पुष्पश्यामि Anthocyanin १२०
पुष्प-सूत्र Floral formula ८०
पुष्पासन Thalamus ६१

पुष्पोद्भिद् Phanerogams ८
पूर्णकन्द Corm २८
पूर्णोपचितांग Pteridophyta ८
पूर्व-वाहिनीपूल Pro-Cambial Strand १४०
पूर्वाधोवाही Proto xylem १४२
पूर्वोर्ध्ववाही Protophloem १४१
पूल-कंचुक Bundle sheath १६७
पूलिका Bundle
पृथक्कोश Hetero-chlamydeous ६२
पृथक्पक्वता Dichogamy ८७
पृथगांगक Apocarpous ७४
पृथगानेकज Aggregate ९५
पृथग्दल Polypetalous २१०
पृष्ठ Surface
पैत्र्यक Gene २६५
पोषण Nutrition
पौष्पिकपत्र Floral leaf ६१
प्रकाश Light
प्रकाशविमुख Negatively Phototropic २०४
प्रकाशाभिमुखी Positively Phototropic २०४
प्रकिण्व Yeast १३०
प्रचलन Locomotion
प्रचलन-गति Movement of locomotion २००
प्रचूषण Absorption
प्रचूषण-बल Suction force १६९
प्रज २ Co_2
प्रजनन Reproduction
प्रजाति Genus २४९
प्रजापति-उपकुल Papilionatae २२०

प्रजापतिरूप Papilionaceous ६
प्रणाली Duct
प्रतानिनी Lianes ३९
प्रतिध्रुव-कोशा Antipodal cell ७८
प्रतिरोधक Resistent
प्रतिवर्तिनी Reversible
प्रतिशतता Percentage
प्रतिसिराभव Plicate ९०
प्रतीप-वपुष्क Anatropous ७८
प्रत्याबल Stress
प्रत्यावर्तन Reversion २६७
प्रत्यास्थता Elasticity
प्रपुष्ट-पत्रक Bulb १६
प्रबल विलयन Strong Solution
प्रभवद्-गुण Dominant character २६१
प्रभासन Illumination
प्ररस-काय Protoplasmic body
प्ररस-पुंज Protoplasmic mass
प्ररसीय Protoplasmic
प्ररोह-संहति Shoot System १२
प्रवर्धन Outgrowth
प्रविभाजि-ऊति Meristematic tissue १३२
प्रविभाजी Meristem १३२
प्रविभाजी प्रदेश Growing region
प्रविलीन Dissolved
प्रसर Creeper ३४
प्रसरी काण्ड Prostrate stem ३४
प्रसारण Diffusion
प्रसुप्त कलिका Dormant bud २१
प्रह्रासन Reduction
प्रह्रासनेद Reductase १८५

प्रह्रास-विभाजन (1) Reduction Division
(2) Meiosis १२८
प्रह्रासित Reduced
प्रकृतावस्था Natural state
प्राकृतिक चुनाव Natural selection २०८
प्राकृतिक वर्गीकरण Natural classification २०८
प्राक्पुंपाकी Protandrous ८७
प्राक्स्त्रीपाकी Protogynous ८७
प्रांकुर Shoot २०
प्रांगार Carbon
प्रांगार-द्वि जारेय Carbon-di-oxide
प्रांगार-परिपचन Carbon-assimilation १७५
प्रांगारिक Organic
प्रांगोदीय Carbohydrate
प्राचीर Parietal ७६
प्राणि-परागित Zoo-philous ८४
प्राणि-शास्त्र Zoology १
प्राणी (1) Animal
(2) Organism
प्रादेशिक Localised
प्रान्तस्थ Peripheral
प्रान्तीय Marginal ७६
प्रासवत् Lanceolate ४७
प्रेंखण-गति Nutation २००
प्रेरित Induced
प्रेरित-प्रचलन Tactic movement २०१
प्रोभूजिन Protiens
प्रोभूजिन-संश्लेषण Protien Synthesis १८३
प्रौढ़-ऊति Permanent tissue १३२

फ

फणाकार Hooded ६८
फलक Blade ४१
फलकमूल Base of lamina ४१
फलकाभास वृन्त Phyllode ४१
फलधारक Carpophore ६४
फल-बीजभेदक Capsular ९६
फल-भित्ति Pericarp ९४
फल-वृक्ष Fruit tree
फल-व्यूह Infructance १०१
फल-शर्करा Fruit sugar
फलायुष्क Persistent ६६
फलोपचयी Accrescent ६६

ब

बन्धुता Affinity
बब्बूल-उपकुल Mimosoideae २२१
बलदायिनी ऊति Strengthening tissue
बसा Fat
बीजचोल Seed coat ९३
बीजाणु Spore
बीजाणु-धानी Sporangium
बीजिमांसल Berry ९४
बीजिमांसल-संहत Etaerio of Berries १००
बीजीभव Ovule ७७
बीजीभव-वृन्त Funiculus ७७
बीजीभवाशय Nucellus ७७
बीजोद्भेदन Seed-germination १०४
बीजोपांग Caruncle ९३
बुसपत्र Glume २४१

भ

भग्नैकसंधिक Follicle ९७

भग्नैकसंधिक-संहत Etaerio of follicles १००

भग्नोभयसंधिक (1) Legume ९७
(2) pod

भंगुर (1) Brittle ९०
(1) Crustaceous

भंजन Folding

भव्य वृद्धि-काल Grand period of growth १९७

भा-अनिर्दिष्ट Photonastic २०२

भा-उद्दीपन Light effect १९८

भागांगसाम्य Isomery ८०

भाजना अवस्था Meta-phase १२६

भाजनान्तिमा अवस्था Telophase १२६

भाजनापूर्वा अवस्था Prophase १२६

भाजनोत्तरा अवस्था Anaphase १२६

भा-प्रचलन Photo-taxis २०१

भावर्तना Photo-tropic movement २०४

भा संश्लेषण Photo-synthesis १७६

भास्वर Phosphorus

भास्वीय Phosphate

भित्त्यन्तर्व्यापी Superficial ७७

भिन्न-युग्म Allelomorph २६१

भुक्तभ्रूणपोष Non-endospermic ८३

भुज-स्तर Abscissa layer १९९

भूयाति Nitrogen

भूयाति-बन्धन Fixation of nitrogen १८१

भूयाति-परिपचन Nitrogen-assimilation १८०

भूयिक अम्ल Nitric acid

भूयित Nitrite

भूयीय Nitrate

भूय्य अम्ल Nitrous acid

भूम्य जारेय Nitrous oxide

भूर्ज-कुल Cupuliferae

भेद Variety २०८

भौतिक Physical

भौमिक (1) Terraneous
(2) Underground

भौमिकी (य) Geology (gical)

भ्राजातु Magnesium

भ्रूणपोषी Endospermic ८३

भ्रूणाग्र Plumule ८२

भ्रूणाग्र कंचुक Coleoptile ११०

भ्रौणिकी (य) Embryology (gical)

भ्वाकृष्टि Gravitation

भ्वाकृष्ट्यावर्तना Geotropic movement २०३

भ्वाकृष्ट्यावर्तिक गति Geotropic movement २०३

म

मक्षी Bee

मज्जक Pith १४१

मज्जक-किरण Medullary ray १४१

मंजिष्ठा-कुल Rubiaceae २२६

मण्ड Starch

मण्ड-कंचुक Starch sheath १४१

मण्ड-बीज Starchy seed

मण्ड-विकर Diastase

मण्डविरहित De-starched

मधुकोश Nectary ६४

मधु-चक्र Disk ६४
मधुदर्शक चिह्न Honey-guides ८८
मधु-स्रावि Nectariferous १३९
मध्यनाड़ी Midrib ४२
मध्यपर्णोति Mesophyll १५६
मध्यभित्ति Mesocarp ६४
मध्यमूलग Reclinate ५०
मध्यरम्भ Stele १४०
मध्योद्भिद् Mesophyte
मन्द विलयन Weak solution
महाद्रोणी Barrel
महा-बीजाणु Megaspore ७८
महा-बीजाणु पर्ण Mega-sporophyll
महावाहिनी Vessel १३५
मसृण Glabrous ४९
मातृ-न्यष्टि Mother nucleus
माध्यमतः On an average
माध्यमिक Inter-calary १३२
.. Intermediate
मांसल Fleshy
मार्ग-कोशा Passage cell १५१
मालाकन्द Annulated root १६
मितव्ययिता Economy
मिथ्या पटी False septum ७५
मिलितमूलक Connate ४२
मिश्र कालिका Mixed bud २१
मिश्र व्यूह Mixed inflorescence ५९
मुक्त-पार्श्विक Free-lateral ३८
मुण्डक Capitulum ५८
मुण्डक कुल Compositae २२७
मुण्डी-कुल ,, ,,
मुद्रिकाकार Ring-shaped
मूल Root १२

मूलकाकार Fusiform १८
मूल-ग्रंथि Root-tubercle १९
मूल-निपीड़ Root pressure १६७
मूल-पत्र Radical leaf ५२
मूलबद्ध परजीवी Root parasite १९३
मूल-भ्रूण Radicle ९२
मूल-भ्रूण कंचुक Coleorhiza ११०
मूलरुह Radical
मूल-रोम Root-hair १४
मूल-संहति Root system १२
मूल-स्तम्भ Root stock २७
मूलाग्र Root apex १४
मूलाग्र-कन्द Nodulose root १८
मूलाग्र-गोप Root cap १४
मूलाग्र-गोपजन Calyptrogen १४०
मूलाग्रमेलक Reclinate ५०
मूलारोहिणी Root climber ३५
मूलोद्भव कलिका Radical bud २१
मृत्तिका Humus
मृदुक-रोमश Pubescent ४९
मेंड Ridge
मौलिक ऊति-संहति Ground tissue system १३९

य

यदृच्छ गति Autonomic movement २००
युक्त Personate ६६
युक्ता कोशा Zygote १०
युगपत्पाक Homogamy ८९
युग्मवेश्म Cremocarp ९८
युग्मैकगुण Homozygous २६१
युग्मोभयगुण Heterozygous २६१

युज-तनुभित्तिक Conjunctive tissue १४२
युताधः पत्रावलि Involucre ६०
युताधः फल Cypsela ९६
युतोत्फल Achene ९६
युतोत्फल-संहत Etaerio of achenes १००
यूथिका-कुल Oleaceae २३०
योजी Connective ७०
यौनबीजक Viviparous ११२

र

रक्षक कोशा Guard cell १५७
रंगावलि Spectrum
रचनाकारिकी (य) Morphology (gical) ६
रचनात्मक योजना Mechanism
रचना-भिन्नन Differentiation of structure
रन्ध्र-स्फुटन Porous dehiscence ९५
रबर-पिधान Rubber cork
रबर-स्तार Rubber sheet १६८
रम्भ-जन Plerome १३९
रम्भवेष्ट Pericycle १४१
रम्भाकार Cylindrical २२
रश्मिमाला Pencil of rays
रस-काष्ठ (1) Alburnum १४१
(2) Sap wood
रस-कोच Plasmolysis १६५
रसधानी Vacuole ११७
रस-स्रावी Glandular tissue १३८
रसाप्लाव Bleeding १७२
रसायनिक Chemical
रसारोह Ascent of sap १७३

रहन-सहन Habit
राजिका-कुल Cruciferae २१५
रासाय-प्रचलन Chemo-taxis २०१
रासायनिक संश्लेषण Chemo-synthesis १६२
रासायावर्तना Chemo-tropic movement २०९
रुण्डित Truncate ४४
रूक्ष Rough
रूपान्तर Modification
रेखा-पत्र Linear leaf ४७
रोम-कण्टक Pappus ६६
रोमश Hairy २३
,, Mucronate ४४
रोम-स्तर Piliferous layer १५०
रोहि-द्वार Germ pore ९०

ल

लक्षण Characteristic
लगुड़ि Lignin १२३
लगुड़ि-व्यापन Lignification १२४
लग्नपृष्ठक Versatile ७०
लग्नमध्यग Axile ७६
लघुवाहिनी Trachied १३५
लट्वाकार Ovate ४७
लम्बाग्र Acuminate apex ४४
लम्बानुग Longitudinal ९१
लवंग-कुल Myrtaceae २२३
लवण Salt
लवणाम्बु Brine
लुप्त कड़ी Missing link २४२
लेश तत्व Trace elements
लैंगिक Sexual ८३
लोपन Disappearance

लोपनज Lysigenous १३१
लोहक Manganese

व

वक्र भाण्ड Retort
वक्रित-वपुष्क Campylotropous ७६
वट-कुल Urticaceae २४०
वडिशारोहिणी Hook-climber ३९
वत्सनाभ-कुल Ranunculaceae २१२
वद्धपृष्ठक Dorsifixed ७०
वद्धमूलक Basifixed ७०
वद्धविदारी Schizocarpic ६६
वन-विज्ञान Forestry
वंशाकार काण्ड Culm २२
वरुण-कुल Capparidaceae २१६
वरूथिका Scutellum ११०
वर्गीकरण Classification ७
वर्णि-घटन (1) Plastid
(2) Chromatophore ११५
वर्धन विधा Process of growth
वर्धनशील growing
वर्धमान Growing
वर्धिकायिक Vegetative १२
वर्ध्य Open १४३
वर्षजीवी Deciduous ९०
वर्षायु-पत्रक Deciduous ९०
वलय प्रयोग Ring experiment १६८
वलयाकार Annular १२९
वल्क Bark १४६
वल्ली Stem-twiner ३९
वहिः प्रस Ectoplasm ११८
वहिः प्रसारण Outward diffusion १७१
वहिः रेखा Outline
वहिः स्तर Exo-dermis १९१

वहिः स्फुट Extrorse ७३
वहिः स्रवण Excretion १३८
वहिः स्रुत Excreted
वहिरारम्भ Exarch १९७
वहिरास्रुति Exosmosis १६५
वहिरुद्भेदन Budding १३०
वहिर्गत Exerted ७२
वहिर्घाविक Offset २४
वहिर्धावी Runner २३
वहिर्भित्ति Epicarp ६४
वहिर्मुखधावी Sucker २६
वहिर्वाह्यक Exodermis १९५
वहु-कोशा Multi-cellular
वहु-गह्वर Multi-locular ७९
वहु-गुण Polyploid २६४
वहुतत्कोशा Compound samara ९८
वहु-दल Multi-foliate ६६
वहु-न्यष्टि कोशा Caenocyte १३०
वहु-पुष्पज Composite ६९
वहु-भुजाकार Polygonal
वहु-भ्रूणता Poly-embryony ६३
वहु वध्र्यन्त Cymose ३०
वहु-वर्षायु Perennial
-वहु वर्षायु क्षुप Herbaceous perennial ३५
वहु-विभक्त Decompound ४१
वहु-शाखी Multi-parous ३०
वहु-सौत्रक Poly-adelphous ७१
वहु-स्त्रीकेशरक Multi-carpellary ७४
वाण-पत्र Sagitate leaf ४८
वात-जीव Aerobe १८८
वातपरागित Anemophilous ६४
वातलम्बी मूल Epiphytic root १४

वाति Gas
वातिय विनिमय Gaseous exchange
वामावर्तिनी Sinistrorse ३५
वायव्य Aerial
वायव्य विनिमय Gaseous exchange
वायु-प्रवाह Air-current
वायुमण्डलिक Atmospheric
वार्षिक चक्र Annual ring १४४
वाष्प Vapour
वासक-कुल Acanthaceae १३६
वाहिनी ऊति Vascular tissue
वाहिनीयुत Vascular
वाह्यक Cortex १४०
वाह्यकजन Periblem १३९
वाह्य कोश Calyx ६५
वाह्य चोल Exine ९०
वाह्यजात Exogenous १३
वाह्यतम Outermost
वाह्य त्वक् Testa १०७
वाह्य दल Sepal ६५
वाह्यदलायित Sepaloid ६२
वाह्य नाल Calyx tube ६६
वाह्य प्रसरी (1) Aril ९३
(2) Arillus
वाह्य वल्क Periderm १४६
वाह्य वृद्धि Outgrowth
वाह्यावरण Epiblema १२१
विकर्ण Diagonal ८१
विकास Development
विकिरण Dispersal १०१
विक्षार-चूर्णक Soda lime
विघटन To disorganise
विच्छेद Lobe
विजलीयन Dehydrolysis १८५
विजलीयनेद Dehydrolysing enzyme १८५
विजातीयायुतसिद्धि Adhesion ७१
विततकोश Samara ९६
विद्युत्-मोच Electric discharge
विन्दुकित Dotted
विपाटन Dissociation
विपाटनज Schizogenous १३२
विभक्तकेशर Polyandrous ७१
विभक्तदल Polypetalous ६७
विभक्तांगक Polysepalous ६६
विभूयन De-nitrification १८१
विभेदक Distinguishing
विभेदन Variation
विमन्दन प्रभाव Retarding effect
विरंजित Decolourised
विलम्बित Delayed १९८
विलयन Solution
विलायक Solvent
विलेय Solute
विवन्धन Decomposition १८१
विशालन-शक्ति Magnifying power
वि'शष्ट तल Pulvinus ३७
विशिष्टोत्पत्ति-वाद Theory of Especial Creation २४६
विश्राम काल Resting period १०६
विश्लेषण Analysis
विषम-केशरता Hetero-styly ८८
विषमच्छेद Asymmetrical ८०
विषमभागांग Hetero-merous ८०
विषम-युग्म Didynamous ७२
विषमांग Heterogeneous

विषुवत् समतल Equatorial Plane
विस्फोटक Explosive
विस्तार्यता Extensibility
वीणा-वत् Lyrate ४८
वृक्ष Tree ३३
वृक्षक Small tree ३३
वृक्षरुह Epiphyte १६५
वृद्धि-सहाय Auxin १९९
वृन्त-गोलायत Peltate ४०
वृन्त-पत्रक Bracteate ६४
वृन्तमध्यग Inter-petiolar ३६
वृन्तयु Hilum ७७
वृन्तलग्न Petiolar ३९
वृश्चिक-कुल Urticaceae २४१
वेत्राणु Bacteria
वेध्य Permeable
वैकल्पिक गुण Alternative character २६१
वैजयन्ती-उपकुल Cannaceae २४३
वैशिष्ट्य Character
व्यस्त-छत्राकर Salver-shaped ६८
व्यापार Physiological function
व्यापारिकीय एकक Physiological unit
व्यापारिकीय महत्व Physiological Significance
व्यूहाक्ष (1) Inflorescence-axis; (2) Rachis ६१
व्यूहासन Receptacle ६१
शंकु-फल Strobilus १००
शंक्वाकार Conical
शयन-गति (1) Sleep movement २०२ (2) Nyctinastic movement
शलभ Moth
शल्क-सम Scaly ६५
शल्की कलिका Scaly bud २१
शल्की वृन्तपत्रक Pale २४५
शाक Herb ३३
शाकीय Herbaceous
शाखाधः पत्रावलि Involucre ६५
शाखोद्भव Branching २१
शाद Chlorophyll ११९
शाद 'अ' Chlorophyll A ११६
शाद 'ब' Chlorophyll B ११६
शादि-घटन Chloroplast ११६
शादि-स्तम्भ-कोशा Palisade cell १५६
शारीर Anatomy ६
शिखि-फल Plumed fruit १०२
शिम्बि (1) Legume (2) Pod ८७
शिम्बि-कुल Leguminosae २१९
शिशु-उद्भिज्ज Seedling
शीतोष्ण कटिबन्ध Temperate zone
शृंग Terminal bud २०
शुण्ड Proboscis
शुजर So2
शुल्वारि-द्वि- जारेय Sulphur-di-Oxide
शुष्क फल Dry fruit ६६
शुष्क भार Dry weight
शुष्कोद्भिज Xerophyte
शोषण Absorption
शोषणशील भाग Root-hair region १४
श्यान-मिश्र Freezing mixture २०९
श्रेणी Series ७०
श्लिष्टवृक्क Adnate ७०
श्लिष्टसूत्रक Adelphous ७१

सान्द्र Solid
सान्द्र-पत्रक Solid bulb २९
सापेक्ष Relative
सापेक्षता Correlation
सामान्य-दन्तुर Dentate ४५
सामान्य-स्फोटी Capsule ६७
साम्यावस्था Equilibrium
सार्वदेशिक वृद्धि Uniform growth
सावर्णकोशम Epiphyllous ७२
सिक्थ Wax
सित-घटन Leucoplast ११६
सिद्ध Manufactured
सिद्धान्त (i) Principle (ii) Theory
सीमास्थापक कारक Limiting factor १५६
सुखत्रोट्य Easily breakable
सुप्तावस्था Dormancy
सुषव Alcohol
सूचीवत् Acicular ४७
सूची-स्फट Raphide १२१
सूत्रारोहिणी Tendril-climber ३९
सूत्रिभाजन (i) karyokinetic division १२६
(ii) Mitosis १२६
सूत्रोद्भिद् Thallophyta ८
सैकजा Silica
सैकता Silicon
सैकतिक लवण Silicate
सैद्धान्तिक Theoretical
सोपपत्र Stipulate ३८
सोपपत्रक Stipellate ३८
सौत्रिक Fibrous
स्कन्ध (1) Caudex २२
(2) Trunk
स्तम्भ Column
स्तम्भाकार-मूल Prop root १९
स्तरित Stratified
स्त्री-केशर Carpel ७३
स्त्री-केशरजाम Gynandrous ७२
स्त्री-केशरी Gynaecium ७३
स्त्री-कैशरिक पत्र Carpellary leaf
स्त्री-कोशा Female cell
स्त्री-पुष्प Female flower ६२
स्थगन Suspension
स्थलोद्भिज्ज Land plant
स्थाणु Caudex २२
स्थानान्तरण Translocation
स्थायी Persistent
स्थायी ऊति Permanent tissue
स्थितिक ऊर्जा Potential energy १३२
स्थिति-काल Duration
स्थिरीकरण Fixation
स्थूल-कोण Collenchyma १३४
स्थूलता-वर्धक Thickening
स्थौल्यवर्धन Thickening
स्नेह Fat
स्नेहीय Fatty
स्पर्शग्राही Sensitive to touch
स्पर्श-समतल Tangential plane
स्पर्श-समतलीय Tangential
स्पर्शावर्तना Hapto-tropic movement २०४
स्फट Crystal
स्फटन-जल Water of crystallization
स्फट-सिकता Sand crystal १२१

स्फट संगोल (i) Sphaeraphide १२१
(ii) Sphaero-crystal १२१
स्फटाभ Crystalloid १२२
स्फानवत् Cuneate ४८
स्फुटन Dehiscence ७३
स्फुटन-कम्पन योजना Censor mechanism १०३
स्फुटनार Dehiscent ९४
स्फोटकारक Vesicant
स्फोटना Dehiscence ९४
स्फोटी Dehiscent ९४
स्रुव-पर्ण Spathulate ४७
स्वयं-परागण Self-pollination ८३
स्वयं-परागित Self-pollinated
स्वयं-वन्ध्यता Self-sterility ८७
स्वावलम्बी काण्ड Erect stem ३३
स्वास्थ्यपूर्ण Healthy
संकर ऊति Complex tissue १३३
संकरज Hybrid २६१
संकेन्द्र Concentric
संकेन्द्रण Concentration
संकोचिता Contractility
संक्रामण Transference
संचेत्र Prism
संख्या-ह्रासन Reduction in number
संग्रस्थित (फल) Composite ९५
संग्रथित Interpolated
संघटक Constituent
संघनन Concentration
संचय Storage
संचय-कोशा Collecting cell १९७
संचिति Reserve
संचोलभित्ति Caryopsis ९६

संतत घटक Continuous phase
संतति-न्यष्टि Daughter nucleus
संतुलित Balanced
संधि (1) Node २०
(2) Suture ७४
संधिग Sutural ९५
संपरीक्षण-प्रमाण Experimental evidence
संपरीक्ष्य To be experimented upon
समिति Symmetry ७६
संमितीय Symmetrical ७६
संयुक्त Conjoint १४३
संयुक्त ऊति Complex tissue १३३
संयुक्त दल Gamophyllous ६२
संयुक्त-दल Gamopetalaous २११
संयुग्मन Conjugation १३०
संयुत-दल Gamosepalous ६६
संयुत-दल Gamopetalous ६७
संयुत चालनी-पट्ट Compound (sieve) plate १३७
संयुत व्यूह Compound inflorescence ५९
संयुत-सपक्ष Compound samara ९८
संयुतांगक Syncarpous ७४
संयुतांगक Gamosepalous ६६
संयुतोत्पत्ति Adnation
संरक्षण Protection
संलाग Cohesion ७१
संलाग-वाद Cohesion theory १७४
संवद्धता Linkage २६७
संवादि भाग Homologous part
संवाहन Conduction
संवृत पुष्प Cleistogamous flower ८९

पुस्तक में आये हुये उद्भिदों के अंग्रेजी अथवा वैज्ञानिक नाम

अकरकरा Anacyclus Pyrethrum
अगस्त Sesbania grandiflora
अगियासन Striga sp.
अग्निमंथ Premna latifo'ia
अगेली Anemone sp.
अजमोद Carum ajmoda
अजवाईन Carum copticum
अडूसा Adhatoda Vasica
अतसी Flax
अतिबला Abutilon indicum
अतिविषा Aconitum heterophyllum
अतीस ,, ,,
अतीस-कुल Ranunculaceae
अदरक Ginger, Zingiber officinale
अनन्ता (दूर्वा) Cynodon Dactylon
अनानास Pine apple
अनार Punica granatum
अन्त्रमूल Tylophoraa sthmatica
अपराजिता Clitoria ternatea, Mussel-shellC reeper
अपामार्ग Achyranthes aspera
अफीम Opium
अमरवेल Dodder, Cuscuta reflexa
अमरूद Guava
अमलतास Cassia fistula, Indian laburnum
अमृतस्रवा Vitis latifolia
अम्लपर्णी Vitis trifolia
अम्लिका Tamarind
अम्बुज Limnophile gratioloides
अयापान Eupatorium Ayapana
अरहर Cajanus indicus, Pigeon-pea
अरण्यजीरक Vernonia anthelmintica
अरारूट Arrow root
अरिष्टक-कुल Sapindaceae
अरुई Colocasia ant'quorum
अर्क Calotropis gigantia and C. Procera
अर्कपुष्पी (?) Holostemma Rheedianum
अर्जक (?) Orthosiphon pallidus
अशोक Saracai ndica
अशोक (नकली) Polyalthia longifolia
अश्वगंधा Withania somnifera
असगंध=अश्वगंधा
अस्थिसंहार Vitis quadrangularis
अहिफेन-कुल Papaveraceae
अंकोट Alangium Lemarckii
अंगूर Vitis vinifera, Grape Vine
अंजीर Fig, Ficus Carica

आ

आकाश निम्ब Millingtonia hortensi
आखरोट Walnut, juglans regias

आड़ू Prunus persica
आदित्यभक्ता (?) = हुरहुर
आपद्रुम-कुल Rosaceae
आम Mango. Mangiferai ndica
आमलकी Phyllanthus Emblica
आमाहल्दी Curcuma Amada
आम्रहरिद्रा ,, ,,
आम्रातक Spondias mangifera, Hog-plum
आरुक Prunus sp.
आतंगल Xanthium Strumarium
आलुक = अरुई
आलू Potato, Solanum tuberosum
आलूबालू Prunus Cerasus, cherry
आलू बोखारा Prunus Communis
आवर्तकी Helicteres Isora
आस्फोता Echites dichotoma
आँवला = आमलकी

इ

इन्द्रायण Colocynth. Citrullus Colocynthis
इपीकाक Ipecacuanha
इमली = अम्लिका
इरिमेद Acacia sp.
इलायची Cardamom
इसबगोल Plantago sp.
इक्षु Saccharum Officinarum
इङ्गुदी Balanites Roxburghii
इन्द्रायण (काँटा) Ecbellium elaterium

ई

ईख = इक्षु
ईश्वरमूल Aristolochia indica

उ

उटंगन Acanthodium hirtum
उड़द Phaseolus mungo
उतरन Daemia extensa
उत्कटंक Echinops echinatus, Globet histle
उत्तमारणी = उतरन
उदसलीब Paeonia Emodi
उदुम्बर Ficus glomerata
उद्यान कार्पास Gossypium arboreum
उद्यान मटर Garden pea
उलटकम्बल Abroma augusta, Devil's Cotton
उशीर Vetiveria Z zanioides

ऊ

ऊँटकटेरा = उत्कण्टक

ए

एकबीर Bridelia montana
एरण्ड Ricinus communis
एलवालुक (?) Prunus cerasus
ककोड़ा Momordica dioica
कचूर Curcuma zedoaria
कटकरंज Caesalpinia Bonducella
कटहल Artocarpus integrifolia jack fruit tree
कटुका Picrorrhiza kurroa
कटेरी Solanum xanthocarpum
कद्दू Lagenaria vu'garis
कदम्ब Anthocephalus indicus
कदली Musa sapientum, Plantain
कनेर Nerium oleander, Oleander
कण्टकारी = कटेरी

कपास Cotton
कपिकच्छु Mucuna Prurita, cowage
कपित्थ Feronia elephantum, Elephant apple
कपूर कचरी Hedychium spicatum
कबर Capparis spinosa, Caper-plant
कबीलावृक्ष Mallotus philippinensis
कम्पिल्लक वृक्ष ,, ,,
कमल Nelumbium speciosum
करजीरी = अरण्यजीरक
करमर्द Carissa carandas
करौंदा ,, ,,
करीर Capparis aphylla
करेमू Ipomaea acquatica
करेरुआ Capparis horrida
करेला Momordica charantia
कलम्बक Indian Calumba, Cocciniumf enestratum
कलम्बा (विदेशी) Calumba
कलम्बी = करेमू
कलिहारी Gloriosa superba
कलौंजी Nigella sativa
कसेरू Scirpus kysoor
कसौंदी Cassia occidentalis
कंगुनी Setaria italica
कंघी = अतिबला
कंटकारी = कटेरी छोटी
कंशीर Commelina appendiculata
कर्कटी Cucumis melo
काकतुण्डी Asclepias curassavica
काकनज Physalis sp.
काकमाची Solanum indicum
काकमारी Anamirt acocculus
काकोदुम्बर Ficus sp.
काचू – अरुई
काण्डीर (?) Ranunculus sceleratus
काफी Coffee
कामपुष्प Passiflora sp, Passion flower
काम लता Quamoclit vulgaris
कामिनी Murraya exotica
कायपुटी Melaleuca leucadendron
कालमेघ Andrographis paniculata
कालादाना Ipomaea hederacea
काली कसौंदी Cassia Sophera
काश Saccharum spontaneum
काशीफल Cucurbita maxima
कासनी Cichorium sp.
कांचनार Bauhinia variegata
कांटा इन्द्रायण Ecbellium elaterium
किशिमिश कावली Viscum album, The Mistletoe
कीड़ामारी Aristolochia bracteata
कुकरौंधा Blumea sp.
कुचिला Strychnos Nux-vomica
कुटकी=कटुका
कुटज Holarrhena antidysenterica
कुटज (भेद) Wrightia tomentosa
कुन्द Jasminum sp.
कुप्पी Acalypha indica
कुमुदिनी Nymphaea lotus
कुम्भी Careya arborea

कुलत्थ Dolichos biflorus. Horse gram
कुलंजन दोनों Alpinia officinarum, A. Galanga
कुश Eragrostis Cynosuroides
कुसुम Carthamus tinctorius
कुष्ठ Saussurea lappa
कूर्चति Penicillium
कूष्माण्ड-कुल Cucurbitaceae
कृष्ण जीरक Carum Carvi
कृष्णबीज = कालादाना
कृष्ण सारिवा (?) Buchnania latifolia
केमुक Costus speciosus
केला = कदली
केवाँच = कपिकच्छ
केवड़ा Pandaus odoratissimus
केशर Crocus sativus, saffron
कोकिलाक्ष Asteracantha longifolia
कोदो Paspalum serobiculatum
कोविदार Bauhinia racemosa
कोलकन्द (वनप्याज) Urginea indica
कोषातकी Luffa acutangula
क्खिमा Aconitum palmatus
क्रोकस Crocus
क्रोटन Croton
क्वसिया काष्ठ Quassia wood

क्ष

क्षीर चम्पक Plumeria acutifolia
क्षीर विदारी Ipomaea digitata
क्षुद्र अग्निमन्थ Clerodendron Phlomidis
क्षेत्र पर्पट Fumaria parviflora

ख

खर्जूर Phaenix sp.
खजूर ,, ,,
खतमी Althaea sp.
खदिर Acacia Catechu
खरबूजा Cucumis melo
खस = उशीर
खाकसीर Sisymbrium irio
खीरा Cucumis sativus
खुरासानी अजवाइन Hyoscyamus nigor
खून खराबा Calamus draco
खेखसा = ककोड़ा

ग

गजपिप्पली Scindapsus officinalis
गनियारी (अग्निमन्थ) Premna latifolia
गन्धतृण The Lemon grass
गन्धप्रसारिणी Paederia foetida
गन्धराज Gardenia florida and G. latifolia
गन्ना = इक्षु
गम्भारी Gmelina arborea
गर्जन Dipterocarpus alatus
गर्जर Daucus Carota, The Carrot
गहुला Prunus Mahalib,
गाजर = गर्जर
गुड़पत्री Scoparia dulcis

गुड़मार Gymnema sylvestre
गुडूची Tinospora cordifolia
गुंजा Abrus precatorius
गुमा Leucas sp.
गुलदाउदी Chrysanthemum
गुलाचीन Plumeria acutifolia
गुलछड़ी Polianthes tuberosa
गुलाब Rosa sp., The Rose
गुलाबाँस Mirabilis jalapa
गूलर = उदुम्बर
गेंदा Tagetes patula
गेहूँ Triticum vulgare, wheat
गोधूम " " "
गोभी तीनों Brassica oleracea and varieties
गोरख इमली Adansonia digitata
गोरख ककड़ी Kigelia pinnata
गोरख गाँजा Aerua lanata
गोखुरु Tribulus terrestris

घ

घावपत्ता Argyreia speciosa
घृतकुमारी Aloe sp.
घीकुवाँर " "

च

चन्दन Santalum album, Sandal wood
चनसुर Lepidium sativum, The common cress
चन्द्रशूर Lepidium sativum, The common cress
चना Cicer arietinum, The gram
चमेली Jasminum sp.
चम्पक-कुल Magnoliaceae
चम्पा Michelia Champaca
चक्रमर्द Cassia obtusifolia
चकवड़ = चक्रमर्द
चाक्षुस Cassia absus
चांगेरी Oxalis corniculata, The wood sorrel
चाँदनी Tabernaemontana Coronaria
चामुस Arisaema sp.
चित्रक Plantago zeylanica
चिरबिल्व Holoptleia integrifolia
चिचिन्हा Trichosanthes anguina
चीड़ Pinus longifolia
चुक्र Rumex vesicarius
चुक्र-कुल Polygonaceae
चेस्टनट The chestnut
चोवचीनी प्रजाति Smilax
चोरक Angelica glauca
चौपतिया Marsilia quadrifida
चौलाई Amaranthus sp.
चौहार Artemisia maritima

छ

छत्रक The Mushroom
छत्रा " "
छागल बाती Naravelia Zeylanica
छिक्किका Centipeda orbicularis
छोटी इलायची Elettaria Cardamomum
छोटी दुग्धिका Euphorbia microphylla

ज

जंगली अरुई Colocasia sp

जंगली अखरोट Aleurites triloba
,, उशवा Smilax macrophylla
,, काली मिर्च Toddalia aculeata
,, प्याज = कोलकन्द
जद्वार Delphinium denudatum
जद्वार प्रजाति Delphinium
जपा Hibiscus Rosa-sinensis
जमाल गोटा Croton tiglium
जम्बू Rauwolfia serpentina
जयपाल = जमालगोटा
जलकुम्भी Pistia stratiotes
जलजमनी Cocculus villosus
जलधनियाँ Ranunculus Sceleratus
जलनिम्ब Herpestis monniera
जलापा Ipomaea purga
जाति = चमेली
जामुन Eugenia jambolana
जायफल Mrystica fragrance, The nutmeg tree
जावित्री Mace
जीरक-कुल Umbelliferae
जीवक (?) Lilium sp.
जूफा Hyssopus officinalis
जूही Jasminum sp.
जौ Hordeum vulgare
ज्वार Sorghum vulgare

झ

झिंझिरीटा Triumfetta rhomboidea

ट

टमाटर Lycopersicum esculentum
टेकार (क्षुद्राग्निमन्थ) Clerodendron phlomidis
टेलिग्राफ उद्भिज्ज The Telegraph plant

ड

डीकामाली Gardenia gummifera
ड्रसीना Dracaena

त

तगर Valeriana sp.
तम्बाखू Nicotiana tabacum
तरबूज़ Citrullus vulgaris, The Water melon
ताड़ Borassus flabellifera
ताल = ताड़ ,, ,,
तालमखाना = कोकिलाक्ष
तिधारा सेहुँड़ Euphorbia antiquorum
तीखुर Curcuma angustifolia
तुलसी Ocimum sanctum
तुवरी Eruca sativa
तूद (त) Morus sp.
तून Cedrela toona
तृणबदर Strawberry
तेजपात Cinnamomum tamala
तेजबल Xanthoxylum alatum
तोद्री Lepidium Iberis
त्रपुस Cucumis sativa
त्रायमाणा Gentiana Kurrooa
त्रिवृत् Ipomaea Turpethum

थ

थूहर Euphorbia sp.

द

दन्ती Paliospermum montanum
दमनक Artemisia vulgaris
दरयायी नारियल Lodoicea sp.
दर्भ Eragrostis cynosuroides
दहन Toddalia aculeata
दानकुनी Canscora decussata

दारूहरिद्रा Berberis sp.
दालचीनी Cinnamomum zeylanica
दुग्धफेनी Taraxacum oficinale
दुपतिया Zornia diphylla
दुपहरिया Pentapetes phaenicea
दुरण्टा Duranta Plumeiri
दूर्वा – अनन्ता
देवकांडर = काण्डीर – जलधनियाँ
देवदारू Cedrus deodara
देवदाली Luffa echinata
देशी सनाय Cassia angustifolia
,, सार्सापरीला Smilax macrophylla
द्राक्षा-जाति Vitis
द्रोणपुष्पी = गुमा

ध

धत्तूर Datura sp.
धतूरा ,, ,,
धनियाँ Coriandrum sativum
धमगजरा Fumaria parviflora
धवलबरुआ Rauwolfia serpentina
धातकी Woodfordia fruticosa
धान Oryza sativa
धान्यरूक् Ergot

न

नकछिकनी = छिक्किका
नकली अशोक Polyalthia longifolia
,, कृष्ण सारिवा Ichnocarpus frutescens
नागकेशर Mesua ferrea
नागफनी Opuntia Dillenii
नागदन्ती (?) Croton oblongifolius
नागदमनी (?) Pupalia lappacea
नागरमोथा Cyperus sp.
नाड़ीहिंगु Gardenia gummifera
नागबला प्रतिनिधि Sida veronicaefolia
नारियल Cocos nucifera, The Cocoa-nut
नाशपाती Pyrus Communis, The pear
निर्गुण्डी Vitex negundo
निर्विसा (जद्वार) Delphinium denudatum
निशोथ = त्रिवृत
नीबू Citrus medica
नीबू-प्रजाति Citrus
नीम Azadirachta indica
नील Indigofera tinctoria. The Indigo
नीलोफर Nymphaea stellata
नेनुआ Luffa aegyptiaca
नेवारी Jasminum sp.
नैपाली ,, ,,

प

पटुआ Hibiscus cannabinus
पटोल Trichosanthes dioica
पतंग Caesalpinia sappan
पत्ता अजवाईन Coleus aromaticus
पथरचूर Bryophyllum calycinum
पद्मकाष्ठ Prunus Puddum
पनस = कटहल
पनसीतिया Euphorbia pulcherrima, The poinsettia
पपीता Carica papaya

पर्पट Fumaria parviflora
पर्पट (वंग) Oldenlandia corymbosa
पर्पट प्रतिनिधि Justicia sp.
परवल = पटोल
पलाण्डु Allium cepa, The onion
पलाश Butea frondosa
पाट Corchorus sp.
पाटला Stereospermum suaveolens
पाठा Cissampelos pareira
पाढल = पाटला
पातगोभी The cabbage
पातालगरूड़ी = जलजमनी
पान Piper betel
पानड़ी Pogostemon pachouli
पारस पीपल Thespesia populnea
पारसीक यवानी Hyocyamus niger
पारिजाता Nyctanthes arbor-tristis
पारिभद्र Erythrina indica
पारीश = पारसपीपल
पालक Spinacia oleracea, The Spinach
पालक जूही Rhinocanthus communis
पालंक मूल Beta vulgaris
पाषाण भेद Saxifraga ligulata
पिठवन Uraria picta
पिडार Randia uliginosa
पित्तपापड़ा Fumaria parviflora
पिप्पली Piper longum
पीतकरवीर Thevetia neriifolia
पीपल Ficus religiosa
पुत्रजीव Putranjiva Roxburghii
पुदीना Mentha sp.
पुनर्नवा Boerhaavia diffusa
पुन्नाग Calophyllum inophyllum
पुष्करमूल Inula sp.
पूग Areca Catechu, The Betel-nut palm
पृश्निपर्णी Uraria picta
पेपरमिण्ट Mentha piperita, The mint
पोस्त Papaver somniferum, The poppy
प्याज = पलाण्डु
प्रतिविषा Aconitum palmatum
प्राचीनामलक Flacourtia cataphracta
प्रियंगु-प्रतिनिधि Aglaia Roxburghiana
प्लक्ष Ficus infectoria

फ

फंजी Rivea ornata
फूट Cucumis momordica
फूल प्रियंगु Callicarpa macrophylla

ब

बकुल Mimusops Elengi
बज्रदन्ती Potentilla sp.
बड़ा अग्निमंथ = अग्निमन्थ
बड़ी इलायची Amomum aromaticus
बड़ी चांगेरी Oxalis acetosella
बड़ी जामुन Eugenia Jambos
बड़ी दुग्धिका Euphorbia hirta

बन्धूक = दुपहरिया
बनतम्वाखू Verbascum thapsus
बननिम्बू Glycosmis pentaphylla
बनमाष Teramnus labialis
बनमूंग Phaseolus tilobus
बर्बरी Ocimum basilicum
बरगद Ficus benghalensis
बला Sida rhombifolia
बाजरा Pennisetum typhoideum
बादाम Prunus amygdalus, The Almond
बादियान Pimpinella Anisum, The Anise
बाबुना Matricaria Chamomilla
बासा = अडूसा
बाँस Dendrocalamus strictum, The Bamboo
बिजयसार Pterocarpus marsupium
बिदेशी पर्पट Fumaria officinalis
बिम्बी Cephalandra indica
बिल्व Aegle Mormelos
बुरांस Rhododendron
बृहत्करंज Pongamia glabra
बेर Zizyphus jujuba
बेला Jasminum Sambac
बेंत Calamus sp.
बेंगन Solanum melongena
बेजन्ती Canna indica
ब्रीही = धान

भ

भंग Cannabis sativa
भटेस Clerodendron infortunatum
भड़भाड़ = स्वर्णक्षीरी
भव्य Dillenia indica
भल्लातक Semecarpus anacardium
भार्गी प्रतिनिधि Clerodendron serratum
भारद्वाज-चंचु The Larkspur
भिंडी Hibiscus esculentum
भीतचट्टो Lindenbergia urticaefolia
भूतकेशी Corydalis sp.
भूमि-आँवला Phyllanthus urinaria
,, कूष्माण्ड Pueraria tuberosa
,, बला Sida veronicaefolia
भूर्ज-कुल Cupuliflorae
भृंगराज Eclipta alba
भोजपत्र Betula ebulis

म

मकई Zea Mays, The Maize
मकोय Solanum nigrum
मक्का Zea Mays
मगरैल = कलौंजी Nigella sativa
मजीठ Rubia cordifolia
मटर Pisum sativum
मण्डूकपर्णी Hydrocotyle asiatica
मत्स्याक्षी (?) Alternanthera sessilis
मदार = अर्क Calotropis sp.
मधुमालती Aganosma caryophyllata
मधुयष्टी Glycyrrhiza glabra, The liquorice
मधुरसा मूर्वा (?) Maerua arenaria
ममीरा Coptis teeta
ममीरी Thalictrum foliolosum
मरूआबेल Marsdenia tenacissima

मरूवक (?) Pogostemon parviflorus
मरेठी Spilanthes acmella
मर्यादवेल Ipomaea biloba
मल्लिका = बेला
मसूर Lens esculenta, The lentil
महानिम्ब Melia azedarach
महाबला Sida sp.
माधवीलता Hiptage madablota
मानकन्द Alocacia indica
मारिष Amarantus sp.
मालझन Bauhinia Vahlii
मालती Aganosma caryophyllata
माष Phaseolus mungo
माषपर्णी = वनमाष Teramnus labialis
मिर्च Piper nigrum, The black pepper
मीठी नीम Murraya Koenighii
मुचकुन्द Pterospermum acerifolium
मुण्डी Sphaeranthus indicus
मुरहरी Maerua arenaria
मुलीन Verbascum Thapsus
मुलेठी = मधुयष्टी
मुसब्बर Aloe
मुस्तक Cyperus rotundus
मूंगफली Arachis hypogea
मूर्वा Marsdenia tenacissima
मूर्वा (वंग) Sanseviera zeylanica
मूर्वा-प्रतिनिधि = मोरवेल और मुरहरी
मूली Raphanus sativus, The Radish
मूषाकर्णी Ipamaea reniformis
मेथी Trigonella foenum-graecum
मेदा Polygonatum sp.
मैनफल Randia dumetorum
मोरवेल Clematis gouriana

य

यक्का Yucca
यवानी Carum copticum
यवासा Alhagi camelorum
यूकालिप्टस् Eucalyptus
यूथिका Jasminum sp.

र

रक्तचन्दन Pterocarpus santalinus
रक्तशाल्मली Bombax malabaricum
रतनपुरुष Ionidium suffruticosum
रसोन Allium sativum, The garlic
राई = राजिका Brassica sp.
रागी Eleusine coracana
राज कोषातकी Luffa aegyptiaca
राजिका Brassica sp.
रामबांस Agave sp.
रास्ना Pluchea lanceolata
रास्ना (वंग) Vanda Roxburghii
रास्ना-कुल Orchidaceae
रुद्रवन्ती Cressa cretica
रेणुका (?) Vitex sp.
रेवन्द Rheum emodi
रोहितक Tecoma undulata
रोहिष Cymbopogon Martini, The Rusa-oil grass
रोहेड़ा = रोहितक

ल

लकुच Artocarpus lakoocha
लज्जावन्ती Mimosa pudica, The Sensitive plant
लताकरंज Caesalpinia Bonducella
लताकस्तूरी Hibiscus abelmoschus
लताखदिर Uncaria gambier
लतागुलाब Rosa moschata
लतापलाश Butea superba
लतापुटकी Cardiospermum helicacabum
लवंग Caryophyllus aromaticus, The Clove
लवली Phyllanthus distichous
लहसुन = रसोन
लाखन Dregia volubilis
लामज्जक (?) Cymbopogon jwarancusa
लालटेना Lantana camara
लालपटवा Hibiscus Sabdariffa, The Rozelle
लालपत्ता = पनसीतिया
लालपोस्त Red poppy
लालमिर्च Capsicum sp
लीची Nephelium Litchi
लुकाट Eriobotrya japonica, The loquat
लोणी Portulaca sp.
लोबिया Vigna catiang

व

वंगीय रास्ना Vanda Roxburghii
वच Acorus calamus
वट Ficus benghalensis
वड़ी कटेरी Solanum indicum
वड़ी मकोय Physalis sp.
वत्सनाभ Aconitum ferox
„ प्रजाति Aconitum
वन अजवाइन Thymus serphyllum
वनगोभी Launaea sp
वन पलाण्डु = कोलकन्द
वनफशा Viola odorata
वनहरिद्रा Curcuma sp.
वंदाल Luffa echinata
ववूल Acacia arabica
वव्वूल-प्रजाति Acacia
वरुण Crataeva religiosa
वल्ली दारुहरिद्रा Coccinium fenestratum
वाकुची Psoralea corylifolia
वाँदा = वंदाक
वाराही Dioscorea bulbifera
वाराही कन्द „ „
वाराही-प्रजाति Dioscorea
वास्तूक Chenopodium album
विच्छू बूटी Girardinia heterophylla
विछुआ Martinia diandra
विडालपदी Orobanche
विदारी (?) Pueraria tuberosa
विधारा (?) Ipomaea sp.
विधारा-प्रतिनिधि Argyreia speciosa
विलायती मेहँदी Myrtus communis, The Myrtle
विष्णुकन्द Crinum defixum
वीरतरू Dichrostachys cinerea
वृद्धदारुक = विधारा

वृश्चिक = विच्छूबूटी
वृश्चिकाली (?) = उत्तरन
बृहती = बड़ी कटेरी
वेंत Calamus sp The Cane palm
वेत्र Calamus sp., The Cane palm
बेल = विल्व
वेलन्तर = वीरतरु
वेलाडोना Atropa Belladonna
वैजयन्ती Canna indica
ब्रह्मदण्डी Volutarella divaricata
ब्रह्मयष्टी Clerodendron siphonanthus
ब्राह्मी Hydrocotyle asiatica
ब्राह्मी (वंग) Herpestis moniera
व्याघ्रनखी Capparis horrida

श

शकर कन्द Ipomaea batatas
शकाकुल = मेदा Polygonatum ps.
शंखपुष्पी Convolvulus pluricaulis
शटी Hedychium spicatum
शण Croto'aria juncea
शणपुष्पी Crotolaria sp
शतावरी Asparagus racemosus
शमी Prosopis spicigera
शर Saccharum munja
शरपुंखा Tephrosia purpurea
शहतरा Fumaria officinalis
शहतूत Morus alba
शाक Tectona grandis,The teak
शाखोट Streblus asper
शाल Shorea robusta
शालपर्णी Desmodium gangeticum
शालि Oryza sativa
शाल्मली Bombax malabaricum
शिकाकाई Acacia concinna
शिग्रु Moringa pterygosperma
शितिवार Celosia argentea
शिरीष Albizzia lebbek
शिवलिंगी Bryonopsis laciniosa
शीशम Dalbergia sissoo
शुंठी Zingiber officinale
शृगालेक्षु Saccharum sp.
शृंगाटक Trapa bispinosa
शृंगीविष Aconitum chasmanthum
शेफालिका Nyctanthes arbor-tristis
श्योनाक Oroxylum indicum
श्वेतकरवीर Nerium odorum
श्वेत चन्दन Santalum album
श्वेत जीरक Cuminum cyminum
श्वेत बला Sida spinosa
श्वेत वच (?) Paris polyphylla
श्वेत शाल्मली (कूट) Eriodendron anfractuosum

स

सकरकन्द = शकरकन्द
सन = शण
सनाय Cassia acutifolia, Senna
सनाय (देशी) Cassia angustifolia
संतरा Citrus aurantium
सप्तला-प्रतिनिधि = शिकाकाई
सप्तपर्ण Alstonia scholaris
सफेद मुसली (?) Chlorophytum tuberosum
समुद्रफल Barringtonia acutangula

समुद्रशोष = घावपत्ता
संभालू = निर्गुण्डी
सरल = चीड़
सरसों = सर्षप
सरिवन = शालपर्णी
सर्पगन्धा = धवलबरुआ
सर्पा = चामुस
सर्पाक्षी (?) Polygonum plebejum
सर्षप Brassica juncea
सलग (ज) म Brassica rapa, The Turnip
सहदेवी Vernonia cinerea
सागौन = शाक
साबुनी Saponaria vaccaria
साबूदाना वृक्ष Caryota urens
साबू वृक्ष Sago palm
सारिवा Hemidesmus indicus
सारिवा भेद Tylophora fasciculata
सार्सापरीला Smilax ornata
सालम Orchis sp.
सालमपंजा Orchis latifolia (?)
सिंघाड़ा = शृङ्गाटक
सिनकोना Cinchona sp.
सिरियारी = शितिवार
सिरिस = शिरीश
सिहोरा = शाखोट
सीताफल Anona squamosa
सुगन्धबला Pavonia odorata
सुदर्शन Crinum asiaticum
सुदाब Ruta graveolens
सुनिषण्णक = चौपतिया
सुपारी = पूग
सुरंजान Colchicum autumnale
सुषचंला (?) Malva parviflora
सूरण Amorphophallus campanulatus
सूर्यमुखी Helianthus annus, The Sunflower
सेम Dolichos lablab
सेव Pyrus Malus, The apple
सेहुँण्ड Euphorbia sp.
सैरेयक Barleria sp.
,, नील Barleria strigosa
,, पीत Barleria prionitis
,, रक्त Barleria cristata
,, श्वेत Barleria sp.
सोंचल = सुवर्चला
सोनापाठा = श्योनाक
सोमकल्प Ephedra vulgaris
सोम लता (?) Sarcostemma brevistigma
सोया Peucedanum sowa The Dill
सौंफ Foeniculum vulgare, The fennel
स्याह मुसली Curculigo orchioides
स्वर्णक्षीरी Argemone mexicana
स्वर्णपत्रा = सनाय

ह

हंसराज Adiantum sp.
हथाजोड़ी Selaginellas p.
हपुषा Juniperus.c ommunis
हरमल Peganum harmala
हरसिंगार = पारिजाता
हरितमंजरी=कुप्पी Acalypha i
हारिद्रा Curcuma longa, Tu

हरिद्रु Adina cordifolia
हरीचाय = गन्धतृण
हल्दी Curcuma longa
हस्तिशुण्डी Heliotropium indicum
हाऊबेर = हपुषा
हिंगु Ferula foetida
हिंसालू Rubus ellipticus
हिंस्रा Capparis sepiaria
हिज्जल Barringtonia acutangula
हिरन खुरी Convolvulus arvens
हिलमोचिका Enhydra fluctuans
हुरहुर श्वेत Gynandropsis pentaphylla
हुरहुर-पीला Cleome viscosa
हृत्पत्री Digitalis purpurea
हेमसागर Kalanchoe laciniata

शा
शाक
शालि

संसार,

ula

ylla

adica

rmeric